होता है जिसमे सोने के मोटे-मोटे दाने पिरोये होते हैं। स्त्रियाँ इसी मे इच्छानुसार कुछ अन्य वस्तुएँ चाकू, पैसा, बघनखा आदि पिरो देती हैं।

कठुला सम्बन्धी एक लोकप्रिय अवधी गीत इस प्रकार है—

वाह रे लालु तुम्हे कठुला के साध ॥१॥
कठुला का सोना सुरेस मंगावैं,
गढ़ावो वोहि के बाबा, पहिरावैं वोहि की आजो ॥२॥
लालु का बाबा आवैगा, हाथी चढ़ि के आवैगा,
मोहरें खूब लुटावैगा, बाजैं वोहि के घुंघरू,
खेलावे वोहि के आजो ॥३॥
कठुला तो सोहे वोहि के मइया के दरवाज,
कठुला तो सोहे वोहि के बाबू के दरवाज,
लालु का मइया आवैगा लालु का बाबू आवैगा
मोटर चढ़ि कै आवैगा, बग्घी चढ़ि के आवैगा
रुपिया खूब लुटावैगा, बाजै वोहि के घुंघरू
खिलावैं वोहि की भउजी,
खिलावैं वोहि की माया ॥४॥ (अ० लो० प० पृ० ७९-८०)।

इस गीत मे विभिन्न सम्बन्धियों के नामोल्लेख द्वारा कठुला लाने की बात कही गई है। जीजा, फूफा, नाना, मामा आदि का नाम जोड़ कर गीत को दीर्घ आकार दे दिया जाता है।

जन्म के पश्चात् कुछ अन्य महत्वपूर्ण विधियों को सम्पन्न किया जाता है, जिनमे छठी, बरही, अन्नप्राशन और छेदन मुख्य हैं।

छठी पुत्र जन्म के उपरान्त एक महत्वपूर्ण उत्सव होता है। साधारणतः जन्म के छठे दिन छठी का आयोजन रक्खा जाता है। परन्तु कहीं-कहीं पाँचवें दिन ही छठी मनाई जाती है। छठे दिन शुभ मुहूर्त न होने के कारण भी एक दिन का हेर-फेर हो जाता है।

छठी की प्रथा भोजपुरी एवं अवधी दोनों क्षेत्रों मे समान रूप से प्रचलित है। भोजपुरी प्रदेश की स्त्रियाँ इस अवसर पर मिलजुल कर गीत गाने की उत्कट कामना रखती हैं—

आवहु सखिया सहेलरि, हिलिह मिलि गावहु रे।
आजु हमरा दुलरुआ के छठिया नु रे॥
मचिया अइठलि सासु बढ़इतिन रे।
से निरखहिं सुन्नर ललना के मुखवा नु रे॥ (सगृहीत)

अवधी के क्षेत्र मे भी छठी का समारोह गीतों की सुमधुर झंकार के मध्य सम्पन्न होता है—

मोरा अवसर बीता जाय, हरदी चाहिये।
कहाना हरदी ऊपजी है, कवन रामा लादन जाय।

लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

[भोजपुरी और अवधी के संदर्भ में]

[आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-ग्रन्थ]

लेखिका

विद्या चौहान, एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी विभाग, जुहारी देवी गर्ल्स डिग्री कालेज,

कानपुर



प्रगति प्रकाशन

आगरा–३

○ प्रकाशक :
प्रगति प्रकाशन
बेंबुल बिल्डिंग
आगरा-३

दूरभाष : ६ १ ४ ६ १

○ प्रथम संस्करण
१ ९ ७ २

○ मूल्य : पैंतीस रुपये

○ मुद्रक :
श्रीकृष्ण प्रेस, आगरा-२

प्रस्तावना

बहुत दिनों से एक साध थी कि कुछ लिखूं, ऐसा कुछ जो व्यष्टि की सीमाओं को छूता हुआ समष्टि की व्यापकता को उभार सके, व्यक्ति के अन्तराल में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण प्रकृति के मनस्तत्व को प्रकाशित कर सके, विशेषता के रंगों का सहारा लेकर विश्वव्यापी सामान्य सत्य का चित्र आँक सके।

शोध-कार्य के रूप में लिखने का अवसर पाने पर मैंने अपने हृदय में संचित इस साध की अकुलाहट सुनी और उसी अकुलाहट को सार्थक अभिव्यक्ति के रूप में इस प्रस्तुत प्रबन्ध की रचना हो सकी।

विश्व-व्याप्त सत्य को सम्पूर्ण रूप से समझने के लिए अहं के घेरे को तोड़ना होता है। सत्य की व्यापकता में से ग्रहण किये गए प्रत्येक अंश के साथ आत्मसात करके, उसे अपना संवेद्य बना कर, उसके मूल्यांकन की चेष्टा की जा सकती है। इसी प्रकार व्यक्तिगत सत्य का मूल्य भी उस सामान्य धरातल पर रखकर ही निर्धारित किया जा सकता है, जहां व्यष्टि और समष्टि की सीमायें एकाकार होती हैं।

लोकजीवन में मुखरित और समय की शाश्वत गति में प्रवाहित सत्य के संख्यातीत खण्ड-चित्रों को देखकर, उन्हें स्वगत अनुभूतियों में समेट लेने की एक सहज आकांक्षा होती है। इस आकांक्षा की सफलता व्यक्ति की मानसिक शक्तियों के न्यूनाधिक्य पर निर्भर है।

प्रत्येक देश की संस्कृति का मूल उत्स वहां के लोक-जीवन में परिव्याप्त हैं। जन-जन के मन एवं आचरण में सन्निहित तत्वों से, संस्कृति का सुमन अपनी पंखुड़ियों का निर्माण करता है और सम्पूर्ण लोक को सौन्दर्यानुभूतियाँ उसमें सौरभ का संचार करती हैं। इस प्रकार प्रत्येक देश अपनी सांस्कृतिक अभिवृद्धि के लिए लोक-चेतना का मुखापेक्षी है।

भारतीय संस्कृति में भी लोक-जीवन की व्याप्ति है। जीवन में बिखरे अनंत लोकाचारों, संस्कारों एवं परम्परागत विचारों की नानारूप भेदात्मक स्थितियों के सगठित समायोजन से भारतीय संस्कृति का संघटन हुआ है। अनादिकाल से ही जब कि भाषा लिपि, शिल्प और कलाओं का कोई शास्त्रीय रूप निर्धारित नहीं हुआ था—लोकप्रांगण में प्रादुर्भूत अनन्त सौन्दर्य-संयुक्त भाव-कणों के द्वारा संस्कृति का स्वरूप संवारा जा रहा था और आज भी, जब कि मस्तिष्क के अहंकार से अभिभूत मानव पर कृत्रिम आकर्षणों का मोह छाया है, बुद्धि के विलास में तल्लीन वृत्तियों पर आडम्बरों का वितान तना है—संस्कृति की अक्षुण्ण सरिता, लोकवाणी के पथ पर सहस्रधा होकर प्रवाहित हो रही है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय

संस्कृति की आत्मा लोक-संस्कृति में निवास करती है। यही कारण है कि अपने आविर्भाव काल से लेकर अबतक भारतीय संस्कृति की सत्ता पूर्णतः सुरक्षित है जब कि यूनान, मिस्र, रोम और चीन की प्राचीन संस्कृतियां लुप्तप्राय हो चुकी हैं।

लोक-संस्कृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है—आत्म-समता। 'आत्मोपम्येन सर्वत्र' के सिद्धान्त पर अग्रसर होता हुआ लोक-संस्कृति का प्रत्येक चरण प्रकृति-व्यापिनी विविधता को एक सूत्र में बांध लेता है। विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक बिखरा हुआ सम्पूर्ण लोक-जीवन बाह्य वैविध्य और बहुरूपता से आच्छादित होते हुए भी, आन्तरिक ऐक्य और अनन्यता के आलोक से आलोकित है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की आधारशिला पर प्रबुद्ध होकर लोकहृदय की सप-स्पर्धा फलीभूत होती है। देश और काल की उपेक्षा करके लोक-साधक नैसर्गिक भाव-वृत्तियों की उपासना में अपनी आत्मा का विलय कर देता है। एकात्मानुभूति की चरम पराकाष्ठा पर पहुँच कर लोक-संस्कृति का स्वरूप अध्यात्म के उज्ज्वल प्रकाश में जगमगा उठता है। विभिन्न साम्प्रदायिक संगठनों के रूप में भी लोक-जीवन में अनुस्यूत इस आध्यात्मिक समता का ही बहुरूपी प्रमाण मिलता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आत्म-समता की भाव-भूमि पर स्थित लोक-जीवन ही विश्व की सांस्कृतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और सामाजिक प्रगति का प्रेरक तत्त्व है।

लोक-जीवन में समाविष्ट सम्पूर्ण भावात्मक एवं सृजनात्मक सामग्री विश्वास, मान्यताएँ, परम्पराएँ, प्रथाएँ और रीतियां लोक-वार्त्ता कहलाती हैं। 'लोक साहित्य' इसी 'लोकवार्त्ता' का एक अंग है। लोक-मानव की अथाह गहराइयों से निष्पन्न बहुमूल्य भाव-रत्नों की जगमगाती हुई ज्योति से लोकसाहित्य का रूपांकन हुआ है। सामान्य जनता के हर्षविषादपूर्ण क्षणों एवं सुख-दुख पूर्ण मन स्थितियों का अत्यंत स्वाभाविक निरूपण लोकसाहित्य में रहता है। लोक साहित्य के अन्तर्गत लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा, लोकनाट्य, पहेलियां, मुहावरे, लोकोक्तियां इत्यादि का समावेश रहता है। मानव-भावनाओं की कोमल, सहज एवं रसात्मक अभिव्यक्ति का जो प्रभावकारी प्रमाण लोकगीतों में उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र कहीं भी सुलभ नहीं है। लोकगीतों में सामान्य जन-जीवन का एक अंश स्वरों के आरोह-अवरोह में बंध कर मुखरित होता है। मन की सदाशयता और मस्तिष्क की शुद्धता के साथ भावनाओं का जो उन्मुक्त विलास लोकगीतों के दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है, वह सहृदय व्यक्ति को विस्मय-विमुग्ध कर देता है।

यह अत्यन्त क्षोभ की बात है कि मस्तिष्क की उपलब्धियों से गौरवान्वित होकर मनुष्य ने हृदय की सच्ची सम्पदा के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण अपना लिया। फलतः लोक की विराट साधना दीर्घकाल तक अनास्था के आवरण से लिपटी पड़ी रही। अभिव्यक्ति की कला शिक्षित विद्वद्वर्ग के बौद्धिक अनुशीलन की सीमाओं में बद्ध हो गई और कलाकारों का कर्म-पथ नियमों की शृंखलाओं में जकड़ दिया गया। राज-प्रासादों की रत्नजटित प्राचीरों के घेरे में भावनाओं का मूल्यांकन होने लगा। बुद्धि की आवर्त्त-विवर्त्तमयी तरंगों से कलाओं का आकर्षण संवारा गया और उन्हें सामान्य-जन-जीवन से सर्वथा परे, एक उच्चतम धरातल पर प्रतिस्थापित किया गया। किन्तु अवहेलना और अवमानना के कटु प्रहारों में भी, पूर्णतः

निश्चिन्त और निर्भीक होकर, लोक-कलाकार अपने भावमय सृजन में तल्लीन रहा। ग्रामीण अंचलों में घनी अमराइयों की छवि में नीचे पगडंडियों, खेतों और खलिहानों के बीच में, स्वर की साधना चलती रही, गीतों के मधुर बोल बिखरते रहे। इन गीतों में जन-जीवन की वास्तविक संस्कृति के तत्व समाविष्ट हैं।

वर्तमान युग मानवीय भाव-मूल्यों के प्रति जागरूकता का युग है। जागरण के प्रथम स्पर्श में ही बुद्धि की विलक्षणता और चमत्कारिता का परित्याग करके हृदय-गम्य सहजता के आदर्श पर अभिव्यक्ति का मूल्यांकन होने लगा। प्रगति की एक तीव्र लहर के आघात से लोक-कलाओं पर आच्छादित अनास्था का आवरण छिन्न-भिन्न हो उठा और शताब्दियों से सोयी हुई कोमल भाव चेतना की पलकों में प्रभात का प्रकाश मुस्कराने लगा। जीवन के माधुर्य से उद्वेलित असंख्य स्वर-तरंगें काल की पर्तों का विच्छेदन करती हुई विशाल वायुमण्डल में प्रसारित होने लगीं और श्रोताओं का सजग हृदय उन स्वरों में समाहित संवेदनशील मर्मानुभूतियों को सहेजने के लिए व्याकुल हो उठा।

सर्वप्रथम पाश्चात्य देशों में लोकसाहित्य-सम्बन्धी अनुसंधान-कार्य की एक प्रबल लहर उठी जिसने सुदूरवर्ती देशों को भी आच्छादित कर दिया। पहले इस कार्य के मूल में विभिन्न जातियों के प्रति जिज्ञासा वृत्ति की प्रेरणा निहित थी जिसने आगे चल कर एक वैज्ञानिक रूप धारण कर लिया।

भारत में अँगरेजों के शासन काल में ही, लोक-मानस के अध्ययन हेतु प्रयास प्रारम्भ हो गया था। भारतीय जन-जीवन की गहराइयों में छिपे लोक-तत्वों का सम्यक ज्ञान ही इस प्रयास का मूलभूत उद्देश्य था। इस लोक दर्शनी दृष्टि के विस्तार का प्रथम श्रेय निर्विवाद रूप से अँगरेजों को प्राप्त है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आंग्लभाषियों की चेष्टाओं से अनुप्रेरित होकर भारतीय साधनों में भी लोकसाहित्य के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ। भारत के विभिन्न प्रान्तों में लोक साहित्य के अध्ययन की एक जो अपूर्व लहर उत्पन्न हो गई। फलस्वरूप गुजराती, बंगला, मराठी, पंजाबी हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओं में प्राप्त लोक साहित्य पर विशेष कार्य सम्पन्न हुआ।

भारत में उपलब्ध लोक साहित्य सम्बन्धी शोधपूर्ण कार्यों का अनुशासन करने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अभी तक विद्वान चिन्तकों एवं कार्यकर्ताओं के समक्ष काल के व्यवधान में खोए हुए लोकतत्वों का संचयन ही एकमात्र लक्ष्य रहा है। यही कारण है कि लोकगीतों लोकगाथाओं एवं लोककथाओं के संग्रह ग्रन्थ तो विशाल संख्या में प्राप्त होते हैं पर विवेचनात्मक अध्ययन का अभाव लक्षित होता है।

लोकसाहित्य के विविध अंगों में सब से अधिक कार्य लोकगीतों पर हुआ है। जन-कंठों में निवास करने वाले अनन्त गीतों को लिपिबद्ध करके उन्हें काल के गर्भ में विलीन होने से बचाया जा रहा है। इस दृष्टि से लोकगीतों में निहित भाव-संवेदनाओं, अभिप्रायों, युग-नीतियों एवं परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन पूर्णतः अपेक्षित है। अभी तक लोकसाहित्य-सम्बन्धी अध्ययन के क्षेत्र में तुलनात्मक, अध्ययन-

प्रणाली का नितान्त अभाव रहा है। प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वारा इस रिक्तता का किंचित भी निराकरण हो सका तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगी।

प्रस्तुत प्रबन्ध में पाँच अध्याय हैं। अन्त में परिशिष्ट की योजना है।

प्रथम अध्याय में भोजपुरी और अवधी बोलियों के भाषा शास्त्रीय आधार एवं सीमा का विवेचन किया गया है। यह अध्याय चार खण्डों में विभाजित है।

प्रथम खण्ड में बोली और भाषा के पारिभाषिक रूप पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य अपने हृदय में उत्पन्न भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न साधनों का प्रयोग करता है जिनमें सर्वथा सक्षम एवं सबल साधन भाषा है। मनुष्य के मुख से निःसृत सार्थक एवं सप्रयोजन ध्वनियाँ ही भाषा कहलाती हैं। भाषा के आविर्भाव के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के पृथक्-पृथक् मत प्रतिपादित हुए हैं। ये समस्त सिद्धान्त आंशिक रूप से भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने की चेष्टा करते हैं। भाषा की कतिपय प्राकृतिक विशेषताएँ होती हैं जिनके आधार पर उसका स्वतः विकास होता रहता है। भाषा के मुख्य रूप इस प्रकार हैं - (१) मूल भाषा, (२) उप-भाषा, (३) आदर्श भाषा और (४) राष्ट्र भाषा। सर्वप्रथम एक स्थान पर रहने वाले व्यक्तियों का समूह जिस भाषा को बोलता है वही भाषा का मूल रूप होता है। कालान्तर में जन संख्या वृद्धि तथा अन्य भौगोलिक कारणों से व्यक्तियों का यह समूह विभिन्न शाखाओं में विभाजित होकर अन्यत्र बस जाता है तब मूल भाषा से भी अनेक उपभाषाएँ निकल पड़ती हैं। इन्हीं को बोलियाँ कहते हैं। साहित्य, धर्म या राजनीति के प्रभाव से महत्व प्राप्त करके ये बोलियाँ आदर्श भाषा का रूप प्राप्त करती हैं, महत्व प्राप्त आदर्श भाषा को ही राष्ट्र भाषा के पद पर आरूढ़ किया जाता है। इस प्रकार बोली का विकसित रूप ही परिनिष्ठित भाषा है।

द्वितीय खण्ड में भारतीय भाषाओं और बोलियों के सन्दर्भ में भोजपुरी और अवधी बोलियों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। भारतीय आर्यभाषाओं को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—(१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा, (२) मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा (३) आधुनिक भारतीय आर्यभाषा। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के रूप में वैदिक एवं लौकिक संस्कृत तथा मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषा के रूप में पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश का वर्णन किया गया है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विवेचन में ग्रियर्सन और डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है। डा० चटर्जी के भाषा सम्बन्धी नवीन वर्गीकरण में समस्त आधुनिक आर्यभाषाओं को पाँच वर्गों में विभक्त किया गया है-- उदीच्य, प्रतीच्य, मध्यदेशीय, प्राच्य और दाक्षिणात्य। इन समस्त वर्गों में स्थित मुख्य भाषाओं से सम्बन्धित बोलियों पर भी प्रकाश डाला गया है। अवधी और भोजपुरी बोलियों का सम्बन्ध प्राच्य वर्ग के अन्तर्गत स्थित पूर्वी हिन्दी तथा बिहारी भाषाओं से है।

तृतीय खण्ड में भोजपुरी और अवधी बोलियों के विकास की समीक्षा की गई है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास विभिन्न अपभ्रंशों से माना जाता है। ये अपभ्रंश भी पूर्ववर्ती प्राकृत भाषाओं के किसी-न-किसी रूप से सम्बन्धित हैं। भोजपुरी बोली का सम्बन्ध बिहारी भाषा से है और बिहारी भाषाओं (भोजपुरी, मगही, मैथिली) की उत्पत्ति मागधी प्राकृत एवं अपभ्रंश से मानी गई है। इसी

प्रकार अवधी बोली का सम्बन्ध पूर्वी हिन्दी से है और पूर्वी हिन्दी की उत्पत्ति अर्द्ध मागधी, प्राकृत और अपभ्रंश न मानी जाती है।

चतुर्थ खण्ड मे भोजपुरी और अवधी बोलियों के क्षेत्रो पर प्रकाश डाला गया है। भोजपुरी बोली का क्षेत्र अवधी बोली के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। भोजपुरी बोली के मुख्य तीन रूप हैं—(१) आदर्श भोजपुरी (२) पश्चिमी भोजपुरी (३) नगपुरिया। इसकी दो उप बोलियाँ भी हैं मधेसी और थारू। अपने समस्त रूपों के साथ यह बोली पश्चिमी बिहार और पूर्वी प्रदेश के वृहत् भू भाग (लगभग ५० हजार वर्ग मील) मे फैली हुई है और दो करोड़ से भी अधिक व्यक्तियो के द्वारा प्रयोग की जाती है।

उत्तर प्रदेश की पूर्वी सीमाओ पर भोजपुरी बोली जहाँ समाप्त होती है, वहीं से अवधी बोली आरम्भ होती है। दोनो बोलियों की मध्यवर्तीय सीमारेखा का स्पष्ट निर्धारण किया जा सकता है। अवधी बोलियों के भी तीन प्रकार माने जाते हैं—(१) पश्चिमी अवधी, (२) केन्द्रीय अवधी, और (३) पूर्वी अवधी। अवधी बोली का विस्तार-क्षेत्र लगभग साढ़े पैंतीस हजार वर्ग मील है।

द्वितीय अध्याय मे लोकसाहित्य के स्वरूप की सम्यक विवृति की गई है। इस अध्याय की सामग्री तीन खण्डों मे विभाजित है।

प्रथम खण्ड मे लोक शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या की गई है। लोक शब्द की प्राचीनता का प्रमाण वेदों मे प्राप्त होता है। भुवन और स्थान के अर्थ मे प्रयुक्त होता हुआ यह शब्द अन्त में जन का पर्याय हो गया। लोक की सत्ता अत्यन्त व्यापक है, उसे केवल ग्रामीण जनता के संकुचित अर्थ मे प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। लोक के अन्तर्गत वह समस्त सरल स्वाभाविक मानव-समाज समाविष्ट है जो आडम्बरमयी विलासिता से परे रह कर प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता है।

द्वितीय खण्ड में फाकलोर और लोकवार्त्ता का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाते हुए उनकी व्यापकता का विवेचन किया गया है। फोकलोर शब्द असंस्कृत के ज्ञान का बोधक है। सामान्य जन-जीवन के अध्ययन की जिज्ञासा के फलस्वरूप लोक-जीवन से बिखरी सामग्री को एकत्रित किया गया और उसे फोकलोर संज्ञा प्रदान की गई। हिन्दी मे इस शब्द का पर्यायवाची शब्द लोकवार्त्ता स्वीकार किया है। लोकवार्ता के अन्तर्गत लोकजीवन मे व्याप्त समस्त मानसिक एवं क्रियात्मक विषयों की गणना होती है। लोकसाहित्य इसी लोकवार्त्ता का एक अंग है—दोनों के मध्य अंग-अंगी का सम्बन्ध व्याप्त है।

तृतीय खण्ड में लोकसाहित्य के वर्गीकरण एवं विस्तार पर विचार किया गया है। लोकसाहित्य को मुख्यतः पाँच वर्गों मे विभक्त किया गया है—(१) लोकगीत, (२) लोकगाथा, (३) लोककथा (४) लोकनाट्य, (५) विविध। यहाँ इन पाचो वर्गों पर पृथक्-पृथक् रूप से विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। लोक साहित्य के विविध रूप मे लोकोक्तियों, मुहावरों और ढकोसलों का वर्णन हुआ है।

चतुर्थ खण्ड मे लोकसाहित्य की विशेषताओं तथा उसके महत्व का विवेचन किया गया है। लोकसाहित्य मे सामान्य जन-जीवन के अखण्ड सत्यों का उद्घाटन

होता है। जीवन की यथार्थता, अनुभूतिमयता, सरसता और सहजता लोकसाहित्य के माध्यम से अपने शाश्वत रूप में प्रकाशित होती है। इस दृष्टि से लोकसाहित्य का महत्व अनुपम है। सुविधानुसार लोकसाहित्य के महत्व को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) ऐतिहासिक महत्व, (२) भौगोलिक महत्व, (३) आर्थिक महत्व, (४) सांस्कृतिक महत्व, (५) नैतिक महत्व, (६) भाषा शास्त्रीय महत्व (७) साहित्यिक महत्व। महत्ता के प्रत्येक धरातल पर लोकसाहित्य को रख कर उसकी सम्यक् समीक्षा की गई है।

पंचम खण्ड में लोक साहित्य के भेदाभेद पर विचार किया गया है। लोक-साहित्य और साहित्य दोनों में मानव-मन की अनुभूतियों एवं भावनाओं का प्रकाशन होता है। भावाभिव्यंजन की दृष्टि से दोनों में मौलिक साम्य है। साहित्य का प्रत्येक चरण लोक-सापेक्ष होता है। लोक-जीवन की सांस्कृतिक चेतना उससे अनुप्राणित होती है। लोक साहित्य और साहित्य में आन्तरिक साम्य होते हुए भी कुछ वैषम्य है। साहित्य अपने अस्तित्व को उस धरातल से ऊपर उठा कर सवारता है। जहाँ उसके पोषक तत्व उपलब्ध होते हैं जब कि लोकसाहित्य सम्पूर्ण तल्लीनता से उस धरातल पर छाया रहता है। साहित्य में व्यक्तिवादी स्वर प्रधान होता है, जब कि लोक-साहित्य में समूह की प्रधानता रहती है।

तृतीय अध्याय में लोकगीत के स्वरूप का विवेचन है। यह अध्याय भी चार खण्डों में विभाजित है।

प्रथम खण्ड में लोकगीत की परिभाषा पर विचार करते हुए उसकी पृष्ठ-भूमि का उल्लेख किया गया है। लोकगीत जन-मानस से उत्पन्न हर्ष-विषाद मयी भाव-धाराओं का व्यक्त रूप है। हृदय का सुख-दुख जब स्वरों में साकार होता है, तब लोकगीत की सृष्टि होती है। सरलतम जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियाँ लोकगीतों में प्रश्रय पाती हैं।

लोकगीतों की पृष्ठभूमि के निर्माण में संसार-व्याप्त समस्त घटनाओं एवं परिस्थितियों का योग है। मानव-मन पर इन घटनाओं एवं परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और प्रतिक्रिया रूप में विभिन्न भाव विचारों का जन्म होता है। लोकगीतों में इन्हीं भाव-विचारों की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार लोकगीतों की मुख्य प्रेरणा का सम्बन्ध जगत के प्रत्येक व्यापार से रहता है। इन प्रेरणात्मक परिस्थितियों एवं व्यापारों का सुविधानुसार इन रूपों में रखा गया है—(१) पारिवारिक, (२) सामाजिक, (३) धार्मिक और (४) राजनीतिक।

द्वितीय खण्ड में लोकगीतों की विशेषताओं और महत्व का प्रतिपादन किया गया है। लोकगीत की कतिपय सार्वभौम प्रवृत्तियाँ होती हैं जिन्हें मौलिक परम्परा, भावों की लयात्मक अभिव्यक्ति पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति निरर्थक शब्द योजना, प्रश्नोत्तर-प्रणाली, संख्याओं का प्रयोग, वस्तु नाम गणना, अनलंकारिता और स्वाभाविकता के रूप में रखा जा सकता है। संसार के समस्त लोकगीतों में इन विशेषताओं की प्राप्ति होती है।

तृतीय खण्ड में भारतीय परम्परा के अन्तर्गत लोकगीतों के प्रचलन पर एक खोजपूर्ण दृष्टि डाली गई है। भारत में लोकगीतों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन

है। लोकगीतो का सर्वप्रथम परिचय वैदिक ग्रन्थो से प्राप्त होता है। ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थो में भी गाथाओं के रूप मे लोकगीतो के तत्व उपलब्ध होते हैं। महाभारत काल में भी गाथाओं का प्रचलन था। लोकगीतों का आदि रूप इन गाथाओं मे ही मिलता है। संस्कृत काव्यो मे अनेक स्थानों पर लोकगीत गाए जाने का प्रसंग आया है। हिन्दी काव्यों में भी मंगल-अवसरों पर गीतो का वर्णन मिलता है। भारत के हिन्दू परिवारों मे जीवन से मृत्यु तक के क्रिया-कलाप लोकगीतों की सुमधुर झंकार से गुंजित रहते हैं।

चतुर्थ खण्ड मे लोकगीतो की विविध कोटियो पर विचार किया गया है। लोकसाहित्य के विद्वानो ने लोक गीतो के वर्गीकरण के प्रश्न पर विभिन्न समाधान प्रस्तुत किए हैं। इस खण्ड मे समस्त विद्वानों के मतों का विवरण दिया गया है, साथ ही भोजपुरी और अवधी लोकगीतो के तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा का ध्यान रखते हुए लोकगीतो का एक सरलतम वर्गीकरण उपस्थित किया गया है। इस वर्गीकरण मे लोकगीतों के समस्त प्रकार समाविष्ट हो जाते हैं।

चतुर्थ अध्याय इस प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अध्याय है। इसमें भोजपुरी और अवधी लोकगीतो का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। भोजपुरी और अवधी लोकगीत दो पड़ोसी क्षेत्रो के गीत होने के कारण एक दूसरे से जितना साम्य रखते हैं उतना वैषम्य नही। दोनों मे भाषागत निकटता तो है ही, भावगत एकरूपता भी स्थान-स्थान पर लक्षित होती है। परम्पराएं विश्वास और अभिप्रायों की दृष्टि से भी दोनो में समता अधिक विषमता कम।

सर्व प्रथम दोनों क्षेत्रों के लोकगीतों को निश्चित वर्गो मे विभाजित किया गया है—(१) संस्कार गीत, (२) ऋतु सम्बन्धी गीत (३) व्रत एवं उपासना सम्बन्धी गीत (४) जाति सम्बन्धी गीत और (५) विविध गीत।

संस्कार गीतों के अन्तर्गत जन्म-संस्कार-सम्बन्धी गीत, यज्ञोपवीत-संस्कार सम्बन्धी गीत, विवाह संस्कार सम्बन्धी गीत और मृत्यु संस्कार सम्बन्धी गीतों को रखा गया है।

जन्म-संस्कार-सम्बन्धी गीतों में पुत्र कामना, वन्ध्यत्व दुःख, दोहद प्रसव-कष्ट, पुत्र-जन्म-आनन्द, नेगाचार, बधाई, रोचना, पालना, झुनझुना, बढ़ुला, अदीप, छठी, अन्नप्राशन, मुण्डन, छेदन आदि विषयों एवं अवसरों से सम्बन्धित लोकगीतों की तुलनात्मक समीक्षा हुई है।

यज्ञोपवीत संस्कार सम्बन्धी गीतों में यज्ञोपवीत की विभिन्न विधियों के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों का अनुशीलन हुआ है। इनमे पद-प्रक्षालन, भिक्षा, स्नान, वस्त्रधारण आदि प्रमुख हैं।

विवाह-संस्कार सम्बन्धी गीतों में भोजपुरी और अवधी प्रदेशों मे प्रचलित वैवाहिक रीतियों के समय गाए जाने वाले गीतो का वर्णन है। जन्मगीतो के उपरान्त विशाल संख्या में प्राप्त होने वाले गीत विवाह गीत ही हैं। विवाह-गीतों के अन्तर्गत कन्यापक्ष एवं वरपक्ष के गीतों का पृथक्-पृथक् रूप मे विवेचन हुआ है। इन गीतों में वरीक्षा, तिलक, तेल, और हल्दी, माटी गोड़ाई, सिलापोहनी, मांडव,

कलश धराई, निहरौनी या वरयात्रा द्वारचार, कन्यादान, भांवर, कोहबर, बानी मिलाई, जूता पूजन, विदाई कंगन छुड़ाई आदि विधियों का उल्लेख हुआ है।

मृत्युसंस्कार-सम्बन्धी गीतों को गाने का प्रचलन भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों में नहीं है, तथापि कुछ लोकगीत दोनों क्षेत्रों में प्राप्त होते हैं। यहाँ उन्हीं शोक गीतों के माध्यम से जन-मन की करुण भावनाओं का प्रकाशन किया गया है।

ऋतुसम्बन्धी गीतों में विभिन्न ऋतुओं में गाये जाने वाले गीतों का वर्णन हुआ है। भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों में मुख्य रूप से वर्षा-ऋतु और वसन्त ऋतु के गीत गाए जाते हैं। वर्षा-ऋतु के गीतों में सावन या झूले के गीत, चौमासा, बारहमासा कजली, सोहनी या निरवाही के गीत, रोपनी के गीत, उपवा गीतों की प्रधानता है। वसन्त ऋतु में गाये जाने वाले गीतों में होली या फाग, चैता या घांटो मुख्य हैं।

व्रत एवं उपासना सम्बन्धी गीतों में भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों में प्रचलित धार्मिक गीतों का निरूपण किया गया है। ये गीत 'व्रत' और 'उपासना' नामक दो वर्गों के अन्तर्गत रखे गये हैं। व्रत गीतों के अन्तर्गत शीतलाष्टमी, रामनवमी, नागपंचमी, बहुरा, जन्माष्टमी, हरितालिका तीजा, नवरात्रि गोधन, पिड़िया और षष्ठी माता के व्रतों से सम्बन्धित गीतों का उल्लेख किया गया है। उपासना-गीतों के अन्तर्गत गंगा मैया, तुलसी माता, सूर्य देवता तथा ईश्वर के विभिन्न रूपों के प्रति निवेदित भक्ति-गीतों का समावेश है।

जाति सम्बन्धी गीतों में भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों में निवास करने वाली विभिन्न जातियों के विशेष गीतों का वर्णन किया गया है। इन गीतों को इन रूपों में विभाजित किया गया है—(१) अहीरों के गीत, (२) कहारों के गीत, (३) तेलियों के गीत, (४) गड़रियों के गीत (५) धोबियों के गीत, (६) चमारों के गीत, (७) दुसाधों के गीत और (८) गोंडों के गीत।

विविध गीतों के अन्तर्गत उन लोकगीतों की गणना की गई है जो अन्य किसी वर्ग में समाविष्ट नहीं हो पाये हैं। इस प्रकार के गीतों में जांत के गीत, मेले के गीत, झूमर, पूर्वी, ब्रह्मचारी और खेल के गीत प्रमुख हैं।

पंचम अध्याय के अन्तर्गत लोकगीतों के कलात्मक पक्ष का विवेचन किया गया है। यह अध्याय लोकगीतों की साहित्यिक विशेषताओं पर प्रकाश डालता है। इस अध्याय की सामग्री पांच भागों में विभक्त है।

प्रथम भाग में लोकगीतों के अंतर्गत नायिका-भेद पर शोध पूर्ण विवेचन किया गया है। प्राचीन संस्कृत आचार्यों तथा रीतिकाल के काव्य-मर्मज्ञों ने नायिकाओं के जो भेद निर्धारित किये हैं उन सबकी उपलब्धि लोकगीतों में हो जाती है। यह लोकगीतों के अज्ञात रचयिताओं की सूक्ष्मदर्शी बुद्धि का परिचायक है कि नायिका-भेद सम्बन्धी लक्षण ग्रंथों से अनभिज्ञ रहते हुए भी वे नारी के विविध रूपों का सफल चित्रण कर सके।

द्वितीय भाग में, लोकगीतों में रस-व्यंजना पर विस्तृत विवेचन किया गया है। रस की परिभाषा, स्वरूप तथा रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया पर परिचयात्मक प्रकाश डालते हुए लोकगीतों के मध्य रस के पूर्ण परिपाक की व्याख्या हुई है। लोकगीतों

का एक-एक शब्द रस की अथाह गहराई में डूबा हुआ है। रस ही लोकगीत की आत्मा है। जन-मन से उद्भूत भावनाएँ, वाणी की झंकार में बंध कर अलौकिक रस का सृजन करती हैं।

तृतीय भाग मे लोकगीतो के अन्तर्गत अलंकार-योजना पर विचार किया गया है। लोकगीतों में सामान्य जनता के सरल-स्वाभाविक मनोभावो की सीधी-सादी अभिव्यक्ति होती है। लोकगीतो का रचयिता काव्य के जटिल शिल्प-विधान से पूर्णतः अनभिज्ञ होता है। अलंकारों का उसे कोई ज्ञान नही होता और न वह अलंकार के प्रयोग पर ध्यान ही देता है। फिर भी लोकगीतों में शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों के प्रचुर उदाहरण प्राप्त होते हैं। अलंकारों की यह योजना अनन्त है। सीधी और सफल अभिव्यक्ति स्वतः ही कलात्मक हो जाती है।

चतुर्थ भाग मे लोकगीतो के अन्तर्गत छन्द-विधान पर विचार किया गया है। लोकगीतों मे साहित्य-प्रचलित छन्दों का अभाव है। वर्ण, मात्रा, गति और यति के नियमो का लोकगीतकार को कोई ज्ञान नहीं होता। फिर भी लोकगीतों मे विशेष प्रकार के भावो की अभिव्यक्ति विशेष प्रकार के गीतों के माध्यम से होती है। इस दृष्टि से सोहर, जतसार, निर्गुण बिरहा, कहरवा आदि की गणना लोकगीतो मे प्रयुक्त होने वाले छन्दों के रूपों मे की जा सकती है।

पंचम भाग मे लोकगीतों की स्वाभाविकता और मार्मिकता का निरूपण किया गया है। लोकगीतो मे जीवन का प्रत्येक क्षण अनुभूति की गहराइयों मे सिमट कर उतरा है। युग-युग से स्त्री-पुरुषो के समस्त मनोविकार, क्रिया-व्यापार और रीति-व्यवहार इन लोकगीतो में मुखरित होते रहे हैं। हृदयगत भावना की सरलता और स्पष्टता के साथ भाषा की अनुकूलता और क्षमता का योग अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशाली बना देता है।

परिशिष्ट के अन्तर्गत सहायक ग्रंथों एवं पत्र-पत्रिकाओं की सूची दी गई है।

अन्त मे अपनी शोध-साधना की इस पूर्ति-बेला पर, उन महानुभावों को नही भूलूंगी जिनसे प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं सहयोग लेकर ही मैं अपने निर्दिष्ट पथ पर आगे बढ सकी हूँ।

अपने परम पूज्य गुरु पं० मुंशीराम शर्मा (भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग डी० ए० वी० कालेज, कानपुर) के प्रति मे सम्पूर्ण हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनके स्नेह-सिक्त सम्पर्क मे मुझे अनुसधान-कार्य की प्रेरणा मिली। आगरा विश्वविद्यालय में एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा मे प्रथम स्थान पाने पर पूज्य पं० जी ने मेरे भविष्य की उज्ज्वलता का विश्वास दिलाते हुए मुझे साहित्य-सेवा के लिए प्रेरित किया। यह उन्ही की महती अनुकम्पा का प्रसाद है जो अब मेरी सफलता के रूप मे प्रतिफलित हुआ है।

श्रद्धेय गुरुवार प० प्रेमनारायण शुक्ल (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर) की मैं अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने मेरी शोध-जिज्ञासा और उमंग को देखकर मुझे नवीन कार्य-दिशा की ओर उन्मुक्त किया। लोक-जीवन की व्यापकता और गहराई का अवलोकन कराते हुए उन्होने मेरे लिए एक मौलिक विषय चुना, जो मेरी वर्षों की साधना के द्वारा इस ग्रंथ के रूप मे पूर्णतः पा सकी है।

लोक-साहित्य के अनन्य सेवी स्व० रामनरेश त्रिपाठी एवं डा० कृष्णदेव उपाध्याय की प्रेरणाओं को भी मैं भूल नही सकती। डा० उदयनरायण तिवारी और डा० सत्यव्रत सिन्हा के सत्परामर्शो के लिए, मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। श्री सत्यव्रत अवस्थी के द्वारा मुझे समय-समय पर जो अमूल्य सहयोग मिलता रहा है, उसके लिए मैं उनकी चिर ऋणी हूँ।

इस अवसर पर स्व० आचार्य शिवपूजन सहाय के अनुग्रह को मैं किसी प्रकार विस्मृत नही कर सकती, जिन्होने अपने अत्यधिक बहुमूल्य समय को मेरे लिए लिखे गये पत्रो मे व्यय करते हुए भोजपुरी लोक साहित्य को समझाने मे उत्साहपूर्ण योग दिया। श्री गुप्तनाथ सिंह जी ने भी भोजपुरी लोकसाहित्य सम्बन्धी आवश्यक तथ्यों के संग्रह हेतु सक्रिय सहयोग प्रदान किया, जिसके लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

लोकगीतो के संग्रह के लिए मुझे श्री 'मनुज' (आकाशवाणी) इलाहाबाद, श्री भारतसिंह, श्री रामकिशोर त्रिपाठी, सुश्री गायत्री श्रीवास्तव से अत्यधिक सहयोग मिला है जिसके लिए मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ।

अपने लेखन-कार्य के मध्य मैने समय-समय पर श्री रामप्रसाद आर्य, भाई अतरसिंह, श्री रामचन्द्र वाजपेयी से आवश्यकतानुकूल अनेक कार्य कराए हैं, जिसके लिहे वे निस्संदेह धन्यवाद के पात्र हैं।

उन पुस्तकालयों एवं संस्थाओं के प्रति भी मैं पूर्णतः आभारनत हूँ, जिन्होने मुझे आवश्यक सामग्री के संचयन मे सहायता दी है। इस सन्दर्भ मे एस० डी० कालेज पुस्तकालय, आनन्द स्वरूप पुस्तकालय, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर, गयाप्रसाद पुस्तकालय, कानपुर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, एल०एस० कालेज लायब्रेरी, मुजफ्फरपुर, नेशनल लायब्रेरी, कलकत्ता के नाम उल्लेखनीय हैं।

वे समस्त लेखक भी हार्दिक धन्यवाद के अधिकारी हैं जिनकी पुस्तकों ने मेरे कार्य की सम्पन्नता मे योग दिया है।

अपने पूज्य पिता श्री जवाहरसिंह भदौरिया के द्वारा मुझे अपनी कार्य-पूर्ति के लिए नित्य-प्रति एक सबल प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा है। विद्याध्ययन के क्षेत्र में वे सर्वदा मेरी सफलताओ के प्रेरणा-केन्द्र रहे हैं। पूज्य श्वसुर कर्नल शिवनाथसिंह चौहान के आशीर्वादों तथा परिवार के अन्य गुरुजनो की शुभकामनाओं की छाया मे मैं अपने लक्ष्य-पथ पर निर्विघ्न रूप मे चल सकी हूं। श्रद्धेय जेठ श्री शिवदानसिंह की स्नेहपूर्ण मंगल-भावनाओ ने भी मुझे निरन्तर प्रगति की शक्ति प्रदान की है। इन सबके प्रति मेरे हृदय मे अपार श्रद्धा है।

अन्त मे अपने पति श्री श्रवणकुमार चौहान के लिए मैं इतना ही कहूँगी कि उनकी शक्ति से गति पाकर, उनकी चेष्टाओं से जाग्रत होकर उनकी अभिलाषाओ का सहारा लेकर मैं अपने साध्य को पाने मे समर्थ हो सकी हूँ। वे केवल मेरी कृतज्ञता के ही नही, मेरी सफलता के सम्पूर्ण श्रेय के अधिकारी हैं।

—विद्या चौहान

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

भोजपुरी और अवधी बोलियों का भाषावैज्ञानिक आधार एवं सीमा — १

बोली और भाषा — १
भारतीय भाषायें और बोलियाँ — १२
भोजपुरी और अवधी बोली का विकास — २५
भोजपुरी और अवधी बोली के क्षेत्र — ३३

द्वितीय अध्याय

लोक-साहित्य की विवृत्ति — ३६

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या — ३६
फाकलोर और लोकवार्ता की व्यापकता — ४१
लोक-साहित्य का वर्गीकरण और विस्तार — ४८
लोक-साहित्य की विशेषताएं तथा महत्व — ६६
लोक-साहित्य और साहित्य का भेदाभेद — ६७

तृतीय अध्याय

लोकगीतों का स्वरूप — ७३

लोकगीत की परिभाषा और पृष्ठभूमि — ७३
लोकगीत की विशेषताएं और महत्व — ९०
भारतीय परम्परा में लोकगीत — ९४
लोकगीतों की विभिन्न कोटियाँ — ९९

चतुर्थ अध्याय

भोजपुरी और अवधी बोलियों के लोकगीत — १०९

संस्कार-गीत — १०९

(१) जन्म संस्कार सम्बन्धी गीत — १०९
(२) यज्ञोपवीत संस्कार सम्बन्धी गीत — १ ६
(३) विवाह संस्कार सम्बन्धी गीत — १८०
(४) मृत्यु संस्कार सम्बन्धी गीत — २३०

ऋतु सम्बन्धी गीत २३२
व्रत एवं उपासना सम्बन्धी गीत २५६
जाति सम्बन्धी गीत २८६
विविध गीत २६५
(१) जांत के गीत २६५
(२) मेले के गीत २६६
(३) झूमर ३०१
(४) पूरबी ३०३
(५) अलचारी ३०५
(६) मेल के गीत ३०७
पंचम अध्याय
भोजपुरी और अवधी लोकगीतों का कलात्मक पक्ष ३१६
लोकगीतों में नायिका भेद ३१६
लोकगीतों में रस-व्यंजना ३३०
लोकगीतों में अलंकार-योजना ३४०
लोकगीतों में छन्द-विधान ३५८
लोकगीतों में स्वाभाविकता एवं मार्मिकता ३६३
और अन्त में ३६८
परिशिष्ट
सहायक ग्रन्थों एवं पत्र-पत्रिकाओं की सूची ३७१
हिन्दी ग्रन्थ ३७३
संस्कृत ग्रन्थ ३७५
अंगरेजी ग्रन्थ ३७६

प्रथम अध्याय

भोजपुरी और अवधी बोलियों का भाषा-वैज्ञानिक आधार एवं सीमा

- बोली और भाषा
- भारतीय भाषाएं और बोलियां
- भोजपुरी और अवधी बोली का विकास
- भोजपुरी और अवधी बोली के क्षेत्र

१ भोजपुरी और अवधी बोलियों का भाषा-वैज्ञानिक आधार एवं सीमा

बोली और भाषा

संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने अन्तःकरण में उत्पन्न भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का प्रयोग करता है। मनुष्य ईश्वर की रचना है, अतः अनेक विद्वानों का मत है कि मनुष्य के अस्तित्व के साथ ही ईश्वर ने भाषा का निर्माण भी किया। परन्तु उस तथ्य को आज का भाषा-वैज्ञानिक उतना ही महत्त्व देता है जितना एक वैज्ञानिक इस बात को कि सूर्य भगवान प्रातः अपने रथ पर बैठ कर आते हैं और संध्या को चले जाते हैं। भाषा के आविर्भाव के सम्बन्ध में मतैक्य न होने पर भी यह निर्विवाद है कि भाषा और मनुष्य का सम्बन्ध अटूट है। सामाजिक प्राणी होने के कारण पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए मनुष्य भाषा का प्रयोग करता है। प्रत्येक मनुष्य में भावाभिव्यक्ति की उत्कट आकांक्षा विद्यमान रहती है। इस आकांक्षा से प्रेरित होकर वह निरन्तर उन संकेतों एवं साधनों का उपयोग करता रहता है जो उसके अन्तर के प्रकाशन में सम्यक् भावेन सहायक हैं। विचाराभिव्यक्ति के कतिपय माध्यम होते हैं, जिन पर दृष्टि डालना भी अपेक्षित है।

(१) संकेत—अनेक भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति संकेतों के माध्यम से की जाती है। यह मनुष्य के भाव-प्रकाशन की पुरानी प्रथा है। आदिम-काल में जब भाषा अविकसित रूप में थी और मनुष्यों के बीच वस्तुओं का संज्ञाबद्ध रूप नहीं था, तब संकेतों के माध्यम से ही एक दूसरे से वार्तालाप होता था। अब भी भावाभिव्यक्ति के प्रकाशन में इस प्रथा का दर्शन होता है; उदाहरणार्थ—रेल के गार्ड का गाड़ी चलाने के लिए हरी और गाड़ी रोकने के लिए लाल झंडी दिखाना; हिन्दुओं में विवाहादि के शुभ अवसर पर हल्दी बाँटना; मृत्यु सम्बन्धित पत्र का कोना फाड़ देना। फौज में दिन के प्रकाश में झंडियों के संकेतों से वार्तालाप हो जाता है तथा रात में प्रकाश (लाइट) से निर्धारित संकेतों के समाचार भेजे जाते हैं। इसी प्रकार स्काउट्स (सेवादल) के भी अपने निर्धारित संकेत होते हैं, जिनके माध्यम से एक व्यक्ति दूसरे से अपनी बात कहता है। जलयान तथा वायुयानों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए भी संकेतों की व्यवस्था है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक तार भेजने की प्रणाली में भी निर्दिष्ट संकेतों का माध्यम रहता है जो विशिष्ट शब्दों की ओर इंगित करते हैं।

(२) स्पर्श—अनेक भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति स्पर्श के माध्यम से होती है। किसी बात को गोपनीय रखने के उपक्रम में स्पर्श का अवलम्ब लिया जाता है; यथा—चोरों का हाथ दबाकर मन्तव्य प्रकाशित करना। शृंगारिक अवसरों पर नायक-नायिका स्पर्श के माध्यम से अपने मानोभाव व्यक्त करते हैं। अंगरेजों में अभिवादन के लिए परस्पर हाथ मिलाने की प्रथा है। हिन्दुओं में भी गुरुजनों के प्रति सम्मान-प्रदर्शन के लिए चरण-स्पर्श किया जाता है।

(३) ध्वनि—विशिष्ट ध्वनियों के माध्यम से भी भावाभिव्यक्ति होती है; उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए चुटकी बजाई जाती है। किसी के प्रति प्रशंसात्मक भाव व्यक्त करने के लिये तालियाँ बजाने की प्रथा है। मुख-ध्वनियों के विविध प्रकारों के द्वारा विविध प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति की जाती है—क्रोध में गर्जन, उल्लास में हास्य, शोक में रुदन, पीड़ा में कराह आदि। विभिन्न अवसरों पर वाद्ययन्त्रों की भिन्न-भिन्न ध्वनियों के द्वारा अवसरानुकूल भाव की अभिव्यक्ति की जाती है। वाद्ययन्त्रों की ध्वनि-विशेष सुनकर ही सुखद अथवा दुःखद स्थिति का अनुमान हो जाता है; यथा—शहनाई की ध्वनि सुनकर विवाह का अनुमान होना, किसी मन्दिर में शंख और घड़ियाल की ध्वनि सुनकर आरती का अनुमान होना। युद्ध के समय लोगों को सतर्क करने के लिए 'साइरन' (विशेष ध्वनिविस्तारक यन्त्र) का प्रयोग होता है। दैनिक जीवन में नित्य ही हम सड़कों पर साइकिल रिक्शों की घण्टियों तथा मोटर के भोंपू की आवाज सुनते हैं जिसका प्रयोग पथिकों को सावधान करने के लिए होता है।

(४) स्वर-विकृति—विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति के लिये स्वर-विकृति भी एक स्वाभाविक साधन है। आरम्भिक काल में विभिन्न प्रकार के मनोवेगादि के लिये भिन्न भिन्न स्वर-संकेत निर्धारित कर लिये गए। कुछ स्वर-विकार तो जन्मजात ही होते हैं; उदाहरणार्थ—हर्षोल्लास में हास्य का स्वर, दुःख एवं कष्ट में क्रन्दन का स्वर, पीड़ा में कराह का स्वर आदि। क्रोध की स्थिति में मनुष्य गर्जन करता है, भय में चीखता है, आश्चर्य में विस्मय-बोधक ध्वनियाँ निकालता है। इस प्रकार प्रत्येक मनोवेग का बोध विशेष प्रकार के स्वरविकार से होता है।

(५) अंग-भंगी तथा मुख-विकृति—अनेक भावों एवं विचारों का प्रकाशन भिन्न-भिन्न प्रकार की अंग-भंगिमाओं के द्वारा होता है। मूक नृत्य उसका उत्तम उदाहरण है।

मुख-विकृतियों के द्वारा भी भाव-प्रकाशन होता है। ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, द्वेष, शोक, हर्ष, विषाद, प्रेम, स्नेह आदि संवेगों के तीव्र प्रभाव से मुख-मंडल पर विकार-रेखायें उत्पन्न होती हैं जिनके द्वारा सम्बन्धित मनोवेगों की अभिव्यक्ति हो जाती है; उदाहरणार्थ—क्रोध में भौंहे चढ़ाना, दाँत पीसना, आँखें लाल हो जाना, मुट्ठी बँध जाना, ठोकर मारना इत्यादि। हर्ष में आँखों में चमक आ जाना, ओठों पर मुस्कुराहट रहना इत्यादि। शोक में शरीर का शिथिल हो जाना, मुख पर कान्ति और उदासीनता छा जाना, आँखें संकुचित होना, ओठ सूख जाना, इत्यादि।

(६) चित्र-लेखन—चित्रों के माध्यम से भी अनेक भावों और विचारों की

अभिव्यक्ति होती है। चित्रकार अपने आन्तरिक भावों को रंगों और तूलिका के माध्यम से जन-जन के मानस तक पहुँचाने में सफल होता है। प्रेम, घृणा, क्रोध, शोक हर्ष आदि समस्त भाव चित्रों के माध्यम से प्रकाशित किये जा सकते हैं; उदाहरणार्थ—स्त्री-पुरुष के युगल चित्र में शृंगार भाव, गोद में शिशु लेकर खड़ी स्त्री के चित्र में वात्सल्य भाव, बन्दूक कन्धे पर लिये सैनिक के चित्र में वीरता का भाव, लाठी टेक कर खड़े हुए अर्द्धनग्न जीर्ण-शीर्ण वृद्ध भिखारी के चित्र में करुणा का भाव अभिव्यक्त होता है। मुगल-काल में जब चित्रकला अत्यधिक विकसित अवस्था में थी, सम्राटों की संपूर्ण जीवन गाथा चित्रों में अंकित की जाती थी, भिन्न-भिन्न घटनाओं का चित्रांकन होता था; यहाँ तक कि संगीत की विभिन्न राग-रागनियाँ भी चित्रबद्ध की जाती थीं।

(७) संभाषण—भावाभिव्यक्ति का यह अपेक्षाकृत समर्थ साधन है। दो अथवा दो से अधिक व्यक्ति पारस्परिक वार्त्तालाप के द्वारा, अपने भावों का प्रदान समुचित रूप से कर सकते हैं। संभाषण का माध्यम शब्द होता है। और शब्द अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक समर्थ साधन है। शब्द की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार की ध्वनियों के संयोग से होती है। यद्यपि शब्दों के निर्माण में ध्वनियों का योग होता है, तथापि सभी प्रकार की ध्वनियाँ शब्द नहीं कहला सकतीं। मुखावयवों से निःसृत सार्थक और सप्रयोजनीय ध्वनियाँ ही शब्द का निर्माण करती हैं।[1] यदि कोई व्यक्ति 'आ' 'ऊँ' आदि ध्वनियाँ निकालता है तो उन्हें भाषा के अन्तर्गत नहीं लेंगे, क्योंकि उनका कोई अर्थ एवं प्रयोजन स्पष्ट नहीं है, किन्तु यदि एक बालक इसी प्रकार की ध्वनियों के अनवरत क्रम द्वारा किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए अपनी हठ प्रकट करता है और श्रोता उनमें निहित अर्थ एवं प्रयोजन को समझ लेता है तो वह उस शिशु की भाषा कही जा सकती है। इसके विपरीत शुक और सारिका के मुख से अभ्यास-प्रसूत ध्वनियाँ—आइए, बैठिए, राम-राम इत्यादि सुनते हैं किन्तु सार्थक होते हुए भी इन ध्वनियों को हम भाषा नहीं कहेंगे, क्योंकि इसमें शुक और सारिका का कोई अर्थ एवं प्रयोजन नहीं रहता। पारस्परिक संभाषण के मध्य इसी प्रकार के सार्थक एवं सप्रयोजनीय शब्दों का साधन रूप में प्रयोग होता है।

(८) लेखन—भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति लेखन द्वारा भी होती है। कोई व्यक्ति अपने अन्तर्भावों को किसी विशेष भाषा-लिपि के माध्यम से व्यक्त करता है। भाषा के अन्तर्गत विशिष्ट ध्वनि-संयोग से उत्पन्न शब्द अन्तर्निहित रहते हैं, उन्हीं शब्दों को विशिष्ट चित्रों अथवा चिह्नों में प्रकट करना लिपि कहलाता है। लिपि के माध्यम से व्यक्ति अपनी भावनाओं का बिना किसी प्रकट उच्चारण के

---

1. "A Letter is an indivisible sound, yet not all such sounds are letters but those only that are capable of froming an intelligible sound."

—The poetics of Aristothe : by Longinus, Cassell and Company Ltd., London.

शाब्दिक प्रकाशन करता है। संभाषण की अपेक्षा लेखन भावाभिव्यक्ति का अधिक व्यापक साधन है। संभाषण में वक्ता के सम्मुख श्रोता की उपस्थिति आवश्यक होती है परन्तु लेखक के समक्ष पाठक की उपस्थिति आवश्यक नहीं है। भाषण में मुख से निःसृत शब्द पुनः उसी रूप में एकत्रित नहीं किये जा सकते (टेप रिकार्ड से ही यह संभव है) परन्तु लेखन में लिखित शब्दों को दीर्घ काल तक सुरक्षित रखा जा सकता है। संभाषण में शब्दों की ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति आवश्यक है, परन्तु लेखन में लेखक मौन रह सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संभाषण में शाब्दिक अभिव्यक्ति के निमित्त मुख, नासिका, स्वर-यन्त्र, स्वर-तन्त्री, जिह्वा, तालु, दाँत, ओष्ठ आदि स्वरोत्पादक अवयवों की क्रियाशीलता आवश्यक है, परन्तु लेखन-कार्य में इसकी आवश्यकता नहीं होती केवल मस्तिष्क के विचार केन्द्र की सक्रियता पर्याप्त है। संभाषण में भावों को सम्यक् रूप से श्रोता तक प्रेषित करने के लिये वक्ता हस्तादि संचालन, मुख-मुद्राओं तथा अन्य शारीरिक भंगिमाओं का आश्रय ले सकता है परन्तु लेखन में लेखक को केवल शब्दों के समुचित प्रयोग का अवलम्ब रहता है। भाव-प्रेषणीयता की जो सुगमता संभाषण में वक्ता को प्राप्त रहती है, वह लेखन-कार्य में लेखक को नहीं। अतः लेखन जहाँ भावाभिव्यक्ति का व्यापक साधन है, वहीं कठिन भी है।

विचाराभिव्यक्ति के उपर्युक्त समस्त साधनों का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है परन्तु यथार्थ रूप से मुख से निःसृत सार्थक और सप्रयोजन ध्वनियाँ—जिन्हें भाषा कहा जाता है—सबमें प्रमुख और समर्थ साधन है। सार्थकता और प्रयोजनशीलता भाषा के अनिवार्य मूल लक्षण हैं। संक्षेप में मनुष्य की सार्थक एवं प्रयोजनशील ध्वनियाँ ही भाषा है।[1]

अपनी भावनाओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति के प्रयोजनों से ही मनुष्य सार्थक ध्वनि-समूहों का सृजन करता है। भाषा-विकास मनुष्य का प्रयत्न साध्य व्यापार है।[2]

यदि कोई एक बात ऐसी है जिस पर सभी भाषाविद् सहमत हैं तो वह यह है कि भाषा की अविर्भाव-प्रक्रिया के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है।[3] यह एक गूढ़ एवं जटिल प्रश्न है, जिस पर कालान्तर से विद्वानों ने विचार करके कतिपय गवेषणा पूर्ण मत एवं सिद्धान्त स्थिर किये हैं, तथापि उनमें एकरूपता एवं प्रामाणिकता का अभाव है। भिन्न-भिन्न भाषा-शास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों में दैवी उत्पत्तिवाद, धातुवाद, अनुकरणवाद, मनोभावाभिव्यक्तिवाद,

---

1. "अपने स्वर को विविध प्रकार से संयुक्त तथा विन्यस्त करने से उसके जो-जो आकार होते हैं उनको संकेतों के सदृश व्यवहार कर अपनी चिन्ताओं को तथा मनोभावों को जिस साधन से हम प्रकाशित करते हैं, उस साधन को हम भाषा कहते हैं।" —श्री नलिन मोहन सान्याल, भाषा-विज्ञान, पृ० ६८।
2. "भाषा-मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किए गए वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।"
—श्री मंगलदेव शास्त्री, भाषा-विज्ञान, पृ० २१।
3. "Ma-rio Pei : The story of language, Page 18.

अनुकरणमूलकतावाद, अमपरिहरणवाद, निर्णयवाद, विकासवाद तथा समन्वयवाद प्रमुख हैं जो भाषा की उत्पत्ति पर पृथक्-पृथक् रूप से प्रकाश डालते हैं।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन मत दैवी उत्पत्तिवाद है, जिसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा हुई है। प्रायः सभी प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य धर्म-पंडितों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। भारतीय मतानुसार आदि भाषा संस्कृत है जो 'देव वाणी' है। उसी से अन्य भाषाओं का विकास हुआ। कैथोलिक ईसाई संसार की समस्त भाषाओं की जननी 'हिब्रू' को मानते हैं, जो ईश्वर द्वारा निर्मित है। यह सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है। जर्मन विद्वान हेल की मान्यता के आधार पर मैक्समूलर ने 'धातुवाद' की प्रतिष्ठा की। उसके अनुसार सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य में एक ऐसी शक्ति थी जिससे वह चार या पाँच सौ धातुओं को जन्म दे सका। इसके बाद उसकी यह शक्ति नष्ट हो गई और उन धातुओं पर ही भाषा का भवन खड़ा हुआ।[1] यह सिद्धान्त भी अवैज्ञानिक है, क्योंकि सभी भाषाओं में धातुएं नहीं होतीं, एकाक्षर कुल की भाषाएं इसका उदाहरण हैं। मनुष्य की धातु निर्माण की शक्ति का आविर्भाव एवं आकस्मिक तिरोभाव भी विचित्र लगता है। हर्डर ने 'अनुकरणमूलकतावाद' का समर्थन करते हुए कहा है कि आदि काल में मनुष्य जड़ तथा चेतन प्रकृति की प्राकृतिक ध्वनियों का अनुकरण करता होगा और बाद में यही ध्वनियाँ उन पदार्थों और जीवों की प्रतीक बन गई होंगी तदनन्तर इन्हीं संकेतों से अन्य शब्द बन गए होंगे।[2] ब्लूम फील्ड का भी मत है कि पशु किसी परिस्थिति की प्रतिक्रिया रूप में ध्वनि करते हैं और इसी से भाषा की उत्पत्ति हुई है।[3] नृतत्व शास्त्री मेलविल जेकब्स और बी०जे० स्टर्न ने वनमानुषों के बारे में लिखा है कि वे अनेक भाववाचक ध्वनियों या साधारण ध्वनि-संकेतों से काम करा लेते हैं। आरम्भ में ये ध्वनियाँ स्वतः प्रेरित होती हैं। क्रमशः जीवन-यापन में इनकी उपयोगिता से लाभ उठाकर मनुष्य अधिक स्पष्ट एवं निश्चित संकेत वाली ध्वनियों से काम लेता है।[4]

मनुष्य समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ माना गया है। अतएव यह तर्क विचित्र सा लगता है कि भाषा के निर्माण में मनुष्य ने स्वयं कुछ न करके अपने से छोटे जीवों का अनुकरण किया और तब शब्दों की रचना की। आंशिक रूप में यह सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि बिल्ली के लिये 'म्याऊँ' मोटर साइकिल के लिए 'फटफटिया' शब्द आदि उदाहरण मनुष्य की उपर्युक्त प्रवृत्ति का परिचय देते हैं परन्तु सम्पूर्ण भाषा-शब्दों का जन्म इस सिद्धान्त पर आधारित नहीं किया जा सकता। मनोभावाभिव्यक्तिवाद के अनुसार भाषा उन हर्ष, भय, शोक, विस्मयादि

1. भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान, पृष्ठ २५।
2. 'साहित्य-सन्देश' भाषा विज्ञान-विशेषांक जुलाई-अगस्त १९५७ में प्रो० गोवर्द्धन शर्मा का 'भाषा की उत्पत्ति' शीर्षक निबन्ध।
3. Bloom Feield Language, Page 40.
4. मेलविल जेकब्स और बी० जे० स्टर्न, जेनरल एंथ्रोपोलिजी न्यूयार्क १९४२ पृ० १७।

मनोभावों के बोधक शब्दों से प्रारम्भ होती है जो मनुष्य के मुख से सहज संस्कारवश ही निकल पड़ते हैं। यह मत भी वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि विभिन्न आवेशों की बोधक ध्वनियाँ सब देशों में समान नहीं हैं। अतः इन्हें स्वभावतः उत्पन्न नहीं कहा जा सकता। दूसरी आपत्ति यह है कि ऐसे शब्द किसी भाषा में सौ से अधिक नहीं है। भाषा का विशाल शब्द समूह केवल इन अल्प संख्यक ध्वनियों पर ही आधारित नहीं किया जा सकता। अनुकरण मूलकतावाद या 'डिंग-डोंग-वाद' के अनुसार शब्द और अर्थ में एक स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। प्रकृति का नियम है कि आघात पाकर प्रत्येक वस्तु ध्वनि करती है। मनुष्य में भी एक विभाविका शक्ति थी जिससे, किसी वस्तु के साथ मनुष्य का संसर्ग होने पर उसके प्रभाव से तदनुकूल ध्वनि का आविर्भाव होता था। इसी प्रकार भाषा का उद्‌भव हुआ। यह मत सर्वथा अवैज्ञानिक एवं त्रुटिपूर्ण है। श्रमपरिहरणवाद के अनुसार कठिन परिश्रम करते समय श्रमिक जन कुछ कहते हुए अपने श्रम का परिहार किया करते हैं। धोबी कपड़े धोते समय 'छियो-छियो' या 'हूँ—छो' की ध्वनि करता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य ने किसी न किसी प्रकार की ध्वनि उत्पन्न की और इन्हीं ध्वनियों से भाषा का विकास हुआ है। यह सिद्धान्त भी वैज्ञानिक नहीं है। निर्णयवाद के अनुसार मनुष्य की एक बृहद् सभा द्वारा कुछ ध्वनि-संकेतों का निर्धारण कर लिया गया। इस प्रकार भाषा का निर्माण हुआ। यह मत निराधार है। भाषा के अभाव में सभा के मध्य विशेष वस्तु के लिए विशेष ध्वनि संकेत का निर्धारण किस प्रकार संभव हो सकता है ? जेस्पर्सन ने इस मत के विरोध में कहा है कि भाषा का निर्माण मानव द्वारा जान कर नहीं किया गया है, बल्कि स्वाभाविक रूप से हुआ है।[1] विकासवाद के अनुसार आरंभ में मनुष्य पशुओं की भाँति कुछ निरर्थक ध्वनियों का उच्चारण करता रहा होगा। धीरे-धीरे जैसे उसने अन्य क्षेत्रों में उन्नति की होगी वैसे ही भाषा में भी विकास होता गया होगा। यह सिद्धान्त भी आपत्ति पूर्ण है। इस सिद्धान्त पर विश्वास करने के उपरान्त हमें मानना होगा कि अन्य क्षेत्रों में जैसे मनुष्य सरलता से जटिलता की ओर उन्मुख हुआ है वैसे ही भाषा के क्षेत्र में भी। परन्तु यह सत्य नहीं है। प्राचीन भाषाओं से आज की भाषाएँ अपेक्षाकृत अधिक सरल हैं। दूसरे प्राचीन भाषाओं में आदिकालिक तत्त्व भी उपलब्ध नहीं होते हैं, जिससे उन्हें आदिकालीन भाषा मान लिया जाय।[2] समस्त सिद्धान्तों की एकांगिता को देखकर कुछ विद्वानों ने समन्वयवाद की स्थापना की। उसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति में अनुकरणवाद अनुरणनवाद, श्रमपरिहरणवाद, मनोभावाभिव्यक्तिवाद, विकासवाद आदि सभी के संयोग की कल्पना की जा सकती है। यद्यपि यह सिद्धान्त भी निर्दोष नहीं है, तथापि भाषा-शास्त्रियों ने इसे सर्वश्रेष्ठ मानकर समस्या का किंचित् समाधान किया है।

---

1. "Language was not deliberately framed by man, but, sprang of necessity from his innermost nature."

'Jesperson, language, Page 27.

2. "But the oldest known languages, the 'parent languages' a they are some times called, have nothing of primitive abous them." —J. Vendryes-language, Page 5t.

--भाषा की प्रकृति पर भी विचार करना आवश्यक है। भाषा को केवल पैतृक सम्पत्ति नहीं माना जा सकता। उसके लिये वातावरण ही प्रधान है। एक नव जात शिशु को माता-पिता से पृथक् किसी अन्य भाषा-भाषी परिवार में रख दिया जाय तो वह उसी परिवार की भाषा सीखेगा। उसी प्रकार भारत में उत्पन्न किसी बालक को विदेश भेज दिया जाय तो वातावरण के प्रभाव से वह भारतीय भाषा भूल जायगा। एक प्रान्त का व्यक्ति अन्य प्रान्त वासी हो जाने पर अपनी प्रान्तीय भाषा बहुत कुछ भूल जाता है।

भाषा पूर्ण रूप से सामाजिक वस्तु है। जन्म के समय शिशु में कोई वाक्-क्षमता नहीं होती। धीरे-धीरे परिवार एवं समाज के सौहार्दमय शिक्षण के द्वारा उसमें संभाषण की क्षमता उत्पन्न होती है। प्रायः देखा गया है कि विशाल परिवार में उत्पन्न बालक का वाक्-ज्ञान अधिक होता है, क्योंकि वहाँ बातचीत के अपेक्षाकृत अधिक प्रसंग रहते हैं। इसके विपरीत छोटे परिवार के बच्चे कम बोलने वाले होते हैं।

भाषा अर्जित सम्पत्ति है कालक्रमागत अथवा रिक्थ रूप में प्राप्त सम्पत्ति नहीं। मनुष्य अपने आस-पास के वातावरण से भाषा का अर्जन करता है। इतना अवश्य है कि प्रत्येक व्यक्ति की अर्जन प्रणाली एवं क्षमता भिन्न-भिन्न होती है। यही कारण है कि एक ही स्थान में रहने वाले समान भाषा-भाषी दो व्यक्तियों की भाषाओं के स्तर में भेद हो जाता है। इस स्तर-भेद के कारण ही भाषा-शैली में व्यक्तित्व का आरोप हो जाता है। भाषा का अर्जन अनुकरणमूलक होता है। अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। इस अनुकरण वृत्ति के कारण मनुष्य अपने परिवार एवं समाज में जो कुछ देखता-सुनता है, उसे ग्रहण कर लेता है।

भाषा निरन्तर परिवर्तनशील होती है। मनुष्य स्वयं विकासशील प्राणी है अतएव उसकी भाषा में भी निरन्तर विकास की संभावनाएँ विद्यमान रहती हैं। अनेक आन्तरिक एवं वाह्य कारणों से उनमें परिवर्तन आते रहते हैं। भाषा की इस परिवर्तनशील वृत्ति के कारण उसका कोई एक अन्तिम रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। मूल भाषा से आविर्भूत भाषा-शाखाएँ उपशाखाओं में विभक्त होकर निरन्तर नवीन शाखाओं के निर्माण में तत्पर रहती हैं। किन्तु यह प्रवृत्ति केवल जीवित भाषाओं में ही उपलब्ध है। मृत भाषाओं में विकास के समस्त द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं।

भाषा की स्वाभाविक विशेषता है, दुरूहता से सरलता की ओर जाना। ज्यों-ज्यों मानव विकास की चरमावस्था की ओर उन्मुख होता जायगा, त्यों-त्यों उसमें अल्प प्रयास से अधिकाधिक लाभ प्राप्ति की आकांक्षा बढ़ती जाएगी और तदनुकूल साधन भी वह अपनाता जाएगा। भाषा की प्रकृति भी ठीक इसी प्रकार की है। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश काल को पार करती हुई भारतीय आर्यभाषा की वर्तमान धारा अपेक्षाकृत सरल मार्ग से प्रसारित हो रही है।

भाषा को सामान्यतः चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मूल भाषा, (२) उप-भाषा, (३) आदर्श भाषा और (४) राष्ट्र-भाषा। भाषा के उपर्युक्त समस्त रूप उसके भौगोलिक विकास पर आधारित हैं।

मूल भाषा वह है जो सबसे आरम्भ में एक साथ रहने वाले एक स्थान के निवासियों का एक वर्ग विशेष बोलता है। मूल स्थान पर कुछ दिनों तक रहने पर जब वहाँ की जनसंख्या अधिक हो जाती है और जीवन निर्वाह के साधनों में कमी आने लगती है तो वहाँ के अधिकांश लोग कई शाखाओं में विभक्त होकर भिन्न-भिन्न दिशाओं में बढ़कर उपयुक्त स्थान पर बस जाते हैं। मूल स्थान से वियुक्त होने समय तो उन सबकी भाषा एक ही रहती है परन्तु नवीन वास स्थानों पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार उनके जीवन-व्यापारों में परिवर्तन आता है, तदनुसार भाषा भी परिवर्तित होने लगती है। एक-दो सदियों उपरान्त उन विभिन्न शाखाओं के लोगों की भाषाओं में अन्तर आ जाता है। कालान्तर से इन पृथक्-पृथक् जा बसने वाली शाखाओं में भी जनसंख्या की वृद्धि एवं साधनों के अभाव के कारण अनेक उपशाखाएँ निकल कर अन्य जा बसती हैं और उनकी भाषाएँ भी उपर्युक्त नियम के अनुसार परिवर्तन को प्राप्त होती हैं। इस प्रकार मानव समूह के वर्गीकरण के साथ-साथ भाषाओं का भी वर्गीकरण चलता रहता है।

मूल भाषा से नि:सृत अन्य भाषा-शाखाएँ ही 'उपभाषा' कहलाती हैं। किसी भाषा की एक शाखा का उससे (मूल भाषा से) तथा अपनी सहवर्तिनी अन्य शाखाओं से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और उक्त शाखा में नयी बोली के तत्त्व आने लगते हैं। यह सम्बन्ध विच्छेदन भौगोलिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से होता है। इस प्रकार उपभाषा उस सीमित क्षेत्र की भाषा को कहा जा सकता है जिसके बोलने वालों का उच्चारण लगभग एक-सा हो तथा जिसमें रूप-रचना, वाक्य-रचना, शब्द-समूह तथा अर्थ-सम्बन्धी कोई स्पष्ट एवं महत्त्वपूर्ण भिन्नता न दृष्टिगत हो।[1]

तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर यह देखा जा सकता है कि भिन्न नाम रूप धारण करने के पश्चात् भी उपभाषाओं में अपनी जननी भाषा से शब्द मौलिक अथवा विकृत रूपों में व्याप्त रहते हैं। किसी भाषा और उसकी विभाषाओं में चाहे जितना अधिक भेद हो; फिर भी उनमें समानता रहती है और एक ही भाषा को भिन्न-भिन्न विभाषाओं को बोलने वाले एक दूसरे को समझ लेते हैं। शब्द कोश की समानता, काल-रचना, कारक-रचना तथा ध्वनि विज्ञान हमें सहज ही में बता देता है कि ये भिन्न-भिन्न विभाषाएँ एक ही भाषा से सम्बन्धित हैं।[2] एक भाषा से उत्पन्न उपभाषाओं का यह तात्त्विक साम्य उस समय भी दृष्टिगोचर होता है, जब एक-एक परिवार की भाषाएँ दूर-दूर तक फैली हुई रहती हैं और बीच-बीच में भिन्न-भिन्न भाषा-परिवारों का सम्पर्क प्राप्त होता रहता है।[3]

मूल भाषा तथा उससे उत्पन्न भाषाओं में उपलब्ध यह साम्य तब तक नहीं मिट सकता जब तक उनके बोलने वालों में समीपता या मेल-मिलाप बना रहता है। सम्पूर्ण पार्थक्य की कल्पना तभी की जा सकती है, जब पर्वत, नदी आदि स्वाभाविक

1. भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान, पृ० ४४।
2. आचार्य चतुरसेन शास्त्री, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास पृ० ४-५।
3. मंगलदेव शास्त्री, भाषा विज्ञान, पृ० ९९।

अवरोधों के कारण मूल भाषा-भाषी तथा अन्य उपभाषा-भाषी व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध पूर्णत: समाप्त हो जाय। अवरोध के न्यूनाधिक्य पर ही भाषा-भेद का न्यूनाधिक्य निर्भर करता है। किसी भी भाषा तथा उससे उत्पन्न उपभाषा को तब तक आदर्श भाषा या परिनिष्ठित भाषा नहीं कहा जा सकता, जब तक उसे साहित्य, धर्म या राजनीति के कारण महत्व न प्राप्त हो जाय। महत्व प्राप्त करने के पश्चात् भाषा या उपभाषा परिनिष्ठित भाषा बन जाती है और उसका आदर्श रूप प्रतिष्ठित हो जाता है। 'भाषा' शब्द का प्रयोग प्राय: परिनिष्ठित भाषा के लिए ही होता है और महत्व प्राप्त करने के पहले भाषा के लिए 'बोली' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार बोलियों से ही भाषा का विकास होता है। बोलियों का क्षेत्र भाषा की अपेक्षा सीमित होता है। हर बारह कोस पर बोलियाँ बदल जाती हैं। परन्तु भाषा का क्षेत्र विस्तृत होता है। जनों में परस्पर विनिमय की आवश्यकता उत्पन्न होने पर उनकी किसी एक बोली के आधार पर परिनिष्ठित भाषा का विकास होता है। किसी भी बोली या भाषा की सीमाएँ अचल और सनातन नहीं होतीं। जो आज भाषा के पद पर आसीन है वही किन्हीं परिस्थितियों वश बोली मात्र रह सकती है और आज जो बोली है वह कल भाषा हो सकती है; उदाहरणार्थ—पहले फ्रांस की साहित्यिक भाषा प्रोवांसाल थी, पूँजीवादी विकास के केन्द्र उत्तर में होने के कारण, उत्तरी फ्रांस की बोली भाषा बन गई और प्रोवांसाल बोली मात्र रह गई। इसी प्रकार उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा ब्रजभाषा थी परन्तु विशेष परिस्थितियों के कारण वह बोली मात्र रह गई और खड़ी बोली भाषा पद पर आरूढ़ हो गई।[1]

बोलियाँ महत्व प्राप्त करके जब 'भाषा' बन जाती हैं, तब उनमें से किसी एक भाषा को सम्पूर्ण राष्ट्र की भाषा बना दिया जाता है जिससे राष्ट्र के कार्य सुचारु रूप से चल सकें एवं विभिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति किसी एक निश्चित भाषा के द्वारा पारस्परिक विचार विनिमय कर सकें। खड़ीबोली हिन्दी आज भारत की भाषा ही नहीं, राष्ट्र भाषा भी हो गई है।

बोलियाँ किन कारणों से महत्व प्राप्त करके भाषा पद पर आसीन हो जाती हैं, इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है; यथा—

(१) अनेक बोलियों में अन्य सभी के मृत हो जाने पर एकमात्र अवशिष्ट बोली को भाषा संज्ञा प्राप्त हो जाती है। 'ब्राहुई' एवं 'मुण्डा' इसी कोटि की भाषाएँ हैं।

(२) उत्कृष्ट साहित्य सर्जना के कारण भी कोई बोली प्रधानता प्राप्त करके भाषा कहलाने लगती है, उदाहरणस्वरूप—ब्रजभाषा में अधिकांश भक्ति एवं रीतिकालीन साहित्य लिखा गया और वह अपने समय की साहित्यिक भाषा हो गई।

(३) धार्मिक कारणों से भी स्थान-विशेष की बोली महत्वपूर्ण बन जाती है और भाषा सुलभ गुणों में धारण कर लेती है। राम एवं कृष्ण भक्ति

1. डा० रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ० ३६७।

शासन के प्रधान केन्द्र मथुरा एवं अयोध्या की महिमा के कारण ब्रज एवं अवधी की महत्ता द्रष्टव्य है।

(४) राजनीतिक कारणों से भी बोलियों की महत्ता में वृद्धि होती है। राजधानी के आस-पास की बोली श्रेष्ठतम् स्वरूप धारण कर लेती है; उदाहरणार्थ—वर्तमान राजधानी दिल्ली के आस-पास की बोली 'खड़ी बोली' बोली से बढ़ कर भाषा का रूप धारण कर चुकी है।

(५) बोलने वालों की महत्ता का प्रभाव भी बोलियों पर पड़ता है। शक्तिशाली जाति की बोली सब महत्व होकर भाषा बन जाती है तथा अन्य लघु जातियों की बोली, बोली मात्र रह जाती है।

(६) एक केन्द्र अथवा एक-सी स्वाभाविक सीमाओं के अन्तर्गत रहने वालों की बोलियों का परिवर्तन एक ही ढंग से होता है, फलतः उनका एक विशिष्ट रूप तैयार हो जाता है। जितनी ही विशिष्टता या अन्य बोलियों से भिन्नता बढ़ती जाएगी बोली का एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में स्थिर होने की संभावना बढ़ती जायगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा के मुख्यतः दो रूप होते हैं। बोली एवं परिनिष्ठित भाषा। बोलियों के आधार पर ही भाषा का विकास होता है। विकास की चरम स्थिति पर पहुँच कर भाषा राष्ट्रभाषा बन जाती है और उसके महत्व का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। बोली और भाषा के पार्थक्य को किसी सीमा-रेखा द्वारा विभाजित करना अत्यन्त कठिन है। ग्रियर्सन ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—

"भाषा और बोली में प्रायः वही सम्बन्ध है जो पहाड़ और पहाड़ी में है। यह निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि एवरेस्ट पहाड़ है और हालार्न पहाड़ी है, किन्तु इन दोनों के बीच की विभाजन रेखा को निश्चित रूप से बताना कठिन है।"[1]

भारतीय भाषाएँ और बोलियाँ

विश्व की भाषाओं की संख्या दो सहस्र के लगभग है जिनमें बोलियाँ अथवा उपभाषाओं को समाविष्ट नहीं किया गया है। विश्वव्याप्त इन समस्त भाषाओं की विभिन्नता में एकता का सम्बन्ध ढूँढ कर उनका पारिवारिक वर्गीकरण किया गया है। सुविधा के लिए विद्वानों ने सम्पूर्ण विश्व को चार खण्डों में विभाजित किया है—(१) अफ्रीका खण्ड, (२) यूरेशिया खण्ड, (३) प्रशांत महासागरीय खण्ड, (४) अमरीका खण्ड। यूरेशिया खण्ड के अन्तर्गत भारोपीय परिवार की अवस्थिति है। भारोपीय परिवार का आशय उन समस्त भाषाओं से है जो प्राचीन भारत-यूरोपीय मूल भाषा से निकली हैं। भारत-यूरोपीय शब्द इस भाषा-परिवार के भारतवर्ष से लेकर यूरोप तक के भौगोलिक

---

1. भारत का भाषा सर्वेक्षण, अनु॰ उदयनारायण तिवारी, पृ॰ ४२।

विस्तार की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। ध्वनि के आधार पर भारोपीय परिवार को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—केन्टुम और शतम् वर्ग।

शतम् वर्ग के अन्तर्गत भारोपीय परिवार की पाँच शाखाएँ हैं जिनमें आर्य शाखा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे भारत-ईरानी शाखा के नाम से भी अभिहित किया जाता है, क्योंकि अपने आक्रमण-काल में आर्यों की कुछ संख्या भारतवर्ष में पहुँच गई थी और कुछ ईरान में रह गई थी, इसलिए समस्त आर्य जाति की भाषा आर्य-भाषा अथवा भारत-ईरानी भाषा कहलाई।

इसी आधार पर आर्य-भाषा-शाखा को दो वर्गों में रखा गया—(१) भारतीय आर्य भाषा, (२) ईरानी आर्य-भाषा। इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त, भाषा वैज्ञानिकों ने एक तीसरा वर्ग भी माना है जिसे 'दरदीय' कहा गया। दरदीय भाषाओं के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं, जिन्हें भारतीय आर्य-भाषा एवं ईरानी आर्यभाषा का मध्यवर्ती समझा गया; यथा—भारत के उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश एवं पामीर की उपत्यका की भाषाएँ तथा कश्मीरी भाषा। इन भाषाओं में भारतीय एवं ईरानी दोनों आर्य-भाषाओं की विशेषताएँ लक्षित होती हैं।

भारतीय आर्य-भाषाओं को विवरण की सुविधा के लिए तीन भागों में विभाजित किया जाता है—(१) प्राचीन आर्य-भाषा, (२) मध्यकालीन आर्य-भाषा, और (३) आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा।

प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा

इसका समय प्रागैतिहासिक काल से ५०० ई० पू० तक माना जा सकता है। भारत में आर्यों के आगमन-काल के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रतिपादित हैं; फिर भी १५०० ई० पू० के लगभग उनके आगमन की कल्पना की जाती है। भारत में आने वाले आर्यों के दल अपने साथ यज्ञ-परायण-संस्कृति लाये थे। प्राचीन ईरानी संस्कृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत-प्रवेश के पूर्व ही आर्यों के मध्य इन्द्र, मित्र, वरुण आदि देवताओं की उपासना का प्रचलन था।

भारत में प्रविष्ट होने के उपरान्त यहाँ भी उनकी उपासना प्रणालियों और याज्ञिक विधि-विधानों का विकास होता रहा। देवताओं की प्रशंसा में आर्य-ऋषि सूक्तों की रचना करते थे, जिन्हें विभिन्न ऋषि-परिवारों ने संगृहीत करके सुरक्षित रखा। यह संकलन 'ऋग्वेद-संहिता' के रूप में, प्राचीन युग की सर्वोत्तम निधि है। भाषा के पुरातन स्वरूप के ज्ञान के निमित्त इसकी अत्यधिक महत्ता है।

भारत में प्रवेश करने वाले आर्यों के विभिन्न दलों की भाषा नितान्त एकरूप नहीं थी।[1] उनमें परस्पर कुछ भिन्नताएँ अवश्य थीं, परन्तु उनमें साहित्यिक भाषा का एक सर्वमान्य रूप विकसित हो गया था। इसी सर्वमान्य साहित्यिक भाषा में, 'ऋक् संहिता' के सूक्तों की रचना हुई। यज्ञों के विकास के साथ-साथ वैदिक वाङ्मय में

---

1. "Aryan tribes which kept coming into India for almost a millennium could not be speaking one common language as is generally supposed."
S.S. Narula Scientific History of the Hindi Language, Page.14-15

विशेष वृद्धि होती गई। वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत तीन विभाग हैं—(१) संहिता, (२) ब्राह्मण, (३) उपनिषद्। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों की भाषा क्रमशः विकसित हो हुई जान पड़ती है। इसी क्रमिक विकास-धारा के आधार पर आगे चल कर सूत्रों की भाषा तथा जनभाषा में वैभिन्य की मात्रा बढ़ती गई और वहाँ दुर्बोधता आती गई

पाणिनि के समय तक वैदिक वाङ्मय की भाषा और सामान्य जन-भाषा में विशाल अन्तर आ गया था।[1] उस समय संस्कृत शिष्ट समाज के परस्पर विचार-विनिमय की भाषा थी। पाणिनि ने अपने समय की, शिष्ट समाज में व्यवहृत इस भाषा को ही आदर्श रूप में ग्रहण कर प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' की रचना की। उन्होंने वैदिक भाषा को छन्दस संज्ञा प्रदान की है तथा अपने व्याकरण की आदर्श भाषा को लोक-प्रचलित भाषा, संस्कृत कहा है। कतिपय विद्वानों द्वारा संस्कृत के लोक-प्रचलित होने पर सन्देह व्यक्त किया गया है।[2]

अधिकांश भाषा-विचारकों ने संस्कृत को बोलचाल की भाषा के रूप में स्वीकार किया है।[3]

---

1. Dr. Vasudev Saran Aggarwal has decided Sanskrit as the "Standard speech of the Sistas, i.e. cultured persons, who even without instruction were capable of using the correct speech."
—'India as known to Panini' University of Lucknow.

2. "Sanskrit can only be an artificial class language........Panini's system of grammer could not have, all at once, been distilled by him out of a colloquial Sanskrit. In fact a language guided by such rigid rules of grammer and phonetics could not have been a collequial speech, nor could it be the mother tongue of even the learned of pandits."
S.S. Narula, Scientifc History of the Hindi Language, Page 18.

3. "Sanskrit has been a spoken language not only in the times of Yaska and Panini but we have sufficient evidence to believe that it continued to be so even at a much later period, we mean that of Katayan and Patanjali............in the firtile period of its literary development, it was undoubtedly a spoken language, though its currency was possibly limited to the educated section of the upper class."
—Prabhat Chandra Chakravarti, 'The linguistic Speculation of the Hindus University of Calcutta.

"अष्टाध्यायी के द्वारा संस्कृत भाषा का रूप हमेशा के लिए स्थिर हो गया, परन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता जैसा कुछ यूरोपीय विद्वानों ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संस्कृत सर्वथा 'कृत्रिम भाषा' है, और कभी बोल-चाल की भाषा न थी"—डा० उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ५६।

व्याकरण के नियमों में जकड़ जाने पर संस्कृत का विकास रुक गया, किन्तु बोलचाल की भाषा निरन्तर नवीन रूप धारण करती जा रही थी। सामान्य जन-भाषा साहित्यिक स्तर पर पहुँच कर, विभिन्न नियमों एवं रूढ़ियों में ग्रसित होकर जब सामान्य जन के लिए दुर्बोध हो उठती है तभी मनुष्य उसे भूलने लगता है और एक नई जन-भाषा तैयार होने लगती है।[1]

समस्त उत्तरापथ में आर्यों के प्रसार के साथ-साथ प्राचीन आर्यभाषा के रूप में भी परिवर्तन-विवर्तन होता जा रहा था। भाषा स्थानगत एवं कालगत विभिन्नताएँ बढ़ती जा रही थीं। इस प्रकार वह विकास के मध्य स्तर पर पहुँच गई।

मध्य भारतीय आर्य-भाषा

इसका काल ५०० ई० पू० से लेकर १००० ई० तक माना जाता है। इस काल की भाषाओं के अन्तर्गत अशोक के अभिलेखों की भाषा पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की गणना होती है। ईसा से १०००-६००० वर्ष पूर्व तक आर्यों के प्रसार के परिणामस्वरूप उत्तर-पश्चिम में गांधार प्रदेश से लेकर पूर्व में विदेह एवं मगध पर्यन्त, आर्य राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। इसी बीच स्थानीय अनार्य जातियों का आर्यों की सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित हो जाना स्वाभाविक था। आर्य-भाषा का भी उन पर स्वाभाविक प्रभाव पड़ा और अन्य बातों की भाँति इसे भी उन्होंने ग्रहण करने का प्रयास किया। परन्तु पूर्णतः नई भाषा होने के कारण वे इसका शुद्ध और सही रूप ग्रहण नहीं कर पाए। फलतः उनके मुख से आर्य-भाषा का प्राचीन-रूप विकृत हो उठा। स्थान एवं कालगत विशेषताओं से युक्त होकर भाषा अपने प्राचीन रूप से भिन्न एक मध्य रूप धारण कर उठी। भाषा सम्बन्धी ये परिवर्तन समस्त उत्तरापथ में समान जाति से उत्पन्न नहीं हुए। उदीच्य भाषा (उत्तर-पश्चिम-सीमान्त तथा पंजाब की भाषा) में परिवर्तन की गति मंद होने के कारण वह प्राचीन आर्य-भाषा के निकट रही। मध्य देश की भाषा पर इन परिवर्तनों का प्रभाव अवश्य पड़ा, परन्तु उच्चारण की शिथिलता उसमें अधिक नहीं आ पाई। प्राच्य भाषा (वर्तमान अवध उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग तथा बिहार की भाषा) में परिवर्तन की गति अति तीव्र रहने से, आर्य-भाषा के स्वरूप-परिवर्तन का प्रारम्भ यहीं से हुआ। आगे चल कर सर्वत्र मध्यकालीन आर्य-भाषा के तत्त्व अभ्युदित हो उठे।[2]

आर्य-भाषा के मध्यकालीन विकास के सम्यक् अध्ययन हेतु इसे तीन पर्वों में विभाजित किया जाता है—

---

1. Speech is necessary to man and innate in a given Society that if the present languages were to be forgotten, new languages very much similar to the previous ones would soon make their appearance.

—R. A. wilson, 'The birth of Language.

2. डा० उदयनारायण तिवारी, 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास' पृ० ५१।

पृथक् जिन तत्वों की उत्पत्ति हुई उनका विकास मध्यभारतीय आर्य-भाषा के द्वितीय एवं तृतीय पर्व में विशेष रूप से हुआ।[1]

द्वितीय पर्व

यह १ ई० से लेकर ५०० ई० तक प्राकृत भाषाओं का विकास का काल है। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति प्रकृति से हुई है। जो कुछ प्राकृतिक है, स्वाभाविक है वह प्राकृत हुआ। इस प्रकार प्राकृत का अर्थ, भाषा के क्षेत्र में जन-साधारण की भाषा माना गया। शिष्ट समाज की भाषा संस्कृत थी और सामान्य जन की भाषा प्राकृत। अपने स्वाभाविक और प्राकृतिक रूप में विकसित होने पर भी प्राकृत भाषाओं के मूल में संस्कृत का आधार माना गया है।[2] इस संस्कृत का आशय वैदिक संस्कृत (छन्दस्) तथा उसके अनन्तर लोक प्रचलित संस्कृत—दोनों से है।

प्राकृत भाषाओं के आविर्भूत होने पर जन-सामान्य के व्यवहार क्षेत्र में संस्कृत का व्यापकत्व सकुचित होने लगा। साहित्य में भी संस्कृत के साथ-साथ प्राकृतों का समावेश होने लगा। इसमें धर्म-पुस्तकों तथा काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन होने लगा, संस्कृत नाटकों में इनका स्वतन्त्र प्रवेश प्रारम्भ हो गया।

समकालीन तथा उत्तरकालीन विद्वानों ने इन प्राकृत-भाषाओं पर व्याकरण ग्रंथों का निर्माण किया तथा उनके स्वरूप पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया। प्राकृत वैयाकरणों में सर्वप्रथम वररुचि ने इनके चार भेद किए—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। जैनाचार्य हेमचन्द्र ने इन चारों के अतिरिक्त आर्षी (अर्ध मागधी), चूलिका पैशाचिक और अपभ्रंश तीन प्रकार की प्राकृतों का उल्लेख किया है। त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज, नरसिंह आदि वैयाकरणों ने हेमचन्द्र के विभाजन को स्वीकार किया है। परन्तु आर्षी प्राकृत को त्रिविक्रम के अतिरिक्त अन्य ने छोड़ दिया। प्रकार की इन प्राकृत भाषाओं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका और अपभ्रंश को 'षड्भाषा' कहा जाता है।

मार्कण्डेय ने सोलह प्राकृत-भाषाओं का उल्लेख किया है। उन्होंने प्राकृतों को भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच चार वर्गों में विभाजित किया है। भाषा के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती, मागधी, दाक्षिणात्य एवं आहृती की विभाषा के अन्तर्गत शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिकी, ढक्की; अपभ्रंश के अन्तर्गत नागर, उपनागर, व्राचड (इनमें अपभ्रंश के २७ रूप अन्तर्भूत हैं। पैशाची के अन्तर्गत कैकय, शौरसेन, पांचाल (इसमें ११ पैशाची विभाषाएँ अन्तर्भूत हैं) की गणना की गयी है।[3]

---

1. डा० उदयनारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ९२।
2. "प्रकृति का आशय यदि स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक विकास से लिया जाय तो भी प्राकृत भाषाओं की प्रकृति के मूल में कोई न कोई भाषा अवश्य होगी जिसका आधार लेकर प्राकृतों का विकास हुआ, वह भाषा संस्कृत मानी गयी है।" —डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल, 'प्राकृत-विमर्श', पृ० २ (लखनऊ विश्वविद्यालय)।
3. वही, पृ० ६-७।

समस्त प्राकृत-भाषाओं में महाराष्ट्री प्राकृत प्रधान मानी गई है। कालान्तर में प्राकृत-भाषा साहित्य में प्रविष्ट होकर शिष्टजनों के पठन-पाठन एवं ग्रन्थ-निर्माण की भाषा बन कर रह गई। उनका स्वरूप लोक-प्रचलित सामान्य जन-भाषा से भिन्न होता गया।

तृतीय पर्व

५०० ई० से लेकर १००० ई० तक अपभ्रंश भाषाओं के विकास का युग है। प्राकृत भाषाओं के साहित्य रूढ़ और व्याकरण-बद्ध हो जाने के उपरान्त बोलचाल की भाषा अपनी स्वतन्त्र धारा में प्रवाहित होती हुई जन-सामान्य के पारस्परिक भाव-विनिमय का माध्यम बनी रही। इसे ही अपभ्रंश संज्ञा से अभिहित किया गया। अपभ्रंश नाम के मूल में संस्कृत शब्दों के अपभ्रष्ट रूपों का ग्रहण, कारण रूप से विद्यमान है। संस्कृत पंडितों ने तिरस्कार भाव से यह नाम दिया था। बाद में यही संज्ञा रूप से प्रचलित हो गया। आरम्भ में अपभ्रंश शब्द किसी भाषा के लिए प्रयुक्त नहीं होता था। अशिक्षित जनों द्वारा बोले गए विकार ग्रस्त, अशुद्ध शब्द अपभ्रष्ट माने जाते थे। इसी अर्थ में पतञ्जलि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया है।[1] अपभ्रंश भाषाओं का साहित्य में प्रवेश ईसा की छठी शताब्दी में दृष्टिगोचर होता है। भामह एवं दण्डी के उल्लेख तथा बलभी के राजा धरसेन के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस समय अपभ्रंश में साहित्य-रचना होने लगी थी।[2] वैसे तो ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिखित 'प्रेम चरित' नामक प्राकृत ग्रन्थ में भी अपभ्रंश के कुछ लक्षण प्राप्त होते हैं। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में भी अपभ्रंश की छाया मुखरित है। यदि इनकी प्रामाणिकता पर विश्वास किया जाय तो अपभ्रंश का प्रारम्भ-काल पहले से ही मानना पड़ेगा, परन्तु यह विवाद ग्रस्त है।

---

1. "भूयांसोह्यपशब्दा, अल्पीयासः शब्दाः।
   एकैकस्य शब्दस्य बहवो अपभ्रंशाः।"
   अर्थात्—"अपशब्द बहुत हैं और शब्द थोड़े हैं। एक-एक शब्द के बहुत-से अपभ्रंश पाए जाते हैं।"
2. भामह ने काव्य के गद्य और पद्य भेद बता कर भाषा की दृष्टि से तीन प्रकार की काव्य-भाषाओं के नाम गिनाए हैं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश।
   "संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।" भामह, काव्यालंकार, १-२६।
   "आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।" दण्डी काव्यादर्श।
   अर्थात्—'अभीर आदि असंस्कृत जातियों की भाषा काव्यों के लिए अपभ्रंश समझी जाती है।"
   राजा धरसेन के शिलालेख में, अपने पिता के सम्बन्ध में कहा गया है—
   "संस्कृत प्राकृतापभ्रंश भाषा त्रय प्रतिबद्ध प्रबन्ध रचना निपुणान्तः करणः।"
   अर्थात्—वे संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश—तीनों भाषाओं में प्रबन्ध रचना करने में निपुण थे।

अपभ्रंश साहित्य में भाषा गत भेद अत्यल्प है। समस्त साहित्य को एक ही परिनिष्ठित भाषा-युक्त मानना चाहिए। परन्तु सुविधा की दृष्टि से वैयाकरणों ने देश-भेद से अपभ्रंश भाषा के अनेक भेद निर्धारित किए हैं। ११ वीं शताब्दी में नामिसाधु ने अपभ्रंश के तीन भेदों का उल्लेख किया—उपनागर, आभीर और ग्राम्य। परवर्ती वैयाकरणों ने इन्हीं तीन भेदों को इस प्रकार रखा—नागर, उपनागर और व्राचड। १७ वीं शताब्दी में मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के २७ भेदों का वर्णन किया। परन्तु इन्होंने मात्र नाम गणना की है, उनके भेदक लक्षणों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अपभ्रंश का सर्वाधिक प्रामाणिक व्याकरण हेमचन्द्र ने लिखा है।

प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप विकसित हुआ होगा, इस दृष्टि से विचार करने पर, प्राकृतों के नाम पर ही अपभ्रंशों का नामकरण किया गया।[1] इस प्रकार पैशाची, कैकय, ख्वस, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री प्राकृतों से क्रमशः पैशाची, कैकय, ख्वस, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री अपभ्रंशों का विकास माना गया।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ

इनका काल १००० ई० से आरम्भ होकर वर्तमान युग तक चलता आ रहा है। अपभ्रंश-काल के अवसान एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल के अभ्युदय के बीच का काल इन भाषाओं के विकास का काल है, जिसका निश्चित और स्पष्ट स्वरूप निर्धारण नहीं हो सका है। १२ वीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा अपभ्रंश व्याकरण का निर्माण सिद्ध करता है कि उस समय तक अपभ्रंश साहित्य-रूढ़ भाषा हो चुकी थी। इस स्थिति में बोलचाल की भाषा का प्रवाह का अपना एक नवीन स्वरूप धारण कर रहा होगा, यह निश्चित है। इधर १६ वीं शताब्दी से आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में साहित्य रचनाएँ प्राप्त होने लगती हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि साहित्यिक स्तर पर आने के पूर्व ही इन आधुनिक आर्य-भाषाओं का अस्तित्व विकसित हो चला था। आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् १३ वीं शताब्दी से लेकर १५ वीं शताब्दी तक का काल संक्रान्ति काल कहा जा सकता है, जिसमें अपभ्रंश के आवरण को त्याग कर भाषा का स्वरूप आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के तत्वों को धारण करता आ रहा था। इसी संक्रान्ति-कालीन भाषा को श्री गुलेरी जी ने पुरानी हिन्दी नाम दिया। अपने निबन्ध में उन्होंने अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी का भेद स्पष्ट कर दिया है।[2]

---

1. "इतना निश्चय समझना चाहिए कि जिन प्रान्तों में प्राकृतें में बोली जाती थीं उनमें ही उत्तरकाल में उस-उस प्रान्तों के अपभ्रंशों का प्रयोग होने लगा।"
—बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा-विज्ञान, पृ० २५२।
2. "पुरानी अपभ्रंश, संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिन्दी से।............अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ आरम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन, किन्तु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम विचारपूर्ण अध्ययन सर जार्ज इब्राहीम ग्रियर्सन के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सन् १८८० ई० में डा० ए० एफ० आर० हार्नले ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि भारत में आर्यों के दो आक्रमण हुए थे। पूर्वागत आक्रमणकारी आर्य पंजाब में आकर बस गए। द्वितीय आर्य-दल ने अपने आक्रमण काल में काबुल नदी के मार्ग से गिलगिल एवं चित्राल होते हुए मध्यदेश मे प्रवेश किया। आर्यों के इस द्वितीय आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि पूर्वागत आर्यों को तीन दिशाओं—पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम में फैलने को बाध्य होना पड़ा। नवागत आर्य अपने साथ जो यह परायण संस्कृति लाए थे, उसका प्रसार मध्यदेश मे होने लगा। मध्य-देश-स्थित होने के कारण वे भीतरी आर्य कहलाए तथा बाह्य क्षेत्रों मे चारों ओर फैले पूर्वागत आर्य बाहरी आर्य कहलाए। इन दोनों आर्य दलों में अन्य मौलिक भेदों के साथ भाषा-गत भेद भी था। ग्रियर्सन ने हार्नले के सम्पूर्ण सिद्धान्त से सहमत न होते हुए भी[1], भाषागत बाहरी और भीतरी भेद को महत्वपूर्ण माना।[2] उन्होने इसी आधार पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विभाजन प्रस्तुत किया।

भाषा-सम्बन्धी यह वर्गीकरण ध्वनि तथा व्याकरण की विशेषताओं का ध्यान रखते हुए किया गया है।[3]

(अ) बाहरी उपशाखा

- (क) उत्तर-पश्चिमी समुदाय
  - १. लँहदा या पश्चिमी पंजाबी
  - २. सिन्धी

सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कहते हैं और पुरानी हिन्दी भी। ....संस्कृत उत्पद्यते का प्राकृत रूप 'उप्पज्जइ' है जो छट-छिर कर 'उप्पजई' के रूप मे है। अब यह 'उप्पजइ' अपभ्रंश माना जाय या पुरानी हिन्दी ? 'जइ' का उच्चारणानुसार मेल करने से 'उपजै' हो जाता है। (संयुक्त प्रकार के कारण ३ की मात्रा की गुरुता मान कर ऊपजै सही) जिसे हम हिन्दी पहचानते हैं।'—पं० चन्द्रधर शर्मा, गुलेरी, 'पुरानी हिन्दी', प्रथम संस्करण, सं० २००५, पृष्ठ ११-१२, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

1. "मैं महान विद्वान के ऊपर के सिद्धान्त को पूर्णतया स्वीकार करने मे असमर्थ हूँ, क्योंकि भाषागत पार्थक्य की व्यवस्था के लिए दो विभिन्न आक्रमणों की कल्पना मुझे अनावश्यक प्रतीत होती है—ग्रियर्सन, भारत का भाषा-सर्वेक्षण पृष्ठ २१४, खण्ड १, भाग १, अनु० डा० उदयनारायण तिवारी, १९५९।
2. देखिए, 'बुलेटिन आफ द स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज', पृष्ठ २२ लंदन इंस्टिट्यूशन, भाग १, खण्ड ३, १९३०।
3. ग्रियर्सन: 'भारत का भाषा-सर्वेक्षण' —पृ० २२२-२२३, भाग १ खण्ड १, अनु० उदयनारायण तिवारी, १९५९।

(ख) दक्षिणी समुदाय
- ३. मराठी

(ग) पूर्वी समुदाय
- ४. उड़िया
- ५. बिहारी
- ६. बंगला
- ७. असमिया

(आ) मध्य उपशाखा

(घ) बीच का समुदाय
- ८. पूर्वी हिन्दी

(इ) भीतरी उपशाखा

(ङ) केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय
- ९. पश्चिमी हिन्दी
- १०. पंजाबी
- ११. गुजराती
- १२. भीली
- १३. खानदेशी
- १४. राजस्थानी

(च) पहाड़ी समुदाय
- १५. पूर्वी पहाड़ी या नेपाली
- १६. मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी
- १७. पश्चिमी पहाड़ी

इस प्रकार समस्त आधुनिक भारतीय आर्य-भाषायें तीन उपशाखाओं ६ वर्ग में विभाजित हैं। मध्यदेश को दृष्टि में रखते हुए ग्रियर्सन ने दो मुख्य उपशाखाओं में भाषा का विभाजन किया है—बाहरी और भीतरी उपशाखा। भौगोलिक दृष्टि से गुजरात की स्थिति बाहरी क्षेत्र में होते हुए भी उसकी भाषा को भीतरी उपशाखा के अन्तर्गत रखा गया है। इसका कारण यह है कि मध्यदेश स्थित मथुरावासियों ने इस प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित करके इसे भीतरी विशेषताओं से प्रभाव-ग्रस्त कर दिया था। ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त वर्गीकरण की विशद आलोचना करते हुए प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने उसकी अशुद्धता के पर्याप्त कारण उपस्थित किए हैं।[1]

---

1. बाबू श्यामसुन्दरदास, हिन्दी भाषा, पृ० २६।

(आ) अन्तरंग भाषाएँ—

(क) मध्यदेशीय भाषा से अधिक सम्बद्ध

२. पंजाबी

३. राजस्थानी

४. गुजराती

५. पूर्वी पहाड़ी

६. केन्द्रस्थ पहाड़ी

७. पश्चिमी पहाड़ी

(ख) बहिरंग भाषाओं से अधिक सम्बद्ध

८. पूर्वी हिन्दी

(इ) बहिरंग भाषाएँ—

(ग) पश्चिमोत्तर वर्ग

९. लंहदा

१०. सिन्धी

(घ) दक्षिणी वर्ग

११. मराठी

(ङ) पूर्वी वर्ग

१२. बिहारी

१३. उड़िया

१४. बँगला

१५. असमिया

यहाँ भीली गुजराती में तथा खानदेशी राजस्थानी में अन्तर्भूत हो जाती है। परवर्ती भाषा-शास्त्रियों ने ग्रियर्सन के इस संशोधित वर्गीकरण को मान्यता प्रदान की है।

प्रायः भाषा का नामकरण प्रान्तीयता के आधार पर किया गया है। एक प्रान्त में प्रचलित अनेक बोलियाँ हो सकती हैं जिनकी गणना प्रतिनिधि भाषा के अन्तर्गत की जाएगी। इस प्रकार समस्त आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की पृथक्-पृथक् सम्बन्धित बोलियाँ हैं, जिनका निर्धारण भाषा-शास्त्रियों द्वारा निम्नांकित रूप में किया गया है—

भाषा	बोलियाँ
हिन्दी	ब्रज भाषा
	कन्नौजी
	बुन्देली
	बांगरू
	खड़ीबोली
पंजाबी	डोग्री
राजस्थानी	मेवाती
	मालवी
	मारवाड़ी
	जयपुरी
गुजराती	
पूर्वी पहाड़ी	
केन्द्रस्थ पहाड़ी	कुमाँउनी
	गढ़वाली
पश्चिमी पहाड़ी	
पूर्वी हिन्दी	अवधी
	बघेली
	छत्तीसगढ़ी
लँहदा	केन्द्रीय लँहदा
	मुल्तानी
	पोठवारी
	धन्नी
सिन्धी	बिचोली
	सिरैकी
	लारी
	थरेली
	कच्छी
मराठी	देशी मराठी
	कोंकणी
	बरारी

बिहारी भोजपुरी
मगही
मैथिली
उड़िया
बंगला
असमियो

भारतीय संविधान में चौदह भाषाओं को प्रधानता दी गई है—संस्कृत, उर्दू, असमी, बंगला, उड़िया, मराठी, तेलुगु, कन्नड़, तमिल, मलयालम, गुजराती, पंजाबी, कश्मीरी तथा हिन्दी। हिन्दी भाषा से तात्पर्य देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली साहित्यिक खड़ी बोली से है जो बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य-प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, तथा हरियाना प्रदेश की राज भाषा है। इसका विस्तार उत्तर में शिमला से लेकर दक्षिण में रामपुर तक और पश्चिम में जैसलमेर से लेकर पूर्व में भागलपुर तक है। इस विशाल हिन्दी प्रदेश के अन्तर्गत ये बोलियाँ आ जाती हैं; यथा—मैथिली, मगही, भोजपुरी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली, खड़ीबोली, हरियाना, जयपुरी, हाड़ौती, मेवाती, मारवाड़ी, मेवाड़ी और मालवी तथा गढ़वाली, कुमायूं, और शिमिला प्रदेश की बोलियाँ। ग्रियर्सन के भाषा-सम्बन्धी वर्गीकरण में इन्हीं बोलियों को क्रमशः बिहारी, पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी राजस्थानी और पहाड़ी भाषाओं में विभक्त किया गया है। हिन्दी प्रदेश को वहाँ सीमित क्षेत्र (केवल पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी) में बद्ध रखा गया है। बिहारी बोलियाँ, ग्रियर्सन के अनुसार, हिन्दी क्षेत्र से बाहर की हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने ग्रियर्सन के मत को अवैज्ञानिक तथा अस्वाभाविक स्वीकार करते हुए भारतीय विधान के अन्तर्गत स्वीकृत हिन्दी-प्रदेश को अधिक उचित माना है।[1] इस दृष्टि कोण के आधार पर स्थानीय बोलियों में परस्पर एकता एवं दृढ़ता की भावना का प्रसार होगा।

भोजपुरी और अवधी बोलियों का विकास

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास-प्रवाह का आधार प्राकृत और अपभ्रंश की भूमि है। संक्रान्ति-काल में अपभ्रंश के सहारे आधुनिक भाषाओं का उद्‌भव होने लगा था। इस सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने एक-एक पृथक् अपभ्रंश से पृथक्-पृथक् आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा के विकास की कल्पना की है। पूर्णतः अनुमानाश्रित होने के कारण इस सिद्धान्त के वैज्ञानिक विवेचन का प्रश्न व्यर्थ है। भाषा-विकास की यह कल्पना इस प्रकार है[2]—

---

1. डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी प्रदेश और उसकी उपभाषाएँ शीर्षक निबन्ध, साहित्य सन्देश, भाषा-विज्ञान विशेषांक, जुलाई, अगस्त, १९५७
2. नामवर सिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ६५-६६।

प्रदेश	अपभ्रंश	आ० भाषाएँ
१—दक्षिण सिन्धु घाटी	व्राचड	सिन्धी लँहदा
२—नर्मदा से दक्षिण (अरब सागर से उड़ीसा तक)	वैदर्भ और दाक्षिणात्य	मराठी
३—उड़ीसा	ओड्र या उत्कल	उड़िया
४—बनारस से बिहार तक	मागध	बिहारी
५—बंगाल	गौड या प्राच्य	बँगला
६—काशी के आस-पास	अर्ध-मागधी	पूर्वी-हिन्दी
७—गुजरात	नागर	गुजराती
८—गंगा यमुना द्वाब	शौरसेनी	ब्रज
९—उत्तर मध्य पंजाब	टक्क	पंजाबी
१०—दक्षिण पंजाब	उपनागर	
११—उज्जैन	आवन्त्य	राजस्थानी

उपर्युक्त कल्पना में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें प्रान्तों की बदलती हुई सीमाओं पर ध्यान नहीं दिया गया है। राजनीतिक दृष्टि से प्रान्तों की सीमाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं। फलतः किसी भाषा प्रदेश को चिरकाल के लिए निर्धारित कर देना कठिन है; उदाहरणार्थ—संस्कृत काल का शूरसेन-प्रदेश प्राकृत एवं अपभ्रंश काल के शूरसेन प्रदेश से भिन्न था। शौरसेनी प्राकृत पर संस्कृत का सीधा और अत्यधिक प्रभाव सिद्ध करता है कि दो प्रदेश एक से थे जिसका विस्तार गंगा-यमुना द्वाब के उत्तरी भाग से लेकर पंजाब तक रहा होगा। परन्तु अपभ्रंश काल का शूरसेन प्रदेश (शौरसेनी अपभ्रंश का प्रदेश) सम्भवतः उक्त भू-भाग से विस्तृत था और पश्चिमी भारत का बहुत बड़ा भाग उसमें सम्मिलित था। बाद में उसी शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हुई ब्रजभाषा का प्रदेश आरम्भ में वही होते हुए भी क्रमशः पश्चिम से पूर्व की ओर खिसकने लगा। इसका प्रमाण उन भाषाओं के व्याकरणिक गठन की विभिन्नता है।

इस आधार पर यह भी अनुमान किया जाता है कि एक-एक अपभ्रंश से एकाधिक आधुनिक-भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ होगा तथा कुछ अपभ्रंश विभाषाएँ ऐसी भी रही होंगी जिनसे आज तक कोई साहित्यिक भाषा उद्भूत नहीं हुई।[1] प्राकृतों, अपभ्रंशों तथा आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से किया

1. नामवरसिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ६७।

है ।[1] डा० सुनीति कुमार चटर्जी का भाषा सम्बन्धी उत्पत्ति-विवरण इस प्रकार है[2]—

अपभ्रंश	आधुनिक भाषाएं
१—व्राचड	सिन्धी
२—केकय, मद्र, टक्क आदि	लंहदा-पंजाबी
३—खश	पहाड़ी भाषाएँ
४—नागर	राजस्थानी-गुजराती
५—शौरसेनी	पश्चिमी-हिन्दी
६—अर्द्ध-मागधी	पूर्वी-हिन्दी
७—मागधी	बिहारी, बंगला, उड़िया, असमिया
८—महाराष्ट्री	मराठी, कोंकणी

अपभ्रंश के साहित्य-रूढ़ हो जाने के उपरान्त लोक-बोलियों के उदय काल में भाषा का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। अपभ्रंश और लोक-बोलियों का एक मिश्रित रूप तैयार हो गया था। इस मिश्रित भाषा-रूप के सम्यक् शासन के लिए अत्यल्प सामग्री है। किन्तु अपने जन्म-काल से शताब्दियों पश्चात् प्रकाश में आने के कारण उसे भी युग का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। देश-भेद से इस प्रकार की प्रस्तुत सामग्री को तीन भागों में विकसित किया जा सकता है[3]—

---

1. अपभ्रंशों या प्राकृत और आधुनिक आर्य-भाषाओं का इस तरह का सम्बन्ध बहुत सन्तोषजनक नहीं मालूम पड़ता; उदाहरण के लिए—बिहारी, बंगला, उड़िया तथा असमिया भाषाओं का सम्बन्ध मागधी अपभ्रंश से माना जाता है। यदि इसका केवल इतना तात्पर्य हो कि मागधी अपभ्रंश के रूपों में थोड़े-से ऐसे प्रयोग पाये जाते हैं, जो आजकल इन समस्त पूर्वीय आर्यभाषाओं में भी मिलते हैं तब तो ठीक है। किन्तु यदि इसका यह तात्पर्य हो कि ५०० ई० से १००० ई० के बीच में बिहार, बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा में केवल एक बोली थी जिसका साहित्यिक रूप मागधी अपभ्रंश है तब यह बात संभव नहीं मालूम होती....मेरी धारणा तो यह है कि मागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ मध्य प्रदेश की बोली के आधार पर बनी हुई साहित्यिक भाषाएं रही होंगी। मगध के राजनीतिक प्रभाव के कारण यहाँ की बोली के आधार पर बनी हुई ये साहित्यिक भाषाएँ समस्त पूर्वी प्रदेशों में मान्य हो गई होंगी।....शौरसेनी आदि अन्य अपभ्रंशों तथा प्राकृतों के सम्बन्धों में भी मेरी यही मान्यता है।
—धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ४९-५०।
2. डा० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ २१८।
3. नामवर सिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ५०।

(१) पश्चिमी—प्राकृत पैंगलम्, ढोला मारुरा दूहा, पृथ्वीराज-रासो। पुरातन प्रबन्ध-संग्रह के कुछ फुटकर पद्य।

(२) पूर्वी—वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता, पद्मावत इत्यादि।

(३) दक्षिणी-ज्ञानेश्वरी। इनमें [illegible] अपभ्रंशाभास जनभाषा का स्वरूप देखा जा सकता है। प्राकृत पैंगलम् लगभग १४ वीं शताब्दी के अन्त में राजपूताने में संकलित विभिन्न भाषाओं के छन्दों का संग्रह-ग्रन्थ है। इसका सम्पादन १६ वीं शताब्दी से पूर्व की पाण्डुलिपियों के आधार पर किया गया है (सम्पादका-नुसार) डा० सुनीति कुमार चटर्जी का भी मत है कि इसमें ९०० ई० से १४०० ई० तक के लोक प्रचलित पद्य संकलित हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बुद्धचरित की भूमिका में प्राकृत पैंगलम के अनेक छन्दों को उद्धृत करके उनमें पश्चिमी एवं पूर्वी बोलियों के प्राचीन मूल स्पष्ट किए हैं[1]—

पश्चिमी रूप—

१—भल्ला हुआ (खड़ी बोली)

२—हमीर वीर जबरण चलिआ (खड़ी बोली)

३—चालीगर राणा जिवऊ म भाणा (ब्रज)

पूर्वी रूप—

१—बिणाम कम्म गिरि हुण्ण मह। (अवधी)

२—मण मज्झ अग्गह ताव न हुवंत अज्जु वि भाव। (अवधी)

३—सोरहर तोहर। सकट सहर। (भोजपुरी)

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि 'प्राकृत पैंगलम्-काल में विभिन्न आधु-निक भाषाओं की विशेषताओं से युक्त एक सामान्य भाषा प्रचलित थी जिसमें एक ओर कवि समय सिद्ध शब्द समाविष्ट थे। दूसरी ओर बोलचाल के स्थानीय रूप भी गृहीत थे।

'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में अनेक ऐसे छन्द हैं जिनकी भाषा अपभ्रंश से युक्त हिन्दी के निकट है।[2] जैसे—

घारि वाय विधि टुड्गुसु टुड्गुसु
जाइ आइ पुणु रुड्घुसु रुड्घुसु
आगलि पाछलि पूछे लावइ
मंधारउ फिरि भूला धावइ

---

1. आ० रामचन्द्र शुक्ल, बुद्ध चरित की भूमिका, पृ० ४-५-६, नागरी-प्रचारिणी-सभा, सं०—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, काशी सं०, १९७९।
2. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृष्ठ १०, पद्यांक ८।

इसमें टुइगुसु और रुइगुसु जैसे अनुकरणात्मक शब्दों के अतिरिक्त शेष सभी शब्द आधुनिक बोली के हैं। इनसे सिद्ध होता है कि अपभ्रंश से कतराकर आधुनिक देशी-भाषाओं का उदय हो रहा था।

पश्चिमी-साहित्य की अपेक्षा पूर्वी साहित्य सक्रान्तिकाल का अधिक प्राचीन और प्रामाणिक साहित्य है। प्राचीन बंगला के उदाहरणों के लिए सर्वानन्द नामक बंगाली पण्डित द्वारा 'अमरकोश' पर लिखी गई 'टीका सर्वस्व' पुस्तक अवलोकनीय है। चर्यापद (सहजिया-सम्प्रदाय) के सिद्धों द्वारा रचित, में भी प्राचीन बंगला के सूत्र मिलते हैं। मैथिली के प्राचीन रूपों के लिए ज्योतिश्वर ठाकुर का ग्रन्थ वर्णरत्नाकर प्रामाणिक कृति है। इसका रचनाकाल ईसा की १४ वीं शताब्दी का प्रथम पाद है। यह ग्रन्थ आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के उदयकाल पर अच्छा प्रकाश डालता है। एक ओर इसकी भाषा प्राचीन बंगला से मिलती है दूसरी ओर अवधी के निकट दिखाई देती है। विद्यापति ठाकुर की 'कीर्तिलता' में भी आधुनिक बोलियों के प्राचीन रूप प्राप्त होते हैं। विशिष्ट रूप से इसमें मैथिली, भोजपुरी और अवधी के प्रारम्भिक बीज अन्तर्हित हैं।

उपलब्ध साहित्य से यह सिद्ध हो जाता है कि आधुनिक भाषाओं का उदय क्रमिक-विकास-नियम के द्वारा सम्पन्न हुआ।

भोजपुरी बोली का विकास-संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश के सोपानों को पार कर आधुनिक भारतीय-भाषाओं का उदय जिस सीमा तक मान्य है, उतना ही मागधी-प्राकृत और अपभ्रंश से भोजपुरी बोली का विकास भी निर्विवाद रूप से माना गया है। भोजपुरी बिहारी-भाषा की तीन बोलियों में से एक है और बिहारी-भाषा की उत्पत्ति बंगला, उड़िया तथा असमिया के समान मागधी, प्राकृत और अपभ्रंश से मानी गई है।[1] मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं के द्वितीय काल में प्राकृतों का विकास माना गया है। प्राकृत वैयाकरणों ने साहित्य-व्यवहृत प्राकृतों का विवेचन किया है जिसमें मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, तथा अर्द्धमागधी की गणना होती है। इनके सम्यक् विवेचन के लिए तत्सम्बन्धी साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रन्थों को अध्ययन का योग आवश्यक है। इन प्राकृतों को वास्तविक बोलचाल की भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, यद्यपि उनके विकास का आधार तत्कालीन जन भाषा ही है। साहित्यिक रूप में उत्कृष्ट बनाने के प्रयास में अन्य रूपों को छोड़

---

1. "Common forms and inflections as well as common habits of Phonetics and syntax show that the dialects of Bengala, as well as Assamese and Oriya on the one hand and the dialects of the Bihari group on the other, must have originated from some early form of I. A. current in the eastern part of Northern India. To this mother-dialect, the name Magadhi has been given."

—S. K. Chattergi : The O. and d. of the B. L., page 21.

कर अनेक रूप संस्कृत रूपों में समान नियमबद्ध कर लिये गए, जिससे बोलचाल की भाषा और साहित्यिक-भाषा में अन्तर आ गया।[1]

ग्रियर्सन ने सम्पूर्ण प्राकृतों का विभाजन दो रूपों में किया है—पश्चिमी प्राकृत तथा पूर्वी प्राकृत। पश्चिमी प्राकृतों में शौरसेनी प्रधान है और पूर्वी प्राकृतों में मागधी।[2] मागधी मूलतः उन आर्यों की भाषा थी जिसे हार्नली तथा ग्रियर्सन ने बाहरी आर्यों की संज्ञा प्रदान की है। ग्रियर्सन के अनुसार अत्यन्त प्राचीन काल में मागधी का प्रसार उत्तरी भारत में भी था। कालान्तर में शौरसेनी के प्रभाव के कारण मागधी दक्षिण तथा पूर्व की ओर फैल गई।[3] मागधी वह प्राकृत भाषा कही जाती है और इसका क्षेत्र मगध प्रदेश था। मागधी प्राकृत के वर्ण्य रूपों की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं, जिनकी प्राप्ति मागधी-जन्य आधुनिक भाषाओं में होती हैं—र् का ल् प्रयोग—राजा–लाजा, पुरुष–पुलिशे, समर–शमल स् ष् के स्थान पर श् का प्रयोग—शुष्क–शुश्क, समर–शमल इत्यादि।[4] मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं का तृतीय काल अपभ्रंशों का विकास काल है, जिस प्रकार प्राकृतों को देश-भेदानुसार संज्ञाएँ प्राप्त हुईं, उस प्रकार अपभ्रंश को, परवर्ती वैयाकरणों ने अनेक देश-भेदक नामों से अभिहित किया।[5] अपभ्रंश के इस प्रकार के देश-भेदक विस्तृत विभाजन के होते हुए भी प्राप्त साहित्य कठिनाई से दो प्रकार की भाषाओं का ही प्रतीत होता है जिन्हें पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंश कह सकते हैं। वैसे देखा जाय तो सम्पूर्ण प्राप्त अपभ्रंश साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा का है।[6] सुविधा के लिए प्राकृतों की देश-भेदक संज्ञाओं के अनुसार ही उनसे विकसित अपभ्रंशों की संज्ञाएँ निर्धारित की गईं। किन्तु यहाँ ग्रियर्सन की इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि इन देश-भेदक

---

1. "इन साहित्यिक प्राकृतों को किसी भी रूप में किसी भी युग की वास्तविक जन-भाषा का सच्चा प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। यद्यपि ये उन्हीं जनभाषाओं के बीच एक ऐसा आवरण पड़ा हुआ है जिसका हटाना प्रायः सरल नहीं है।
   ग्रियर्सन, भारत का भाषा सर्वेक्षण, पृ० २२०, खण्ड १, भाग १, अनु० उदयनारायण तिवारी।
2. ग्रियर्सन, वही पृ० २२६।
3. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० १७१।
4. वही, पृ० ४२।
5. सर्व प्रथम नमिसाधु ने उपनागर, आभीर और ग्राम्य तीन भेद बताए थे परन्तु आगे चलकर १७ वी शताब्दी में मार्कण्डेय ने २७ भेद गिनाए। संस्कृत आलंकारिक अपभ्रंश को देश-भेद से अनेक तथा अनन्त बताते हैं—

   अपभ्रंष्ट तृतीय च तदनन्तं नराधिप।
   देश भाषा विशेषण तस्यान्तो नैव विद्यते॥ —विष्णु धर्मोत्तर ३/३

6. "हम अधिक से अधिक पूर्वी और पश्चिमी दो अपभ्रंशों की सत्ता मानते हैं जिनमें पश्चिमी अपभ्रंश ही प्रतिमान स्वरूप थी।"
   नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ४९।

संज्ञाओ से जिन अपभ्रंशों का बोध होता है वे साहित्यिक स्तर की हैं और वास्तविक बोलचाल की भाषाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती।[1]

मागधी अपभ्रंश उसी क्षेत्र की भाषा मानी गई,जहाँ मागधी प्राकृत का प्रसार था। कालान्तर में स्वाभाविक विकास क्रम के द्वारा इसी मागधी अपभ्रंश से बिहारी, बँगला, उड़िया एवं असमिया का आविर्भाव हुआ। डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने इन मागधी-जन्य भाषाओं को तीन समूहों में विभाजित किया है[2]—

१—पूर्वी मागध भाषाएँ—बँगला, उड़िया, असमिया

२—मध्य —मैथिली, मगही

३—पश्चिमी —भोजपुरी, नगपुरिया या सदनी।

भोजपुरी का जातीय सम्बन्ध अन्य मागध भाषाओं से रहते हुए भी उनसे भिन्न कतिपय विशेषताओं का धारण कर लेना महत्वपूर्ण बात है जो उसे सबसे भिन्न ले जाती है। ये विशेषताएँ उसे निकटस्थ भाषा अवधी तथा उसके मूल उस अर्द्ध मागधी से प्राप्त होती रही है।[3]

अवधी बोली का विकास

अवधी बोली का स्थान पूर्वी-हिन्दी के अन्तर्गत आता है। पूर्वी-हिन्दी की उत्पत्ति अर्द्धमागधी अपभ्रंश से मानी जाती है। आज जिस भू-भाग में पूर्वी-हिन्दी

---

1. "इनमें से प्रत्येक में जो स्थानीय भेद थे, वे स्थानीय बोलियों के नहीं, अपितु वे साहित्यिक अपभ्रंश के भेद थे।"

   टिप्पणी (१) "इनका जो विवरण मिलता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन प्रदेश के नाम पर इनका नाम पड़ा हो, वहाँ की ये बोलचाल की भाषाएँ नहीं थी। ये अपभ्रंश भाषाएँ उन प्रदेशों में भी मिलती है जहाँ की स्थानीय भाषाएँ द्रविड़ थी।"

   ग्रियर्सन : भारत का भाषा सर्वेक्षण पृ० २३०, खण्ड १, भाग १, अनु० डा० उदयनारायण तिवारी।

   "प्राचीन समय की बोलियाँ तथा समय-समय पर उनके परिवर्तनों का पता लगाना तो इस समय बड़ा दुस्साध्य प्रत्युत असंभव सा ही है, क्योंकि उक्त बोलियों के रूपों का लिखित प्रमाण नहीं मिल सकता।"

   —रत्नाकर कोशोत्सव-स्मारक संग्रह:, पृ० ३०३।

2. Dr. Suniti Kumar Chattergi : The Origine and Development of B. L., p. 92.

3. "Bhojpuria some what stands apart from its sister speaches, having come under the influence of its western neighbour Awadhi (Ardh magadhi) from very early times."

   Dr. S. K. Chattergi, The origine and Development of B. L. Page 92.

का प्रसार है प्राचीन युग में वहाँ अर्द्ध-मागधी प्राकृत तथा अर्द्धमागधी अपभ्रंश का प्रचलन था। अर्द्धमागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश को जैन-प्राकृत तथा अपभ्रंश के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि जैन-साहित्य का अधिकांश भाग इसी में है। पूर्वी-हिन्दी की बोलियों में अवधी, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी की गणना होती है।[1] इस प्रकार अवधी का मूल स्रोत अर्द्ध मागधी प्राकृत एवं अपभ्रंश है। डा० बाबूराम सक्सेना का उपर्युक्त धारणा से किंचित् विरोध है। वे इस बात को नहीं मानते कि अवधी की उत्पत्ति जिस अर्द्धमागधी प्राकृत, एवं अपभ्रंश से हुई है, वह जैन अर्द्धमागधी, प्राकृत और अपभ्रंश ही थी। उनका विचार है कि जैन-अर्द्ध-मागधी प्राकृत से भी पूर्व प्राचीन अर्द्ध-मागधी या पालि-भाषा प्रचलित थी इससे अवधी की उत्पत्ति हुई होगी। प्राचीन अर्द्ध-मागधी, का स्वरूप जैन-अर्द्धमागधी से भिन्न था और अवधी मे जैन-अर्द्ध-मागधी के तत्व प्राप्त नहीं होते हैं, अतः उसका सम्बन्ध प्राचीन अर्द्ध-मागधी से ही समझना चाहिये। उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया है कि जब हम अर्द्ध मागधी से अवधी की तुलना करते हैं तो इसकी कतिपय बोलियों मे वर्तमान-कृदन्तीय रूपो (Imperfect Participle) में इ—तथा पुराघटित-कृदन्तीय (Perfect Participle) के एक वचन के रूपों में-ए-नहीं मिलता है। इसके सज्ञापदों तथा अनुसर्गों में 'के' को छोड़ कर अन्यत्र-ए-नही मिलता। इसके विपरीत यहाँ कर्ता के एक वचन के रूप मे जो 'उ' मिलता है वह स्पष्ट रूप से शौरसेनी 'ओ' का रूपान्तर है। जहाँ तक इसमें इकरान्त एकारान्त एवं पदो का सम्बन्ध है, ये पड़ोस की पश्चिमी बोलियों मे भी वर्तमान हैं।[2] अतः पूर्वी-हिन्दी का सम्बन्ध जैन-अर्द्धमागधी प्राकृत एवं अपभ्रंश से मानना उपयुक्त नही है, उसे प्राचीन अर्द्धमागधी या पालि से सम्बन्धित मानना चाहिये।

डा० उदयनारायण तिवारी ने डा० सक्सेना के मत को मानने में अनेक कठिनाइयों का उल्लेख किया है। सर्व प्रथम कठिनाई यह है कि पालि एक साहित्यिक भाषा थी उससे अवधी बोली की उत्पत्ति किस प्रकार सभव है। अवधी की उत्पत्ति अवश्य ही किसी बोलचाल की भाषा से हुई होगी। दूसरी कठिनाई यह है कि पालि सम्बन्धी अनुसधानों के द्वारा स्पष्ट हो गया है कि पालि के व्याकरण का ढाँचा मध्यदेश का है। मध्य-देशीय किसी भी भाषा से पूर्वी-हिन्दी की उत्पत्ति सभव संभव नहीं है। तीसरी कठिनाई यह है कि जब तक प्राचीन अर्द्धमागधी का स्वरूप स्पष्ट न हो, तब तक निश्चित घोषणा नही की जा सकती कि अवधी की उत्पत्ति प्राचीन अर्द्धमागधी से ही हुई है।

बोलचाल की अर्द्धमागधी अपभ्रंश के नमूनो का आज सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति मे पूर्वी-हिन्दी की उत्पत्ति के अनुसधान का एक ही साधन है कि उसकी विभिन्न बोलियो की विशेषताओं का अध्ययन करके बोल-चाल की अर्द्ध-मागधी का आनुमानिक व्याकरण तैयार किया जाय।[3]

---

1. डा० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १७९-८०
2. बाबूराम सक्सेना, 'इवोल्यूशन ऑव अवधी' पृ० ६-८।
3. डा० उदयनारायण तिवारी, 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास', पृ० २७१-७२।

भोजपुरी और अवधी बोलियों के क्षेत्र

प्रत्येक बोली एक सीमित क्षेत्र के अन्दर निवास करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित होती है। राजनीतिक, आर्थिक एवं भौगोलिक कारणों से बोलियों के क्षेत्र की सीमाएं परिवर्तित होती रहती हैं। अतएव किसी भी भाषा को एक सुनिश्चित सीमा-रेखा के मध्य आबद्ध नहीं किया जा सकता।

बिहार की तीन प्रधान बोलियों—मैथिली, मगही एवं भोजपुरी में भोजपुरी बोली का विशेष महत्व है। यद्यपि प्राचीन काल में इसमें उन्नत साहित्य का निर्माण नहीं हुआ, तथापि अन्य प्रादेशिक बोलियों की तुलना में इसका विस्तार एवं प्रसार अधिक है। भोजपुरी भाषा-भाषी व्यक्तियों की संख्या ढाई करोड़ से भी अधिक है। अनेक समृद्ध भाषाएं ऐसी हैं जिनके बोलने वालों की संख्या इससे कम है।[1]

भोजपुरी बोली के नामकरण के साथ ऐतिहासिक घटनाओं का संयोग है। शाहाबाद जिले में बक्सर सब डिवीजन में भोजपुरी नाम का एक बड़ा परगना है। इस परगने का भोजपुर नाम पड़ने का भी एक कारण है। बक्सर सब डिवीजन में ही डुमरांव के निकट दो-तीन मील उत्तर गंगा के समीप 'नवका भोजपुर' एवं 'पुरनका भोजपुर' नामक दो छोटे-छोटे गांव हैं। इन्हीं गांवों के आधार पर भोजपुर परगने का नामकरण हुआ है। भोजपुर परगने तथा उसके आस-पास में बोली जाने वाली भाषा का नाम 'भोजपुरी' है। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर स्वर्गीय महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने एक वक्तव्य में बताया था कि मुसलमानों से परास्त होकर मालवा के राजपूत भागते हुए बिहार के उस भाग में पहुँचे और यहाँ के पुराने शासकों को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया। इन्हीं परमार राजपूतों के वंश में भारत के प्रतापी नरपति महाराज भोज की उत्पत्ति हुई थी और उनके नाम पर बसायी गयी बस्ती का नाम भोजपुर रखा गया था। इस भोजपुर के आधार पर ही वहाँ की बोली का नाम भोजपुरी पड़ा।[2] भोजपुरी की भाषा के अर्थ में सर्वप्रथम उल्लेख सन् १७८६ में पाया जाता है जो चुनारगढ़ की ओर जाती हुई फिरंगियों की सेना के सिपाहियों की बोली 'भोजपुरिया' के लिए आया है, जिन्होंने अपने को काशी के राजा चेतसिंह को रैयत बतलाया था।[3] इसके पश्चात् सन् १८६८ में जान बिम्स ने भोजपुरी को एक बोली की संज्ञा देकर उस पर अपना लेख प्रकाशित कराया। तदनन्तर ग्रियर्सन, होर्नले, फ्रेजर आदि यूरोपीय एवं अनेक भारतीय विद्वानों ने इस भाषा को भोजपुरी नाम से अभिहित किया, जो अब तक प्रख्यात हो चुका है।

भोजपुरी बोली का विस्तार-क्षेत्र अन्य प्रादेशिक बोलियों की अपेक्षा अधिक विशाल है। भोजपुरी की सीमा का निर्धारण इस प्रकार से किया जा सकता है—पूर्व में गंगा नदी से उत्तर इस भाषा (भोजपुरी) की सीमा मुजफ्फरपुर जिले के पश्चिमी भाग की मैथिली है। फिर इस नदी के दक्षिण में-इसकी सीमा गया और

1. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १६, पृ० ८८।
2. दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, 'भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस' से उद्धृत, पृ० ४-५।
3. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० ६।

हजारीबाग की मगही से मिल जाती है। वहाँ से यह सीमान्त रेखा दक्षिण पूर्व की ओर हजारीबाग की मगही भाषा के उत्तर घूम कर सम्पूर्ण राँची पठार और पलामू एवं राँची जिले के अधिकांश भागों में फैल जाती है। दक्षिण की ओर यह सिंहभूमि की उड़िया भाषा से परिसीमित होती है। यहाँ से भोजपुरी की सीमा भूतपूर्व जशपुर रियासत के मध्य से होकर राँची पठार की सरहद के साथ-साथ दक्षिण की ओर जाती है जहाँ भूतपूर्व सरगुजा और जशपुर स्टेट की छत्तीसगढ़ी भाषा से इसका विभेद होता है। पलामू के पश्चिमी प्रदेश से गुजरने के बाद भोजपुरी भाषा की सीमा उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले के दक्षिणी भाग में फैल कर गंगा तक पहुँचती है। यहाँ यह गंगा के बहाव के साथ-साथ पूर्व की ओर गंगा पार कर जाती है। इस प्रकार मिर्जापुर जिले के पूर्वी गांगेय प्रदेश में ही इसका प्रचार है। गंगा पार करके भोजपुरी की सीमा बनारस जिले की पश्चिमी सीमा के साथ-साथ जौनपुर जिले के पूर्वी और आजमगढ़ जिले के पश्चिमी भाग के साथ फैजाबाद जिले के आर-पार फैल जाती है। टाँडा तहसील में इसका विस्तार सरयू नदी के साथ-साथ पश्चिम की ओर घूमता है और तब उत्तर की ओर हिमालय के नीचे की श्रेणियों तक बस्ती जिले को अपने में सम्मिलित कर लेता है। इन विस्तृत भू भाग के अतिरिक्त भोजपुरी तराई की थारू जाति में जो गोरखपुर और चपारन जिलों में बसती है—मातृ-भाषा के रूप में व्यवहृत होती है।[1]

भोजपुरी एक विस्तृत क्षेत्र की भाषा है अतएव इसमें विभिन्नता रहना स्वाभाविक है। इसके प्रधानतः तीन भेद हैं[2]— (१) आदर्श भोजपुरी, (२) पश्चिमी भोजपुरी एवं (३) मगपुरिया। आदर्श भोजपुरी भोजपुर क्षेत्र के आस-पास चारों ओर बोली जाती है, इसीलिये इसका नाम 'आदर्श' पड़ा है। इसका विस्तार एक बृहद् भू-भाग में है अतः सुविधा के लिए इसके दो भेद कर दिये गए हैं—उत्तरी आदर्श भोजपुरी और दक्षिणी आदर्श भोजपुरी। उत्तरी भोजपुरी गोरखपुर, बस्ती एवं सारन जिलों में बोली जाती है। दक्षिणी भोजपुरी भोजपुर गाँव के आस-पास शाहाबाद, बलिया, गाजीपुर आदि दक्षिणी जिलों में बोली जाती है। उत्तरी और दक्षिणी भोजपुरी के स्वरूप में कहीं-कहीं अन्तर लक्षित होता है। इसमें सबसे प्रधान एवं स्पष्ट पार्थक्य यह है कि उत्तरी जिलों की भोजपुरी में सहायक क्रिया में 'ट' का प्रयोग होता है और दक्षिणी जिलों में 'ड' का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—'कहाँ जात बाटे' और 'कहाँ जात बाड़े'।

पश्चिमी भोजपुरी फैजाबाद, जौनपुर, आजमगढ़, बनारस और गाजीपुर के पश्चिमी भाग तथा मिर्जापुर जिले के मध्यभाग में बोली जाती है।[2] पश्चिमी भोजपुरी इंडो-आर्यन भाषा परिवार के पूर्वी समुदाय की सबसे पश्चिमी सीमान्त बोली है जो अवधी आदि से कुछ समानता रखती है।[3]

---

1. सेंसस आफ इण्डिया, पेपर नं० १, १९५४, पृ० ३८, —लैंग्वेजेज, १९५१ सेंसस।
2. डा० कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ३१।
3. Western Bhojpuri is, in fact the most western out post of the eastern group of the Indo-Aryan family of languages and

नगपुरिया भोजपुरी की ही एक बोली है जो छोटा नागपुर में बोली जाती है। इस पर छत्तीसगढ़ी का प्रभाव अधिक पड़ा है। नागपुरिया को 'सदान' या 'सद्री' भी कहते हैं। मुंडा लोग इसे 'दिक्कु काजी' कहते हैं।

भोजपुरी की दो उपबोलियाँ भी हैं—मधेसी और थारू। मधेसी शब्द 'मध्य-देश' से निकला है। यह बोली तिरहुत की मैथिली बोली और गोरखपुर की भोजपुरी के बीच वाले स्थानों में बोली जाती है, अतः इसका नाम 'मधेसी' (दोनों प्रदेशों के मध्य बोली जाने वाली) पड़ गया है। यह चम्पारन जिले में बोली जाती है। इसकी लिपि कैथी है। नेपाल की तराई में बसने वाली थारू जाति के लोगों की अपनी कोई बोली नहीं है। प्रायः उन्होंने अपने आर्य पड़ोसियों की भाषा को पूर्ण रूप से अपना लिया है। यह थारू जाति बहराइच से चम्पारन जिले तक पायी जाती है और भोजपुरी के ही विकृत रूप को बोलती है। यह विशेष बात है कि गोंडा और बहराइच के थारू लोग भोजपुरी बोलते हैं, जबकि वहाँ की भाषा पूर्वी हिन्दी है।[1]

इस प्रकार भोजपुरी अपनी तीन प्रधान बोलियों एवं दो उप बोलियों में विभक्त होकर ५० हजार वर्ग मील में फैली हुई है और २ करोड़ से भी अधिक व्यक्तियों की भाषा है।

अवधी बोली का क्षेत्र भोजपुरी को छोड़कर अन्य समस्त बोलियों की तुलना में अधिक विस्तृत है। अवधी बोली को बोलने वालों की संख्या लगभग ढाई करोड़ है और इसका विस्तार साढ़े पैंतीस हजार वर्ग मील में है।[2]

प्राचीन काल में कोसल की राजधानी साकेत थी। कोई उससे युद्ध करके पार नहीं पा सकता था, इसलिए 'देवानां पूरयोध्या' के अनुसार साकेत का विशेषण भी अयोध्या था। आगे चल कर यह नाम प्रमुख बन गया और साकेत का अयोध्या ने ले लिया। युद्ध से कुछ समय पहले कोसल की राजधानी साकेत से श्रावस्ती चली आई। राजा प्रसेनजित के शासन में कोसल पूर्ण रूप से सुरक्षित रहा, परन्तु आगे चल कर संभवतः अजातशत्रु अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी द्वारा हड़प लिया गया। इसी समय प्रदेशपाल या राष्ट्रिक की राजधानी साकेत हो गयी। फिर भी श्रावस्ती का महत्व बना रहा और प्रायः एक हजार वर्ष तक यह एक बड़ी भुक्ति (प्रदेश) के नाम से प्रसिद्ध रही। अयोध्या इस श्रावस्ती भुक्ति की राजधानी के रूप में थी। प्राकृत एवं अपभ्रंश काल में इसका उच्चारण 'अउधा' या 'अउहा' हो गया। तुर्कों के समय में यह अउध या अवध था। उनका बली सारे तुर्क काल तक अउध में ही रहता था।[3] इस प्रकार अउध या अवध से अवधी भाषा का नामकरण हुआ।

अवधी बोली की सीमाओं का निर्धारण इस प्रकार किया गया है—इस बोली के पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी की दो बोलियों—बुन्देली एवं कन्नौजी हैं और

---

possesses some of the features of its cousins to its west.

—L. S. I., Vol. 5, P. 248.

1. डा० कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन, पृ०, ३५।
2. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १६, पृ० १८०।
3. वही, पृ० १८१।

पूर्व मे भोजपुरी बोली का क्षेत्र है। अवधी भाषा क्षेत्र के उत्तर में हिमालय (नेपाल) है और दक्षिण मे बघेली बोली का क्षेत्र है। बघेली और छत्तीसगढ़ी वस्तुतः अवधी से ही सम्बद्ध भाषाएँ हैं, तथापि उन्हें पृथक् रखा जाता है।

अवधी बोली के क्षेत्र के अन्तर्गत हरदोई का अधिकांश भाग, फतेहपुर, इलाहाबाद का पूरा जिला, कानपुर के अकबरपुर एवं डेरापुर तहसीलों को छोड़ कर पूरा जिला, चुनार एवं दुद्धी तहसीलों को छोड़ कर मिर्जापुर का सारा जिला, केराकत तहसील को छोड़ कर जौनपुर का सम्पूर्ण जिला एवं बस्ती की हरैया तहसील सम्मिलित हैं।[1]

पश्चिम मे पश्चिमी हिन्दी की कन्नौजी बोली की सीमा खीरी जिला स्थित गोलागोकर्णनाथ से आरम्भ हो जाती है। यदि एक सीधी रेखा गोलागोकर्णनाथ से सीतापुर जिले के नेरी स्थान तक खींची जाय तो यह कन्नौजी और अवधी की सीमा होगी। नेरी से गोमती नदी अवधी की दक्षिणी-पश्चिमी सीमा बनाती हुई उस स्थान तक चली जाती है जहाँ हरदोई जिले को लखनऊ से पृथक् करती है। यहाँ से दक्षिण पश्चिम की ओर लखनऊ, हरदोई तथा उन्नाव जिलों की सीमा से होती हुई एक रेखा वहाँ तक खींची जा सकती है, जहाँ उन्नाव की सीमा समाप्त हो जाती है।[2] कानपुर का कुछ हिस्सा पश्चिमी हिन्दी से प्रभावित होने के कारण अवधी के क्षेत्र से बाहर हो जाता है। परन्तु शेष भाग अवधी क्षेत्र के अन्तर्गत समाविष्ट है।

अवधी बोली के तीन प्रकार माने जाते हैं—(१) पश्चिमी (२) केन्द्रीय अवधी और (३) पूर्वी अवधी। पश्चिमी अवधी खीरी (लखीमपुर), सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव तथा फतेहपुर मे बोली जाती है। केन्द्रीय अवधी बहराइच, बाराबंकी तथा रायबरेली की बोली को कहते हैं और पूर्वी अवधी के क्षेत्र के अन्तर्गत गोंडा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर तथा मिर्जापुर आते हैं।

अवधी बोली का कुछ ऐसी बोलियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है जो भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं रखती परन्तु उन्हें पृथक् माना गया है। बघेली और अवधी में नाम मात्र का अन्तर है। इसी प्रकार बांदा जिले का 'महोरा' और 'तिरहारी' बोली मे अवधी के तत्व अपेक्षाकृत अधिक पाए जाते हैं। मध्य प्रदेश मे स्थित प्राचीन गढ़ा मण्डला राज्य की मण्डलाहा या गोंडवानी बोली में बघेली के तत्व अधिकता से विद्यमान हैं।[3] बघेली तथा अवधी मे कोई तात्विक अन्तर न होने के कारण यह एक प्रकार से अवधी के भी निकट आ जाती है।

भोजपुरी और अवधी बोलियों पर तुलनात्मक दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि भोजपुरी बोली का क्षेत्रफल अवधी की अपेक्षा अधिक है। इसको बोलने वालों की संख्या भी अपेक्षाकृत अधिक है, परन्तु भोजपुरी को पृथक् करके हिन्दी की अन्य बोलियों से तुलना करने पर अवधी का विस्तार अधिक व्यापक सिद्ध होता है। इस प्रकार भोजपुरी और अवधी बोलियों को हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १६, पृ० १७९।
2. डा० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० २६७।
3. वही पृ० २७४।

द्वितीय अध्याय

लोकसाहित्य की विवृति

- 'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या
- फोक लोर और लोकवार्त्ता की व्यापकता
- लोकसाहित्य का वर्गीकरण और विस्तार
- लोकसाहित्य की विशेषताएं तथा महत्त्व
- लोकसाहित्य और साहित्य का भेदाभेद

२ | लोकसाहित्य की विवृति

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या

मनुष्य अपनी वैयक्तिक भूमिका का विसर्जन कर जब समाज-रचना में प्रवृत्त हुआ तो निश्चय ही उसने अपनी स्वैर वृत्तियों को नियन्त्रित कर अपने दिनानुदिन के आचरण में कतिपय सीमायें भी स्वीकार की। प्रश्न उठता है कि ऐसा उसने क्यों किया। हमारा विचार है कि व्यक्ति के विसर्जन एवं समाज के सर्जन के मूल में मनुष्य की समष्टिगत कल्याण कामना ही उसका मुख्य कारण थी, तथा आज जब हमारा यह समसामायिक समाज अपने विकास की चरम अवधि को छूना चाहता है तो यह मान लेने में कोई विकल्प बाधक नहीं कि सामूहिक चेतना तथा लोक-मंगल में मनुष्य की निष्ठा अधिकाधिक उत्कट हो गई है। लोक भावना के उद्गम पर यदि हम विचार करें तो हमें वेदों मे विशेषतः ऋग्वेद मे इस शब्द और भाव की उपलब्धि हो जायगी। ऋग्वेद मे लोक शब्द का प्रयोग स्थान और भुवन के अर्थ मे प्राप्त होता है।[1] ऐतरेयोपनिषद मे परमेश्वर द्वारा समस्त लोकों के सृजन का उल्लेख है। यहाँ भी लोक शब्द का प्रयोग भुवन के अर्थ मे हुआ है। परमेश्वर ने अम्भ, मरीचि, मर और जल—इन लोकों की रचना की। अम्भ के अन्तर्गत स्वर्ग लोक से ऊपर महः जनः तपः सत्य और उनका आधार द्युलोक हैं। मरीचि के अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि लोक आते हैं। मर से मर्त्य लोक या पृथ्वी लोक का बोध होता है तथा पृथ्वी के नीचे के पातालादि लोक आप कहे गये हैं।[2]

भारत में आर्यों के आगमन के उपरान्त आर्य एवं आर्येतर जातियों के मध्य 'वेद' और 'वेदेतर' स्थिति का आविर्भाव हुआ। उस दशा में लोक शब्द का प्रयोग 'वेदेतर' अथवा 'शास्त्रेतर' के लिये होने लगा। यहाँ 'लोक' शब्द वेद-विरोधी अर्थ का सूचक है। किन्तु आगे चल कर 'लोक' शब्द वेदेतर संस्कृति की सकुचित सीमा

1. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
   पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्। ऋग्वेद १०।९०।१४
2. स इमांल्लोकान सृजत। अम्भो मरीचिर्मर मापो ऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथ्वी मरो या अधस्तातात्ताआपः। १।१।२

तोड़ कर ऊँचा उठ गया। वेद के तुल्य ही यह शब्द अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकारी हो गया। गीता में 'अतोऽस्ति लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम:।[1] के रूप में लोक शास्त्र तथा लौकिक नियमाचारों का महत्व स्थापित हो गया। सम्राट अशोक के शिलालेखों में 'लोक' शब्द का प्रयोग समस्त प्रजाजनों के लिये हुआ है।[2] बौद्ध धर्म के विकास के साथ मानव भावना का महत्व बढ़ने लगा और लोक शब्द मानवीय उत्कृष्टताओं का बोधक बन गया। प्राकृत एवं अपभ्रंश में प्रयुक्त 'लोक जत्ता' (लोक यात्रा) एवं 'लोकप्पवाय' (लोक प्रवाद) शब्द भी लौकिक आचारों का महत्व प्रकट करते हैं। हिन्दी में तुलसीदास जी ने लोक और वेद की भेदात्मक स्थिति स्पष्ट की है।[3]

वेदों में विराट पुरुष की कल्पना है जिसमें सामाजिकता का स्वरूप भी वर्णित हुआ है। यह पुरुष सहस्र मुख-नेत्र-पाद से युक्त है। ब्राह्मण इसका मुख, क्षत्रिय भुजा, वैश्य उदर तथा शूद्र चरण है।

इस विराट-पुरुष रूप ईश्वर में लोक के ही विराट स्वरूप की सन्निहित है। लोक-भावना के उत्कर्ष से वेद और वेदेतर संस्कृति की भेदात्मक स्थिति समाप्त हो गई और दोनों के समन्वय से विशद सांस्कृतिक चेतना प्रोद्भासित हुई। जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में इसी व्यापक भाव राशि की अभिव्यक्ति हुई है।[4]

यह लोक अनेक रूपों में परिव्याप्त है। अखिल संसार के समस्त मानव-समूहों, मानवीय क्रिया-कलापों तथा विचार परम्पराओं के रूप में लोक की अवस्थिति है। देश-काल की सीमाओं से सर्वथा अनवरुद्ध यह सामाजिक विकास की एक प्रगति-शील चेतना है।

"लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूत माता पृथिवी, और लोक व्यक्त रूप मानव—यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म-शास्त्र है। इनका कल्याण हमारी मुक्ति

---

1. गीता अध्याय १५, श्लोक १८।
2. कतव्य मतेहि मे सर्व लोक हितं—अशोक की धर्मलिपियाँ (प्रधान शिलाभिलेख) पहला खंड ६२
3. (अ) 'लोक कि वेद बड़ेरो।' —विनय पत्रिका, पद १७२ (गीता प्रेस)
   (ब) सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ। —रामचरितमानस, बालकाण्ड।
4. "बहु व्याहितो वा अयं बहुशो लोकः। क एतद् अस्य पुनरीहतो अयात्॥" जै० उ० ब्रा० १।२८

का द्वार और निर्वाण का नवीन रूप है। लोक, पृथिवी, मानव—इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।"[1]

कतिपय विद्वानों के मतानुसार 'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोकदर्शने' धातु में 'घञ' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ है—'देखना'। लट्-लकार के अन्य पुरुष एक वचन में इसका रूप होता है—'लोकते'। अतः लोक का अर्थ हुआ—देखने वाला। वह समस्त जन-समुदाय जो इस क्रिया को करता है, 'लोक' के अन्तर्गत समाविष्ट है।

लोक की व्यापक भावसत्ता को ग्राम या नगर की संकुचित सीमा मे बद्ध नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि लोक शब्द का अर्थ 'जानपद' या ग्राम्य' नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों मे फैली समस्त जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। नगर में परिष्कृत, रुचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यासी होते हैं तथा परिष्कृत रुचि-सम्पन्न व्यक्तियों की विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने वाली आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं।[2]

लोक का अभिव्यक्त स्वरूप वह सामान्य जन-समूह है जो अपनी नैसर्गिक प्रकृति के सौन्दर्य की दिव्य ज्योति से कल्याणमयी संस्कृति का निर्माण करता है। डा० कुञ्जबिहारी दास ने लोक की सुन्दर व्याख्या करते हुए लिखा है—लोक-गीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से परे रह कर कम या अधिक रूप मे आदिम अवस्था मे निवास करते हैं।[3]

इस प्रकार लोक का अर्थ सरल स्वाभाविक मानव समाज है, जिसकी भावनाओं, विचारों, परम्पराओं, क्रियाओं एवं मान्यताओं मे वास्तविक कल्याण के तत्व विद्यमान रहते हैं। इसीको हम लोक-संस्कृति भी कह सकते हैं।

फॉक-लोर और लोकवार्त्ता की व्यापकता

आज के विज्ञान प्रधान युग में प्रत्येक वस्तु के निरीक्षण की विधि वैज्ञानिक हो गई है। मनुष्य का प्रगतिशील मस्तिष्क जगत के प्रत्येक व्यापार का अपनी वैज्ञानिक पद्धति से मूल्यांकन करना चाहता है। परिणामतः ज्ञान की विपुल राशि को गुण प्रकृति के अनुसार श्रेणीबद्ध करने की आवश्यकता हो गई। भाषा-विज्ञान, समाज-विज्ञान, नृविज्ञान आदि विषयों की भाँति, लोक-वार्त्ता भी एक विज्ञान का रूप प्राप्त

1. सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति विशेषांक) में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'लोक का प्रत्यक्ष-दर्शन' शीर्षक निबन्ध, पृ० ६५।
2. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'जनपद' वर्ष १, अंक १, पृ० ६५।
3. "The people that live in more or less primitive conditions outside the sphere of sophisticated influences."
—"A Study of orissan Folklore", by Dr. Kunj Behari Dass.

कर रहा है। यद्यपि भारत में लोक और वार्ता दोनों ही शब्द अति प्राचीन हैं, परन्तु दोनों का शास्त्रीय अर्थ में प्रयोग अत्याधुनिक है और इसके सर्वप्रथम प्रयोक्ताओं में श्री कृष्णानन्द गुप्त तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का नाम लिया जाता है। लोक-वार्ता शब्द अंग्रेजी के 'फोक लोर' (Folk Lore) शब्द का पर्यायवाची है।

'फोक' (Folk) शब्द की उत्पत्ति एंग्लो-सैक्सन शब्द Fore से हुई है। जर्मनी में यह Volk के रूप में प्रचलित है। फोक' शब्द के संकुचित और व्यापक—दोनों अर्थ उपलब्ध होते हैं। संकुचित अर्थ में फोक शब्द से असंस्कृत और मूढ़ समाज का बोध होता है तथा व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोगों के लिए होता है। इस 'फोक' शब्द के लिए हिन्दी में लोक, जन और ग्राम—तीनशब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु लोक शब्द को ही उपयुक्त महत्त्व प्राप्त है; जन और ग्राम शब्दों का प्रयोग किंचित् संकुचित अर्थ में होता है, जबकि लोक शब्द अपने अर्थ में अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। 'लोर' (Lore) शब्द की उत्पत्ति एंग्लो-सैक्सन शब्द Lare से हुई है जिसका अर्थ है—वह जो सीखा जाय। अतः 'फोक लोर' का शाब्दिक अर्थ हुआ 'मुसंस्कृत लोगों का ज्ञान'। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार सामाजिक वर्गीकरण की कल्पना दो रूपों में हुई है—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। निम्न वर्ग के व्यक्तियों से सम्बन्धित समस्त विचारों एवं व्यापारों को 'फोक लोर' शब्द के भाव में आबद्ध किया गया।

सामान्य जन-समुदाय के जीवन में प्रविष्ट होकर उसके एक-एक अंश के अध्ययन की प्रणाली का सूत्र-पात सर्व प्रथम यूरोप में हुआ। अध्ययनकर्त्ताओं में 'जान औब्रे' अग्रगण्य हैं, जिन्होंने सन् १७६१ ई० में 'रीमेन्स आव जेंटिलिज्म एण्ड जुडाइज्म नामक पुस्तक की रचना की थी। उनके पश्चात् सन् १८७० ई० में जे० ब्रैंड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक आब्जर्वेशन आन पापुलर ऐंटिक्विटीज' को प्रकाशित किया। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक जन-जीवन से अनुप्राणित इस साहित्य को 'पापुलर ऐंटिक्विटीज' के नाम से अभिहित किया जाता था। सन् १८४६ ई० में इंग्लैण्ड के प्रख्यात पुरातत्व वेत्ता विलियम जे० टामस ने 'पापुलर ऐंटिक्विटीज' के स्थान पर 'फोक लोर' शब्द का नवीन प्रयोग किया।[1] आगे चलकर अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त करके यह शब्द स्थायी रूप से प्रयुक्त होने लगा।

हिन्दी में 'फोक लोर' के पर्यायवाचक 'लोक-वार्ता शब्द के अतिरिक्त कतिपय अन्य नवीन संज्ञाओं का आविर्भाव भी हुआ है। डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोक-वार्ता' शब्द को अवाचक तथा अव्याप्ति दोषों से ग्रसित होने के कारण 'फोक लोर' के पर्यायवाची अर्थ में रखना अस्वीकार किया है। उनके अनुसार 'लोक वार्ता' की अपेक्षा 'लोक संस्कृति' शब्द अधिक उपयुक्त एवं समीचीन है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी 'फोक लोर' के अर्थ में 'लोक संस्कृति' शब्द के पक्ष में हैं।[2] डा० सत्येंद्र ने 'लोका-भिव्यक्ति' और 'लोक तत्व'—दो शब्द प्रस्तुत किये हैं, किन्तु इनमें सकीर्ण

1 ब्रेरिया लोक डिक्शनरी आव फोक लोर, भाग १, पृ० ४०३।

2 हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास १६ वाँ भाग, प्रस्तावना पृ० ११। सम्पादक राहुल सांकृत्यायन।

अर्थ की व्यंजना होने के कारण इनको 'फोकलोर' के समकक्ष रखना उपयुक्त नहीं है। 'लोकाभिव्यक्ति केवल लोक कला और साहित्य का बोधक है और लोक-तत्व 'फोक ऐलिमेण्ट' के लिये प्रयुक्त होना चाहिये।[1]

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'लोक यान' शब्द के पक्ष में मत व्यक्त करते हुए उसे 'फोक लोर' का समानार्थी बताया है।[2] श्री भोलानाथ तिवारी ने 'लोक यान' शब्द में लोक-जीवन की विकासशीलता का निरूपण करते हुए उसे सर्वथा 'फोक लोर' के उपयुक्त बताया है। 'लोक यान' से सहमत होते हुए भी व्यक्तिगत रूप से उन्होंने 'लोकायन' शब्द का सुझाव दिया है। इसी प्रसंग में उन्होंने लोक-शास्त्र, लोक-विज्ञान, लोक-ज्ञान, लोक-परम्परा, लोक-प्रतिमा, लोक-प्रवाह, लोक-पथ, लोक-विधान तथा लोक-संग्रह आदि शब्दों की चर्चा भी की है, किन्तु अपेक्षित भाव के अभाव में उन्हें स्वीकार नहीं किया।[3] सन् १९३० ई० में श्री म० म० पोतदार ने मराठी में 'लोकविद' शब्द का प्रस्ताव रखा था।[4] किन्तु उसका प्रसार नहीं हो सका। यद्यपि 'फोक' के लिये 'लोक' शब्द के ग्रहण के समान 'लोर' के पर्यायवाची हिन्दी शब्द के ग्रहण के लिये विद्वानों में मतैक्य नहीं है और नित्य नवीन शब्दों की उद्भावना की जा रही है, तथापि भाषा-शास्त्र की दृष्टि से रूढ़ प्रयोगों द्वारा विशिष्ट अर्थ एवं महत्व प्राप्त कर लेने के कारण लोक वार्ता को फोकलोर की समानार्थक महत्ता प्राप्त हो गई तथा हिन्दी में उसका प्रयोग स्वीकृत हो गया है। अतः 'फोकलोर' के अभीष्ट अर्थ की व्यंजना के लिये 'लोक वार्ता' शब्द का प्रयोग ही उपयुक्त है।[5]

लोक-जीवन की छाया में लोकवार्ता-शास्त्र के तत्व संघटित होते हैं। समाग्र जन-समाज में व्याप्त समस्त विचार, आदर्श, मनोभाव, विश्वास, परम्परायें राग-द्वेष, रहन-सहन, रीति-रिवाज, अनुष्ठान, क्रियायें आदि का समन्वित अध्ययन लोकवार्ता-शास्त्र का उद्देश्य है। लोक-जीवन की सतत प्रवहमान सरिता की लहर-लहर में लोक वार्ता के तत्व उद्भूत होते हैं। अनादि काल से अनवरुद्ध गति में, लोक जीवन की यह विराट स्वरूपिनी तरंगिनी अनन्त की ओर प्रवाहित होती हुई अपनी सर्वकालीन, सार्वदेशीय और सर्व सम्मत प्रतिष्ठा को प्रमाणित करती आ रही है। युग-व्यापी परिवर्तन-विवर्तन, हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन और जीवन-मरण के इतिहास को समेटे प्राचीनता में नवीनता का सृजन करता हुआ लोकवार्ता का प्रत्येक चरण अपने चेतन अस्तित्व का आभास देता है।

---

1. डा० भोलानाथ तिवारी, सम्मेलन पत्रिका लोकसंस्कृति अंक, सं० २०१०, पृ० ४३६।
2. राजस्थानी कहावतें, भाग पहला, २००६, कलकत्ता, भूमिका पृ० ११।
3. सम्मेलन पत्रिका, (लोक-संस्कृति अंक) में श्री भोलानाथ तिवारी का 'लोकायन और लोक साहित्य' शीर्षक निबन्ध, पृ० ४३७।
4. डा० श्याम परमार, भारतीय लोक साहित्य पृ० १४।
5. वही, पृ० १५ तथा श्री सत्यव्रत अवस्थी, लोक साहित्य की भूमिका, पृ० क।

बोटकिन ने इसी चेतनता की ओर इंगित करते हुए कहा है कि लोक वार्ता अत्यधिक दूर और अत्यन्त प्राचीन जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह तो हमारे बीच सत्य और सजीव है।[1] आगे उसके स्वरूप का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि लोक वार्ता के अन्तर्गत अतीत को वर्तमान से कुछ कहना है तथा अपुस्तकस्था समाज को उस समाज से कुछ कहना है जो स्वयं अपना अध्ययन करना चाहता है और जिसका सम्बन्ध हमारे मौलिक तथा लोकतान्त्रिक संस्कृति की मूल कलाओं के प्रारम्भिक स्रोतों और इतिहास के एक अंग के प्रकाश में है।[2]

लोकवार्ता-साहित्य मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं, मनोरम अभिव्यंजनाओं एवं विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित सामग्री प्रस्तुत करता है। लोक वार्ता के सम्बन्ध में अनेक मनीषियों ने अपने-अपने ढंग से विचार किया है। लेनिन ने लोक वार्ता को जनता की आशाओं और आकांक्षाओं से सम्बन्धित माना है।[3] [illegible] ने लोक वार्ता को लुप्त होती हुई, किन्तु जीवित सामग्री से सम्बद्ध माना है।[4] डा० सत्यव्रत सिन्हा ने पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं को उद्धृत करते हुए किसी निश्चित परिभाषा के अभाव का उल्लेख किया है, जिसका कारण उन्होंने नृतत्व-शास्त्रियों और लोक वार्ता-शास्त्रियों का संघर्ष बताया है।[5] पाश्चात्य विद्वानों के भिन्न-भिन्न मतों का तात्त्विक विवेचन करने से संक्षिप्त

---

1 "Folk lore is not something for away and long ago, but real and living among us."

—Introduction of American Floklore, P. 15.

2 "Here the past has something to say to the present and bookless world to a world that likes to read about itself, concerning our basic oral and democratic culture as the root of arts and as a side-light on history."

—Ibid.

3. "Folklore is material about the hopes and yearning of the people."

—सत्यव्रत अवस्थी, लोक साहित्य की भूमिका, पृ० १०।

4. "Folklore is the literature of the people, but it belongs to an order of things that is passing away if it has not already done so."

—वही।

5. डा० सत्यव्रत सिन्हा, हिन्दुस्तानी पत्रिका, भाग २०, अंक २, अप्रैल-जून, १९५९ में 'लोक वार्ता' शीर्षक निबन्ध।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निरूपित विभिन्न परिभाषायें इस प्रकार हैं—

(i) "Folklore is composed of literary aspects of culture."

(ii) "That art form........which utilize spoken language as its medium."

होता है कि सभी ने अपनी परिभाषाओं में लोक वार्ता के अन्तर्गत साहित्य, मौखिक आधार, सौन्दर्यात्मकता, अमूर्त इतिहास, अनुभव अन्य संस्कृति; परम्परा तथा अति जीवन को अन्तर्भूत किया है। प्रसिद्ध लोक वार्ता शास्त्री सेमुअल पी० बेयार्ड ने धारणाओं (आइडियाज अथवा नोशन्स) के आधार पर लोक वार्ता के अन्तर्गत समाविष्ट सामग्री को विभाजित किया है। उनके अनुसार ब्रह्माण्ड, जीव की उत्पत्ति, प्रकृति और नियमन सम्बन्धी धारणायें, दैवी तथा अपौरुषेय (सुपर नेचुरल) शक्तियों का मनुष्य से सम्बन्ध आदि की धारणायें, जाति के बौद्धिक विकास और उसके मूल स्रोत के सम्बन्ध की धारणायें, पराक्रम, सौन्दर्य सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी समस्त स्वच्छ एवं भद्दी धारणायें ही लोक वार्ता है।[1] डा० सत्यव्रत सिन्हा ने भी लोक वार्ता का मूल तत्त्व 'धारणा' माना है।[2] डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लोक वार्ता को स्पष्ट करते हुए उसके विस्तार का भी उल्लेख किया है।[3]

व्यापक क्षेत्र से सम्बद्ध होने के कारण लोक वार्ता की सीमाओं का स्पष्ट निरूपण तथा उसमें अन्तर्निहित विषय वस्तुओं का समुचित उल्लेख कठिन-प्राय है। सोफिया बर्न के मतानुसार लोक वार्ता ने अपने को एक जाति-बोधक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित या उन्नत जातियों के असभ्य वर्गों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गाथा और कहावतें आदि आते हैं।[4]

(iii) "The least tangible expression of aesthetic aspects of culture."
—Herskovits.

(iv) "Folklore aimed to reconstuct the spiritual history of mankind." —Kreppe.

(v) "Folklore is the treditional part of the culture." —R. S. Boggs.

(vi) "Tredition is the touch stone of folklore." —S. Thompson.

(vii) "Folklore is the science of survivals." —Carlos Vega.

1. सेमुअल पी० बेयार्ड, दी मैटेरियल्स आव फोकलोर, पृ० ८।
2. "लोक-वार्ता लोक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिव्याप्त मूलगत धारणाओं का अध्ययन करने वाला शास्त्र है।"
   हिन्दुस्तानी, भाग २०, अंक २, अप्रैल-जून १९५९ में 'लोक वार्ता' शीर्षक निबन्ध।
3. "लोक-वार्ता एक जीवित शास्त्र है—लोक का जितना जीवन है, उतना ही लोक-वार्ता का विस्तार है। लोक में बसने वाला जन, जन की भूमि और भौतिक जीवन तथा तीसरे स्थान में उस जन की संस्कृति इन तीन क्षेत्रों में लोक के पूरे ज्ञान का अन्तर्भाव होता है, और लोक-वार्ता का सम्बन्ध भी इन्हीं के साथ है।" —पृथिवी पुत्र, पृ० ८२।
4. "It has established itself as the generic term under which the traditional beliefs, customs, stories, songs and sayings, current among backward peoples or retained by the uncultured classes of more advanced peoples, are comprehended and included."
—'A hand book of Folklore' P. 1-2, by Spphia Burn.

लोक वार्ता के विषय की ओर इंगित करते हुए सोफिया बर्न ने कहा है कि लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत व्याप्त प्रत्येक वस्तु लोक वार्ता का विषय है। उन्होंने लोक वार्ता को आदिम मानव के मनोभावों की अभिव्यक्ति कहा है, वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान अथवा चिकित्सा के क्षेत्र में हुई हो, चाहे सामाजिक संगठनों तथा उत्सवों में और चाहे बौद्धिक क्षेत्र में इतिहास, काव्य अथवा साहित्य के रूप में हुई हो।

यद्यपि लोक वार्ता का विषय-क्षेत्र विशाल सीमाओं में आबद्ध है और एक-एक वस्तु की गणना करना नितान्त असम्भव है, तथापि विद्वानों ने सुविधा के लिये इसे वर्गीकृत किया है। सोफिया बर्न द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण का भावानुवाद डा० सत्येन्द्र ने इस प्रकार किया है[1]—

(१) वे विश्वास और आचरण-अभ्यास जो सम्बन्धित हैं—
पृथ्वी और आकाश से,
वनस्पति जगत से,
पशु जगत से,
मानव से,
मानव-निर्मित वस्तुओं से,
आत्मा तथा दूसरे जीवन से,
शकुनों-अपशकुनों, भविष्यवाणियों, आकाशवाणियों से,
जादू-टोना से,
रोगों तथा स्थानों की कला से,

(२) रीति-रिवाज—
सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थायें,
व्यक्तिगत जीवन के अधिकार, व्यवसाय, धन्धे तथा उद्योग,
तिथियाँ, व्रत तथा त्योहार

(३) कहानियाँ, गीत तथा कहावतें—
कहानियाँ (अ) जो सच्ची मान कर कही जाती हैं,
(आ) जो मनोरंजन के लिये होती हैं,
गीत सभी प्रकार के,
कहावतें तथा पहेलियाँ,
पद्यबद्ध कहावतें तथा स्थानीय कहावतें।

उपर्युक्त तीनों वर्गों में समाहित विषय-वस्तु तक ही लोक वार्ता का विस्तार नहीं है। लोक वार्ता की व्यापक सामग्री का अधिक विस्तृत वर्गीकरण हो सकता है और एक-एक विभाग के अनेकानेक उपविभाग किये जा सकते हैं।[2]

---

1. 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन', डा० सत्येन्द्र।

2. (a) "Folklore means the study of survival of early custom belief narrative an art."
—An introduction to mythology by lewis spence, Page 11.

लोक साहित्य

लोक साहित्य लोक वार्ता का एक अंग है। सोफिया बर्न द्वारा प्रस्तुत लोक-वार्ता सामग्री के उपर्युक्त तीन वर्गों में से तीसरे वर्ग की सामग्री लोकसाहित्य है। इस प्रकार लोकसाहित्य और लोक वार्ता में अंग और अंगी का सम्बन्ध है।

लोकवार्ता को लोकसंस्कृति की संज्ञा से अभिहित करते हुए डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक-साहित्य का उससे सम्बन्ध दिखाते हुए कहा है—

"लोकसाहित्य लोकसंस्कृति का एक भाग है, उसका एक अंश है। यदि लोक संस्कृति की उपमा किसी विशाल वट-वृक्ष से दी जाय तो लोक-साहित्य को उसकी एक शाखा मात्र समझना चाहिये। यदि लोक-संस्कृति शरीर है तो लोक-साहित्य उसका एक अवयव है। लोक-संस्कृति का क्षेत्र-विस्तार अत्यन्त व्यापक है, परन्तु लोक साहित्य का विस्तार संकुचित है। लोक-संस्कृति की व्यापकता जन-जीवन के समस्त व्यापारों में उपलब्ध होती है परन्तु लोकसाहित्य जनता के गीतों कथाओं, गाथाओं, मुहावरों और कहावतों तक ही सीमित है। एक का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है तो दूसरे का सीमित तथा संकुचित। लोक साहित्य अंग है तो लोकसंस्कृति अंगी है। लोक संस्कृति में लोकसाहित्य का अन्तर्भाव होता है परन्तु लोकसाहित्य में लोक संस्कृति का समावेश होना संभव नहीं है।"[1]

यहाँ लोकवार्ता और लोकसाहित्य का पार्थक्य स्पष्टतया लक्षित हो रहा है। लोक वार्ता के एक पृथक् अंगरूप में रहने पर भी लोकसाहित्य का सम्बन्ध उसमें अन्तर्हित अन्य तत्वों से हो सकता है। जहाँ मानव के विभिन्न आचार-विचारों का स्पर्श लोक-साहित्य में होता है, वहाँ तक लोक वार्ता के अन्य विषय लोक साहित्य के लिए सहायक होते हैं।[2]

लोक साहित्य की परिभाषा देते हुए डा० सत्येन्द्र ने कहा है कि लोकसाहित्य के अन्तर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है, जिसमें—

(अ) आदिम मानस के अवशेष उपलब्ध हों।

(आ) परम्परागत मौलिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो, और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो।

(b) "Folkore may be said to include all the culture of the people which has not been worked into the official religion and history, but which is and has always been of self-growth." (Comme)—

—Psychology and Fokloro by, R. R. Marett P. 76.

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १६. प्रस्तावना पृ० १४।
2. श्याम परमार, भारतीय लोक साहित्य, पृ० २०।

(६) कृतित्व हो किन्तु वह लोक-मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी, लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करें।

लोक वार्ता की प्रवृत्ति पर विचार करते हुए 'सोकोलोव' ने भी लिखा है[1] कि लोक वार्ता की वस्तु और रूप में प्राचीन संस्कृतियों के अवशेषों की उपस्थिति न मानना असम्भव है। लोकसाहित्य में मनुष्य के आदिम सस्कारों के बीज अवश्य रहते हैं। आदिम सस्कारों का आशय उन गुणों, विशेषताओं तथा धर्मों से है जो ऐतिहासिक दृष्टि से 'आदि मानव' में समाविष्ट होंगे और जो आज भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में समस्त मनुष्यों में प्राप्त होते हैं। इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए 'हिपनेजा' ने कहा है कि आदिम मानव के हृदय का सत्य एवं प्रत्यक्षाभिव्यक्ति ही लोक वार्ता है।[2] इसी प्रकार लोक साहित्य में केवल विषयों का समावेश रहता है जो श्रुति की सीमा में आते हैं। 'राल्फ स्टोले बोगस' ने लोक साहित्य के अन्तर्गत मौखिक परम्परा में उपलब्ध सामग्री को ही उपयुक्त माना है।[3]

लिपिबद्ध साहित्य लोक साहित्य नहीं है। लोक में साहित्य अन्तर्भूत मानव-भावनाएं दीर्घकाल से मौलिक धरातल पर विचरण करती हुई चली आ रही हैं। बॉटकिन ने भी लोक की मौलिक भावाभिव्यक्ति को लोकसाहित्य का आवश्यक तत्व बताया है।[4]

लोक साहित्य का वर्गीकरण और विस्तार

लोक में व्याप्त प्राणियों के जीवन का मुखरित व्यापार लोक साहित्य है जिसमें क्षण-क्षण की अनुभूतियाँ, मनोवेग, हृदयोद्गार तथा क्रिया-व्यापार सजीव-

1. लोक साहित्य विज्ञान, डा० सत्येन्द्र, पृ० ४।
2. "Folklore may be said to be true and direct expression of the mind of primitive man."

वही, पृ० ५।

3. "But fundementlly to the Folklore, their currency must be or have been in the memory of man bequeathed from generartion to generation by word of mouth and imitative action rather that by the printed page."

—Ibid.

4. "As it approaches the lovel of the illiterate and subliteracy, Folklore constitutes a part of our oral culture in the proverbial folk-say and accumulted mother wit of generations that bind man to man aad people to people with traditional phrases.... Folklore derives its integrity and service value from a direct response to and participation in group experience and the passion of the individual and the common sense."

—B. A. Batkin (P. 399-F. Dic.)

साकार होते हैं। विश्व के विशाल प्रांगण में जो सहज और सामान्य सत्यरूप है, लोक-साहित्य उनकी विवृति करता है। देश-काल की सीमाओं के पार अनवरत गतिशील युग की सामान्य चेतना की प्रत्येक गति का, सुषुप्ति और जाग्रति का धर्म और नीति का स्वाभाविक चित्रण इसमें रहता है। विषय की विशदता के कारण लोकसाहित्य का सम्यग्वर्गीकरण समस्यामूलक रहा है; फिर भी सुविधानुसार इसका विभाजन निम्नांकित रूप में हो सकता है—

(१) लोकगीत
(२) लोकगाथा
(३) लोककथा
(४) लोकनाट्य
(५) विविध

लोकगीत—लोक-भाषा के माध्यम से स्वर और लय के संगीतात्मक आवरण में लिपिटी हुई सामान्य जन-समुदाय के हार्दिक रागाराग से पूर्ण भावानुभूतियाँ लोक-गीत कहलाती हैं। जगत की विभिन्न चेष्टाओं एवं स्थितियों का प्रभावपूर्ण चित्र इन गीतों में निबद्ध रहता है।[1]

लोकगाथा—लोक-भाषा के माध्यम से सांगीतिक आवरण में आबद्ध दीर्घ कथा-वस्तु की अभिव्यक्ति लोक-गाथा कहलाती है। लोकगीतों में गेय-तत्व प्रधान होता है, वहाँ कथानक का अभाव हो सकता है। जो कथानक होते हैं उनमें पूर्ण विकास तथा स्पष्टता नहीं रहती। लोकगाथाओं में गेय-तत्व के साथ-साथ दीर्घ कथा-नक अपेक्षित है।

लोकगाथाओं के सम्बन्ध में विभिन्न संज्ञाओं की उद्भावना की गई है। महाराष्ट्र में इन्हें 'पंवाड़ा' कहते हैं। गुजरात में ऐसे दीर्घ कथानक युक्त गीतों को 'कथागीत' कहते हैं।[2] राजस्थानी लोक साहित्यकारों ने इन्हें 'गीत कथा' के नाम से अभिहित किया है।[3] उत्तरी भारत में इनके लिये किसी निश्चित संज्ञा का प्रचलन नहीं है। प्रायः गीतों के मुख्य पात्र के आधार पर ही उनका नामकरण हो गया है। 'कुँवरसिंह', 'गोपीचन्द' 'लोरिकी' 'विजयमल' 'आल्हा' नाम लेने पर इनसे सम्बन्धित गीतों का आशय प्रकट हो जाता है। ग्रियर्सन ने इस प्रकार के गीतों को 'पापुलर सांग' कहा है।[4] अंग्रेजी में इन कथात्मक गीतों को बैलेड कहते हैं। 'बैलेड' शब्द लैटिन भाषा के बैलारे शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है नृत्य करना।[5] स्पष्ट है कि प्रारम्भ में नृत्य गीतों को ही बैलेड कहा जाता होगा। कालान्तर में नृत्य का अंश

1. लोकगीतों का विशद विवेचन आगे देखिये।
2. श्री झवेरचन्द मेघाणी, लोकसाहित्य, पृ० ५०।
3. श्री सूर्यकरण पारीक, राजस्थानी लोकगीत, पृ० ७८।
4. ग्रियर्सन, इण्डियन ऐटीक्वेरी, वाल १५, १८८५ ई० पृ० २०७।
5. 'Old Ballade', by Frank Sidgwick, Page 1.

र हो गया एवं केवल कथात्मक गीतों को ही बैलेड कहा जाने लगा। हिन्दी में इसका पर्यायवाची शब्द 'लोक गाथा' स्वीकार किया गया है।[1]

विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से 'लोक गाथा' के सम्बन्ध में विचार किया व अनुसार परिभाषाएँ निरूपित की हैं। श्री जी० एल० किटरेज के अनुसार लोक गाथा कथात्मक गीत है।[2] इन्होंने 'गीत' और 'कथा' दो तत्वों की ओर निर्देश किया है जो लोक गाथा में अनिवार्य रूप से विद्यमान रहते हैं। फ्रैंक सिजविक ने लोकगाथा को वह सरल वर्णनात्मक गीत माना है जो लोक मात्र की सम्पत्ति होती है और उसका प्रसार मौखिक रूप से होता है।[3] डा० मरे के अनुसार लोक गाथा छोटे पदों में रचित एक ऐसी प्राणमयी सरल कविता है जिसमें कोई लोकप्रिय कथा बहुत ही विशद रीति से कही गई हो।[4]

समस्त परिभाषाओं में एक ही तथ्य अनेक रूपों में व्यक्त है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि लोक गाथाओं में गेय तत्व, कथानक, रचयिता का अज्ञात व्यक्तित्व, लोक प्रियता एवं मौलिक आधार रहना आवश्यक है।

लोक गाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मतवाद प्रचलित हैं। समस्त सिद्धान्तों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है[5] —

(१) ग्रिम का सिद्धान्त	समुदायवाद
(२) श्लेगल का सिद्धान्त	व्यक्तिवाद
(३) स्टेंथल का सिद्धान्त	जातिवाद
(४) बिशप पर्सी का सिद्धान्त	चारणवाद
(५) चाइल्ड का सिद्धान्त	व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद
(६) उपाध्याय का सिद्धान्त	समन्वयवाद

उपर्युक्त समस्त सिद्धान्तों में कोई लोक गाथाओं की उत्पत्ति समुदाय द्वारा

---

1 श्री सत्यव्रत सिन्हा, भोजपुरी लोकगाथा, पृ० २।

2. "A Ballad is a song that tells a Story." —G. L. Kitredge.
'English and Scottish Popular Ballads'.
—by. F. G Child, Page 11.

3. 'Simple narrative songs that belong to the people and are handed on by word of mouth."
—'Old Ballads' by Frank Sidgwick, p. 3.

4. 'A Simple Spirited poem in short stanzas in which some popular story is graphically told."
—Dr. Murry, The English Balled, p. 8.

5 हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (लोक संस्कृति, भाग) पृ० ७७।

मानता है, कोई व्यक्ति विशेष द्वारा, कोई विशेष जाति को ही इसका निर्माता समझता है और किसी के अनुसार प्राचीन काल के चारणों द्वारा इनका निर्माण हुआ है। कतिपय विद्वान इनकी रचना व्यक्ति विशेष के द्वारा मानते हुए भी, समस्त जनता द्वारा गाए जाने और उनमे जन-समुदाय की विशेषताएँ समाविष्ट हो जाने के कारण, व्यक्तित्व की विशिष्टता अस्वीकार करते हैं। श्री कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार लोकगाथाओं के निर्माण मे उपर्युक्त समस्त मतों का समाविष्ट योग है।

लोकगाथाओं को मुख्य चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) परम्परानुगत लोकगाथाएँ (ट्रेडिशनल बैलेड)
(२) चारण लोकगाथाएँ (मिन्स्ट्रेल बैलेड्स)
(३) प्रकाशित लोकगाथाएँ (ब्राड साइड बैलेड्स)
(४) साहित्यिक लोकगाथाएँ (लिटरेरी बैलेड्स)

परम्परानुगत लोकगाथाएँ वे हैं जो शताब्दियों से मौलिक परम्परा द्वारा प्रचारित हैं और जिनके रचयिता अज्ञात हैं। चारण लोक गाथाएँ वे हैं जो चारणों द्वारा गाई जाती हैं। इनके रचयिता भी चारण ही होते हैं। प्रकाशित लोकगाथाओं के अन्तर्गत वे लोकगाथाएँ आती हैं जो मुद्रण-प्रणाली के आविष्कार के पश्चात् पेशेवर लोकगाथा-गायकों द्वारा कागज पर मुद्रित करा कर बेची जाती थीं। साहित्यिक लोकगाथाएँ वे हैं जिनकी रचना कवियों द्वारा की जाती है।

लोकगाथा एवं लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर दोनों का तात्विक अन्तर लक्षित होता है। लोक गाथा मे दीर्घ कथा वस्तु रहती है पर लोकगीत में कथानक का अभाव हो सकता है। किसी भाव-विशेष पर ही लोकगीत-रचना हो सकती है। कहीं-कहीं कथानक रहता भी है तो गौण रूप से। लोकगाथा में चरित्रों की प्रधानता रहती है। किसी व्यक्ति-विशेष के सम्पूर्ण जीवन का सांगोपांग वर्णन उसमे रहता है। परन्तु लोकगीत में भावों की प्रधानता रहती है। नित्य प्रति की घटनाओं से उत्पन्न सुख एवं दुःख, संघर्ष एवं द्वन्द्व, प्रार्थनाएँ एवं याचनाएँ उसमें रहती हैं। लोकगाथा का आकार बड़ा होता है। वह महाकाव्य के समान विशाल एवं गहन होता है, पर लोकगीतों का स्वरूप अपेक्षाकृत लघु होता है। लोकगाथा में विषय की उतनी विविधता नहीं रहती जितनी लोकगीतों मे रहती है। वहाँ केवल कथानक से सम्बन्धित विषयों का ही निरूपण होता है पर लोकगीतों का विषय-क्षेत्र विस्तृत होता है। विभिन्न संस्कारों, त्योहारों, प्रथाओं, ऋतुओं एवं परम्पराओं आदि का वर्णन उनमे रहता है। लोकगाथा में समस्त विषय मुख्य कथानक से चिपटे हुए चलते हैं, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, पर लोकगीत में समस्त विषय स्वतन्त्र रूप से आ सकते हैं। लोकगाथाओं में संगीत तत्त्व का एक सबल प्रवाह रहता है। एक ही लय मे प्रेम, विरह तथा युद्ध इत्यादि का वर्णन हो जाता है परन्तु लोकगीतों में अनेक प्रकार की राग-रागनियों का समावेश रहता है। भावों के अनुकूल संगीत शैली परिवर्तित हो जाती है।

लोक-कथा—लोक-भाषा के माध्यम से सामान्य लोक-जीवन में प्रचलित,

श्रेवालिक विश्वास, आस्था और परम्परा पर आधारित कथाएँ, 'लोक-कथा' के अन्तर्गत आती हैं। शांति और अशांति के विभिन्न क्षणों में ये लोक कथायें जन-समुदाय में स्फूर्ति एवं प्रेरणा का रक्त संचार करती हैं। लोक-मानस में परिव्याप्त होकर असीम आनन्द की लहरों में सुन्दर सत्य का उद्घाटन करता हैं।

लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोक-कथाओं का विशेष महत्व है। भारत में लोक-कथा का स्रोत सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। विश्व का सम्पूर्ण कथा-साहित्य भारतीय कथाओं से अनुप्राणित हुआ है। लोक कथाओं के बीज सर्वप्रथम वेदों में प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में ऋषि शुनः शेप का प्रसिद्ध आख्यान मिलता है।[1] अपाला आत्रेयी की कथा भी यहीं दृष्टिगोचर होती है।[2] च्यवन और सुकन्या की कथा भी इसमें वर्णित है।[3] ब्राह्मणग्रन्थों में भी अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं। शतपथ ब्राह्मण में पुरुरवा और उर्वशी की प्रसिद्ध कथा का वर्णन है।[4] ऐतरेय ब्राह्मण में शुनः शेप ऋषि की कथा का उल्लेख है।[5] शाटयायन ब्राह्मण में महर्षि वृश का आख्यान प्राप्त होता है।[6] उपनिषदों में भी अनेक कथाओं का समावेश है। कठोपनिषद् में नचिकेता की कथा और केनोपनिषद में अग्नि एवं यक्ष की कथा प्राप्त होती है। संस्कृत साहित्य में लोककथाओं का सर्वाधिक प्राचीन तथा विशाल संग्रह गुणाढ्य का 'बृहत्कथा' है। मूल रूप से यह ग्रन्थ पैशाची भाषा में लिखा गया था पर अब इसके संस्कृत अनुवाद ही प्राप्त होते हैं। इसके तीन संस्कृत अनुवाद हैं—

(१) बृहत्कथा श्लोक संग्रह	रचयिता	बुध स्वामी
(२) बृहत्कथा मंजरी	,,	आचार्य क्षेमेन्द्र
(३) कथासरित्सागर	,,	महाकवि सोमदेव

इसके पश्चात् द्वितीय महत्वपूर्ण कथा संग्रह 'पंचतन्त्र' है। इसका अनुवाद यूरोप की अनेक भाषाओं में हो चुका है और संसार की कहानियों पर इसने अत्यधिक प्रभाव डाला है। यह संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक मौलिक एवं प्राचीन कथा ग्रन्थ है। आचार्य विष्णु शर्मा ने पाँच भागों या तन्त्रों में इसका निर्माण किया था। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में हितोपदेश, बैताल पंचविंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशिका, शुक सप्तति, माधवानल कथा, कथार्णव, पुरुष परीक्षा, पातकमाला आदि कथा ग्रन्थ भी हैं। हिन्दी में उपलब्ध कथाओं की संख्या अनन्त हैं। समस्त कथाओं का संग्रह करने पर अनेक बृहद् ग्रन्थों की रचना हो सकती है।

---

1. ऋ० वे० १/२४/३० ।
2. वही, ८, ६, १ ।
3. वही, १० ३६/८ ।
4. शा० ब्रा०, ११ ५ १ ।
5. ऐतरेय ब्रा० ७ ३ ।
6. शा० ब्रा० ४ ७ ।

लोककथाओं का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है।[1] प्राचीन आचार्यों ने कथा-साहित्य को दो वर्गों में विभक्त किया है—कथा और आख्यायिका। कथा कल्पना पर आधारित रचना होती है और आख्यायिका में ऐतिहासिक घटना का आधार रहता है। आनन्दवर्द्धन ने कथा के तीन भेदों का उल्लेख किया है—(१) परिकथा, (२) सकल कथा, और (३) खण्ड कथा। परिकथा में घटना का इतिवृत्तात्मक वर्णन रहता है, सकल कथा में बीज से फल प्राप्ति तक सम्पूर्ण कथा का समावेश रहता है, खण्ड कथा एक देश प्रधान होती है। हरिभद्राचार्य के अनुसार कथाओं के निम्नलिखित चार भेद हैं—

(१) अर्थकथा
(२) कामकथा
(३) धर्मकथा
(४) संकीर्णकथा

अर्थ प्राप्ति उद्देश्य से पूर्ण कथा अर्थ कथा, शृंगारिक वर्णन से युक्त कथा, काम कथा, धार्मिक तत्वों से पूर्ण कथा, धर्म कथा और दोनों लोकों के विषयों से सम्बन्धित कथा संकीर्ण कहलाती है। बंगला लोक-साहित्य के विद्वान डा० दिनेशचन्द्रसेन ने लोककथाओं का विभाजन इस प्रकार किया है[2]—(१) रूप कथा, (२) हास्य कथा, (३) व्रतकथा और (४) गीतकथा। रूपकथा में अमानवीय एवं अप्राकृतिक तत्वों का वर्णन रहता है। हास्यकथा में मनोरंजक विषय वर्णित होते हैं। व्रत कथा किसी त्योहार या व्रत से सम्बन्धित होती है। गीतकथा बच्चों को पालने में झुलाते समय कही जाती है। डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने वर्ण्यविषय के आधार पर लोककथाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है[3]—

(१) नीतिकथा, (२) व्रतकथा, (३) प्रेमकथा, (४) मनोरंजक कथा, (५) दन्तकथा और (६) पौराणिक कथा।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी वर्ण्य-विषय के अनुसार लोककथाओं की अनेक श्रेणियाँ स्थापित की हैं; यथा—

(१) कल्पितकथा (फेबुल), (२) परियों की कथा, (फेयरी टेल्स), (३) दन्तकथा (लीजेंड) (४) और पौराणिक कथा (मिथ)।

कल्पित कथा के अन्तर्गत पशु-पक्षियों द्वारा नैतिक उपदेश का निरूपण किया जाता है। परियों की कथा में परी, अप्सराओं एवं लौकिक व्यक्तियों की कथा रहती है। दन्त कथाओं में ऐतिहासिक आधार पर आधारित कथाएँ आती हैं जो मौखिक

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० ११३।
2. डा० सेन, फाक लिटरेचर आव बंगला।
3. डा० उपाध्याय, लोकसाहित्य की भूमिका, पृ० १२९।

परम्परा के क्रम में अनेक नवीन तथ्यों से युक्त हो जाती है। पौराणिक कथा के अन्तर्गत देवी-देवताओं सम्बन्धी कथाओं का समावेश रहता है।

लोककथाओं में प्राप्त होने वाले मुख्य तत्व निम्नांकित हो सकते हैं[1]—

(१) प्रेम का अभिन्न पुट, (२) अश्लील शृंगार का अभाव, (३) मानव की मूल वृत्तियों से निरन्तर साहचर्य, (४) मंगल कामना की भावना, (५) सुखान्तता, (६) रहस्य रोमांच एवं अलौकिकता की प्रधानता (७) उत्सुकता की भावना और (८) वर्णन की स्वाभाविकता।

प्राचीन लोककथाओं में प्रेम की अनन्यता अन्तर्भूत रहती है। भाई-बहन का प्रेम 'पति-पत्नी का प्रेम,' पिता-पुत्र का प्रेम—आदर्श, त्याग और गंभीरता के साथ वर्णित रहता है। लोककथाओं में काम-वासना की प्रधानता कहीं भी नहीं प्राप्त होती है, जबकि अधिकांश आधुनिक कहानियों में वासना तत्व ही विद्यमान रहता है। लोककथाओं में मानव की सहज वृत्तियाँ अपने स्वाभाविक रूप में प्रकाशित होती हैं। प्रत्येक लोककथा का चरम लक्ष्य सर्व कल्याण की भावना में निहित होना है। इसीलिए लोककथा का पर्यवसान सदा सुख में होता है। लोककथाओं में प्रायः अमानवीय एवं अलौकिक तत्त्वों का समावेश होता है। भूत, प्रेत, पिशाच, दानव, परी, उड़ने वाले पशु, मानवीय भाषा बोलने वाले पक्षी आदि का वर्णन रहता है जो कथा में उत्सुकता एवं कौतूहल की सृष्टि करता है। लोककथाओं की भाषा सरल एवं स्वाभाविक होती है। कृत्रिमता का वहाँ सर्वथा अभाव होता है।

लोककथाओं एवं आधुनिक कहानियों पर तुलनात्मक दृष्टिपात करने से स्वरूपगत एवं विषयगत बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है। लोककथाओं की रचना-पद्धति सरल होती है परन्तु आधुनिक कहानियों का रचना-शिल्प जटिलता पूर्ण होता है। लोककथाओं की रचना में कथातत्वों के निर्वाह का आग्रह नहीं होता है जबकि आधुनिक कहानी का विन्यास तात्विक नियमों के अनुसार होता है। लोककथाओं के विषय सीधे एवं सरल रहते हैं। प्रायः मानव की मूल प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति उनमें होती है। आधुनिक कहानियों की विषय वस्तु विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शृंगारिक संघर्ष एवं विषमताओं के जाटिल्य से पूर्ण होती है। इसीलिए आधुनिक कहानियों में दुःखान्तता प्राप्त होती है, जबकि लोककथाएँ सुख और समृद्धि के सम्भार में पर्यवसित होती हैं।

लोक नाट्य—गीत, नृत्य और संगीत से युक्त लोकानुरंजक कथा वस्तु का लोकभाषा में अभिनीत होना लोक-नाट्य है। सामान्य-जीवन में अवकाश के क्षणों में लोक-नाट्य सार्वजनिक मनोरंजन का सर्वोत्तम साधन होता है। दिन भर की परिश्रम-जन्य क्लान्ति, चिन्ताओं और अवसाद का परिहार मनुष्य इस प्रकार के मनोरंजक कार्यक्रमों में पाता है। प्रत्येक देश का लोक-जीवन—लोक-नाट्यों की झंकार से गुंजित है।

लोक-नाट्य की परम्परा अति प्राचीन है। नाटकों की उत्पत्ति का इतिहास

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १६, पृ० १२२।

वैदिक काल से ही आरम्भ होता है। भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा का उल्लेख है कि इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने ब्रह्मा से मनोविनोद का ऐसा साधन उत्पन्न करने की प्रार्थना की जो श्रव्य और दृश्य—दोनों हो और जिससे सभी वर्गों के व्यक्तियों का मनोरंजन हो सके। चारों वेदों का पठन-पाठन शूद्रों के लिए निषिद्ध था अतः पंचमवेद की आवश्यकता हुई। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर 'नाट्यवेद' की रचना की।[1] इस प्रकार नाटक समस्त व्यक्तियों के अनुरंजन का साधन हुआ।

वेदों में नाटकीय तत्वों के बीज प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद की संवादात्मक ऋचाएँ नाटकीय संवादों का मूल रूप हैं। गीत, नृत्य और अभिनय के तत्व वेदों में प्राप्त होते हैं, उन्हीं के योग से नाटक का जन्म हुआ। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में सरगुजा रियासत की पहाड़ी में 'सीता बेंगा' और 'जोगीमारा' गुफाओं में स्थित प्रेक्षागृह प्राप्त होता है, जो तत्कालीन नाट्य विलास का परिचायक है। पाणिनि के अष्टाध्यायी में नटों (अभिनेता) का उल्लेख मिलता है। पतंजलि के महाभाष्य में 'कंसवध' एवं 'बलिबन्ध' नाटकों के अभिनीत होने का वर्णन है। पालि ग्रन्थों में बौद्ध भिक्षुओं के लिए नाटक देखना निषिद्ध माना गया है। कीटागिरि की रंगशाला में नृत्य देखने के अपराध में दो भिक्षुओं को दण्ड देने का भी उल्लेख हुआ है।[2] संस्कृत साहित्य में नाटकों का पूर्णरूपेण विकास हुआ। भास, अश्वघोष और कालिदास के नाटक प्रख्यात हैं। इसके पश्चात् नाटकों का विकास क्रम अनवरुद्ध गति से चलता रहा। मुगल-शासनकाल में संस्कृत साहित्य की नाट्य परम्परा नष्ट हो गई। इसी समय भक्ति-आन्दोलन प्रवर्तित हुआ और कृष्ण तथा राम के जीवन चरित प्रकाश में आए। सगुण ब्रह्म के उपासकों ने अपने इष्ट देव राम अथवा कृष्ण के स्वरूप प्रसार के लिए कृष्ण लीला और राम लीला को जन्म दिया। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन के प्रभाव से उत्तर भारत में लोक धर्मी नाट्य परम्परा का उदय हुआ। अनेक स्थानों पर धार्मिक भावना से अनुप्राणित हो कर भगवत लीलाओं का प्रचार होने लगा और लोक नाटकों के विकास में गति आई।

लोक नाट्यों के अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं[3]—(१) रास, (२) स्वांग, (३) मंडली या नक्ल, (४) भगत या नौटंकी, (५) संगीत स्वांग, (६) खोइया और (७) शारीरिक या कायिक।

इनमें कुछ प्रहसनात्मक होते हैं और कुछ नृत्यनाट्यात्मक। प्रथम में किसी कथा या घटना को अभिनय का विषय बनाया जाता है एवं द्वितीय में अभिनय के साथ-साथ संगीत तथा नृत्य का प्रभाव भी रहता है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोक-नाट्य प्रचलित हैं। उत्तर भारत में रामलीला और रास-लीला का प्रचलन है, उसके पश्चिमी जिलों में नौटंकी का अत्यधिक प्रचार है। मध्य-भारत में 'माच' नामक लोकनाट्य प्रसिद्ध है। मांच शब्द 'मंच' का अपभ्रंश

1. नाट्य-शास्त्र, १/१७-१८।
2. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १६, पृ० १११।
3. डा० सत्येन्द्र लोकसाहित्य विज्ञान, पृ० १४७।

रूप है। राजस्थान में ख्याल कठपुतली के रूप मे इसका प्रचार है। गुजरात में 'भवाई' नामक लोक नाट्य लोकप्रिय है। बंगला मे 'जात्रा' और 'गंभीरा' प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र में तमाशा, ललित, गोंधल, बहुरूपिया, और दशावतार प्रख्यात हैं।[1]

लोक नाट्यों की कतिपय विशेषताएँ होती हैं, जिनमे लोक-समुदाय की प्रवृत्तियाँ अन्तर्निहित हैं।

(१) सामूहिक अभिनय—लोक नाट्यों मे व्यक्ति विशेष का महत्व नगण्य होता है। समूह, जाति अथवा समाज की भावनाएँ सम्पूर्ण नाटक मंडली के संयुक्त अभिनय के द्वारा व्यक्त होती हैं।

(२) आडम्बर-हीन रंगमंच—लोक नाट्य अधिकतर खुले हुए रंगमच पर हुआ करते हैं। जनता खुले मैदान मे जमीन पर बैठकर नाटक देखती है। ऊँची भूमि और चबूतरों पर अथवा तख्त बिछाकर रंगमंच का निर्माण कर लेते हैं। मच पर पर्दों का अभाव होता है। सम्पूर्ण कथा अविच्छिन्न रूप से अभिनीत की जाती है। दृश्य-परिवर्तन की सूचना पद्यमय कथन से समझा दी जाती है। पात्रगण किसी दीवाल या पेड़ की आड़ मे अपना प्रसाधन करते हैं।

(३) कथाओं का विकृत रूप—जिन पौराणिक, ऐतिहासिक या धार्मिक कथाओं को लोक-नाट्य का आधार बनाया जाता है, उनमे समुचित अनुकरण-कौशल के अभाव मे विकृति आ जाती है। लोक अभिनेता कथा के प्रसंगों का ठीक-ठीक आविर्भाव नहीं कर पाते। किन्तु दर्शकों के मनोरंजन-व्यापार मे इस कथा विकृति से कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता।

(४) पात्र—लोक नाट्यों मे प्रायः पुरुष ही स्त्री-पुरुष—दोनों का अभिनय करते हैं। लोक नाट्य के अभिनेताओं मे स्थानीय वैशिष्ट्य होता है। पात्र प्रायः वेश-भूषा पर ध्यान न देकर केवल अभिनय द्वारा ही जनता को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं।

(५) चरित्र चित्रण—लोक नाट्यों में चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता रहती है। प्रायः पौराणिक कथाओं के मुख्य पात्रों का चरित्र चित्रण किया जाता है अथवा समाज के परिचित चरित्रों पर प्रकाश डाला जाता है। पौराणिक पात्रों में मुख्य रूप से राम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, अंगद, रावण, दशरथ, जनक, कृष्ण, नन्द, कंस, अभिमन्यु इत्यादि के विशिष्ट स्वरूप सम्मुख आते हैं और सामाजिक व्यक्तियों मे कंजूस बनिया, पाखण्डी साधु, अत्याचारी अफसर, शराबी पति, दुष्टा सास, कुलटा वधू इत्यादि के चरित्र उपस्थित होते हैं।

(६) रूप योजना का अभाव—लोक नाट्यों मे पात्र एवं देशकाल के अनुरूप प्रसाधन, अलंकार, वस्त्र आदि का अभाव रहता है। कोयला, काजल,

---

1. श्याम परमार, भारतीय लोक साहित्य, पृ० १८०-१८२।

कार्य पूर्ण हो जाता है।

संवाद—लोक-नाट्यों के संवाद सरल, संक्षिप्त एवं प्रभावपूर्ण होते हैं। दीर्घ एवं जटिल संवादों को सुनने का धैर्य दर्शकों को नहीं होता। संवाद गद्य और पद्य—दोनों में हो सकते हैं।

विविध

सामान्य जन-जीवन के अन्तर्गत गीत, गाथा, कथा एवं नाट्य के अतिरिक्त वाणी-व्यापार के कुछ अन्य रूप भी प्राप्त होते हैं जिन्हें लोकोक्तियों, मुहावरों और पहेलियों में संज्ञाबद्ध किया जा सकता है।

लोकोक्तियाँ

लोकोक्तियों में अनुभव सिद्ध ज्ञान का वृहत् कोष छिपा हुआ है। जन सामान्य में लोकोक्तियों का अत्यधिक प्रचलन रहता है। आबाल-वृद्ध में इन लोकोक्तियों का कंठस्थ स्वरूप लक्षित होता है। इन्हें मानवी ज्ञान का सूत्र भी कहा जा सकता है। जिन सत्य तथ्यों का साक्षात्कार मनुष्य अपने जीवन-काल में करता रहा है, उनका सम्पूर्ण सार लोकोक्तियों में प्लावित होता रहता है। चिर संचित अनुभव भूला ज्ञान-राशि का सूत्रबद्ध संक्षिप्त प्रकाशन लोकोक्तियों में प्राप्त होता है। लोकोक्तियों के लघु आकार में भी गागर में सागर के समान नीति, शिक्षा, अध्यात्म, राष्ट्र सभी समाज एवं जाति के व्यापक नियम, सिद्धान्त एवं आचार-विचारों का समावेश रहता है। लोकोक्ति की एक छोटी-सी सीमा में विशाल राष्ट्र का स्वरूप प्रतिबिम्बित हो सकता है।

लोकोक्तियाँ व्यक्ति-परक न होकर सामूहिकता से सम्बन्धित होती हैं। व्यक्ति की एक सहज उक्ति ही लोक से स्वीकृत हो जाने पर लोकोक्ति बन जाती है। वैयक्तिक अनुभव ही समस्त मानव-प्राणियों के मन एवं मस्तिष्क पर प्रभाव डाल कर सर्वजनीन एवं सर्व ग्राह्य बन जाता है तब लोकोक्ति कहलाता है।

लोकोक्तियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वेदों में अनेक स्थलों पर इनकी उपलब्धि होती है।[1]

उपनिषदों में भी इनका बाहुल्य है। त्रिपिटक तथा जातक कथाओं में भी इनका प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। संस्कृत साहित्य में लोकोक्तियों का अत्यधिक सुन्दर निरूपण हुआ है। संस्कृत में लोकोक्ति को सुभाषित या सूक्ति कहा गया है। सुन्दर रीति से कहा गया कथन ही सुभाषित है—सुष्ठु भाषितं सुभाषितम्। इस प्रकार लोकोक्ति वह सुन्दर रीति से कहा गया कथन है जो लोक-व्यापी प्रभाव से

---

1. "कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।" —अथर्व वेद ७/५२/८।
   'अदीनाः स्याम शरदः शतम्।" यजुर्वेद ३६/२४।
   "न ऋते श्रान्तस्य सख्या देवाः।" ऋग्वेद ४/३३/११।

पूर्ण हो। हिन्दी मे लोकोक्तियों का प्रसार भी बड़े व्यापक रूप से प्राप्त होता है। इसमे सन्देह नही कि पूर्वोक्त प्राचीन लोकोक्तियो का उत्तराधिकार हिन्दी में बहुत अंशों में यथावत् चला आया है। संस्कृत का 'वरमद्य कपोतो श्वो मयूरात्।' (कल के मोर से आज का कबूतर अच्छा) हिन्दी मे 'नौ नकद भले तेरह उधार नहीं' के रूप मे विद्यमान है। उसी प्रकार राजशेखर की 'कर्पूर मंजरी' मे प्रयुक्त हत्थकंकण कि दप्पणेण पेक्खी आदि का हिन्दीरूप 'हाथ कंगन को आरसी क्या' प्रख्यात है। इस प्रकार अनेक अर्वाचीन कहावतो मे प्राचीन काल की विचार-धारा का प्रवाह प्राप्त होता है। प्राचीन तथ्यो को धारण करने के अतिरिक्त लोकोक्तियों में समयुगीन अनुभव एवं व्यवहार सिद्ध ज्ञान भी जुड़ता रहता है। कल्पना की अवास्तविक छाया इनमे नही होती, बल्कि यथार्थ जीवन के धरातल पर उत्पन्न तत्वों से इनका निर्माण होता है। जार्जिया देश की लोकोक्तियों पर विचार करते हुए एक विद्वान ने कहा है कि लोकोक्तियाँ वे संक्षिप्त सुभाषित हैं जिनमे नैतिक विचारो तथा लौकिक ज्ञान का ही—जो जनता के चिरकालीन निरीक्षण तथा अनुभव से प्राप्त होता है—वर्णन नही है, बल्कि इसके अतिरिक्त वे संस्कृति के तत्व, पौराणिक कथाओं के स्वरूप तथा ऐतिहासिक घटनाओ पर भी प्रकाश डालती हैं।[1]

वर्गीकरण की दृष्टि से विचार करने पर हम लोकोक्तियो को पाँच वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है[2]—

(१) स्थान सम्बन्धी लोकोक्तियाँ
(२) जाति सम्बन्धी लोकोक्तियाँ
(३) प्रकृति या कृषि सम्बन्धी लोकोक्तियाँ
(४) पशुपक्षी सम्बन्धी लोकोक्तियाँ
(५) प्रकीर्ण लोकोक्तियाँ

भारत मे अनेक ऐसी लोकोक्तियों का प्रचलन है जिनमें स्थानीय विशेषताओं की स्पष्ट झलक प्राप्त होती है। बिहार तिरहुत प्रदेश की विशेषताओ को प्रकट करने वाली लोकोक्ति इस प्रकार है—

कोकटी धोती पटुआ साग
तिरहुत गाँव बड़े अनुराग
भाप भरत तन तरुणी रूप
एतबंत तिरहुत होइ अनूप।

कुछ लोकोक्तियों में जाति विशेष की विशिष्टताओं एवं प्रवृत्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है—

बामन, कुक्कुर, भाऊ
आपन जाति देखि गुर्राऊ।

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १६, प्रस्तावना, पृ० १३२ से उद्धृत।
2. वही, पृ० १४०।

उपर्युक्त लोकोक्ति में ब्राह्मण, कुत्ता, एवं नाऊ की समान वृत्ति की ओर संकेत किया गया है। ये तीनो अपनी जाति के व्यक्ति को देखकर ही स्पर्द्धा वश क्रुद्ध हो उठते हैं।

प्रकृति और कृषि सम्बन्धी लोकोक्तियाँ भी प्रचुर सख्या में उपलब्ध होती हैं। भोजपुरी प्रदेश मे प्रचलित एक लोकोक्ति मे वर्षा और कृषि का सम्बन्ध वर्णित हुआ है—

अगहन दूना पूस सवाई,
माघ मास घरहू से जाई।

उक्त लोकोक्ति का आशय है कि अगहन मे वर्षा होने पर दुगुना अन्न उत्पन्न होता है, पूस मे वर्षा होने से सवागुना और माघ में वर्षा होने से घर की पूँजी भी समाप्त हो जाती है।

पशु पक्षी से सम्बन्धित लोकोक्तियाँ भी जन-सामान्य में अत्यधिक लोक प्रिय हैं। इनमें पशु-पक्षी के स्वभाव, गुण, दोष आदि का उल्लेख मिलता है। एक लोकोक्ति मे उत्तम बैल के गुणों का वर्णन किया गया है—

सींग मुड़े, माथा उठा, मुँह का होवे गोल।
रोम नरम, चंचल करन, तेज बैल अनमोल॥

प्रकीर्ण लोकोक्तियों मे विभिन्न विषयो से सम्बन्धित ग्रामीण उक्तियों का समावेश है। इनमे नीति के वचन नीरोग, रहने के नुस्खे व्यंग्यात्मक कथन आदि उल्लिखित रहते हैं।

लोकोक्तियों के द्वारा जीवन के अनमोल अनुभवों के आधार पर नैतिक शिक्षा की जो प्रेरणा मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। नीति-विषयक लोकोक्तियों में अपूर्व ज्ञान-भंडार छिपा रहता है। एक लोकोक्ति में कहा गया है कि—साधु का विनाश दासी (स्त्री) के कारण, चोर का विनाश खाँसी के कारण, प्रेम का विनाश हँसी (अपमान) के कारण तथा बुद्धि का विनाश स्वस्थकर भोजन न मिलने के कारण हो जाता है।

सधुवं दासी, चोरवं खाँसी, प्रीति विनासं हाँसी।
घग्घा उनकी बुद्धि बिनासी, खाय जो रोटी बासी॥

लोकोक्तियों में व्यंग्य के द्वारा तथ्य-प्रकाशन की परम्परा अत्यधिक रही है। दूसरे के दोषों को देखकर उसके प्रति चुटीला व्यंग्य करके पारस्परिक मनोरंजन की सामग्री एकत्र कर लेना जन साधारण की एक प्रवृत्ति पाई जाती है। इसीलिए वहाँ व्यग्य प्रधान उक्तियों का बाहुल्य दिखाई देता है। बड़े अपराध के लिए छोटा सा प्रायश्चित्त करने वाले के लिए कहा गया है—

गाइ मारि के जूता दान

इसी प्रकार स्वयं अभाव-ग्रस्त रहकर भी दूसरे के प्रति अनुचित व्यय करने वाले व्यक्ति पर व्यंग्य किया गया है—

कनिया के भाँड़ ना सोकनी के चुनियाँ।

अर्थात्—वधू को तो मांड भी नहीं मिलता और नौकरानी को बूंदी दी जाती है।

लोकोक्तियों की कतिपय विशेषताएं होती हैं—

लाघवत्व—लोकोक्ति एक संक्षिप्त सूत्र में आबद्ध बृहत् ज्ञान राशि है। अपनी संक्षिप्तता के कारण ही वह प्रत्येक जन-कंठ पर शत-शत शय्या में विराजमान रहती है। इसी लाघवत्व गुण के कारण इसमें अन्तर्निहित भाव, मर्म पर सीधा प्रभाव डालता है।

सरलता—लोकोक्ति सरल स्वभाव युक्त साधारण जन की रचना होती है अतः उसमें सरलता का होना प्राकृतिक है। भाव और भाषा की सरलता के कारण ही एक उक्ति जन-जन के मन को स्पर्श करती हुई लोकोक्ति का रूप धारण कर लेती है। जटिल भाव और दुरूह भाषा का प्रभाव हृदय पर सीधा नहीं पड़ता। अतः लोकोक्तियों में सरलता का गुण अपेक्षित है।

अनुभव-सिद्ध ज्ञान—लोकोक्तियों में मानव का अनुभूत ज्ञान बोलता है। प्रत्यक्ष घटना, दृश्य अथवा कार्य-व्यापारों के आधार पर मनुष्य ने जो अनुभव प्राप्त किये हैं, उनका सूत्र बद्ध संक्षिप्त प्रकाशन ही लोकोक्ति है।

हिन्दी में घाघ और भड्डरी के नाम से अनेक कहावतें प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त लाल बुझक्कड़, माधोदास, हृदयराम आदि व्यक्तियों के द्वारा निर्मित कहावतें भी प्रचलित हैं।[1]

मुहावरे

मुहावरा अरबी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ होता है—'परस्पर बात-चीत और सवाल-जबाब करना'। अंग्रेजी भाषा में इसे 'ईडियम' नाम से सम्बोधित करते है। संस्कृत में इस शब्द के यथार्थ अर्थ का बोधक कोई शब्द नहीं है। कतिपय विद्वानों के द्वारा 'प्रयुक्तता' 'वाग्रीति' एवं 'रमणीय प्रयोग' का व्यवहार इस शब्द के लिये हुआ है। परन्तु इन शब्दों से मुहावरे के भाव का सम्यक् प्रकाशन नहीं होता, अतएव ये शब्द-रूप उपयुक्त नहीं हैं।

अरबी में मुहावरा शब्द का अर्थ सीमित है परन्तु हिन्दी और उर्दू में यह अधिक व्यापक हो गया है। वहाँ लक्षणा अथवा व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य को ही मुहावरा कहते हैं। मुहावरे का अर्थ, उसके अभिधेयार्थ से भिन्न होता है;—यथा 'फूटी आँख से देखना, मुहावरे का अर्थ इस अभिधेयार्थ से भिन्न घृणा करना है।

मुहावरों का भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। मुहावरों के प्रयोग से भाषा में सप्राणता आती है। लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा भावों का प्रकाशन अधिक सुन्दरता तथा सांकेतिकता से हो जाता है। मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग से युक्त

1. प० रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम साहित्य भाग ३ में इन सबकी कहावतों का संग्रह किया है।

होने के कारण भाषा में सौंदर्य, माधुर्य एवं विलक्षणता की सृष्टि करते हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि मुहावरा किसी भाषा या बोली में प्रयुक्त होने वाला एक ऐसा वाक्य खण्ड है जिसकी उपस्थिति से कथन की रोचकता और सफलता में वृद्धि होती है। मुहावरे की उत्पत्ति का इतिहास भाषा के जन्म से जुड़ा हुआ है।[1] प्राचीन साहित्य में मुहावरों का प्रयोग प्राप्त होता है। 'पंचतंत्र' में 'अर्धचंद्रम् दत्वा निस्सारितः' एक वाक्य है जिसमें 'अर्धचंद्र देना' मुहावरा है जिसका अर्थ होता है गला पकड़ कर बाहर निकाल देना। 'वेणी संहार' के तृतीय अंक में अश्वत्थामा द्वारा कथित एक वाक्य में 'जीभ गिर जाना' मुहावरे का प्रयोग हुआ है—

"कथमेव प्रलपतो वः सहस्रधा न दीर्णमनया जिह्वा।"

अर्थात्—इस प्रकार वार्तालाप करते हुए तुम्हारी जीभ के सहस्र टुकड़े क्यों नहीं हो जाते?

पालि भाषा में शोर-गुल होने के सन्दर्भ में 'मछली मारना' मुहावरे का प्रयोग प्राप्त होता है—

"केवटा मज्जे मच्छं विलोपेन्ति।"

अर्थात्—'मछुए मानो मछली मार रहे हों।' प्राकृत में 'मुँह पर मुहर लगाना' मुहावरे का प्रयोग मुहेसु मुद्दा' (मुखेषु मुद्रा) के रूप में मिलता है। हिन्दी में प्राचीन काल के मुहावरों की परम्परा का अनुकरण तो हुआ ही है, अनेक नवीन मुहावरों की उद्भावना भी हुई है। हिन्दी गद्य और पद्य—दोनों में मुहावरों का प्रयोग प्रचुरता से प्राप्त होता है।

मुहावरों का विस्तार-क्षेत्र अत्यधिक विशाल है। सम्पूर्ण स्थावर एवं जंगम प्रकृति से इनका सम्बन्ध है। जीवन का कोई कार्य-व्यापार ऐसा नहीं है, जिसमें मुहावरों का प्रयोग न हो सका हो। समस्त प्राकृतिक तत्वों, शारीरिक अंग-उपांगों, सामाजिक रूढ़ियों, प्रथाओं एवं परम्पराओं का उल्लेख इनमें पाया जाता है। देश की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के स्पष्ट चित्र इनमें प्रतिबिम्बित होते हैं। अनेक मुहावरों में जनता की आर्थिक स्थिति का प्रकाशन होता है; उदाहरणार्थ—'गरीबी

---

1. "मनुष्य के कार्यक्षेत्र विस्तृत हैं, उसके मानसिक भाव भी अनन्त हैं। घटना और कार्य-कारण परम्परा से जैसे असंख्य वाक्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मुहावरों की भी। अनेक अवसर ऐसे उपस्थित होते हैं, जब मनुष्य अपने मन के भावों के, कारण विशेष से संकेत अथवा इंगित किंवा व्यंग्य द्वारा प्रकट करना चाहता है। कभी कई एक ऐसे भावों को थोड़े से शब्दों में निवृत करने का उद्योग करता है, जिनके अधिक लम्बे-चौड़े वाक्यों का जाल छिन्न करना उसे अभीष्ट होता है। प्रायः हास-परिहास, घृणा, आवेग, उत्साह आदि के अवसर पर उस प्रवृत्ति के अनुकूल वाक्य-योजना होती देखी जाती है। सामयिक अवस्था और परिस्थिति का भी वाक्य विन्यास पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। और इसी प्रकार के साधनों से मुहावरों का आविर्भाव होता है।"

—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, 'बोलचाल', पृ० १३६-३७।

में आटा गीला होना' दरिद्र व्यक्ति की अभाव ग्रस्त अवस्था का सूचक है, जब एक कष्ट की उपस्थिति में ही उसे दूसरे कष्ट का भी सामना करना पड़ जाता है। 'पेट काटना' मुहावरा स्वयं कष्ट सहन करने का प्रतीक है। सामाजिक प्रथाओं को प्रकाशित करने वाले मुहावरे भी अत्यधिक प्रचलित हैं। 'थोपा बजाना' पुत्र-जन्म के समय प्रसन्नता में थाली बजाने की प्रथा की ओर संकेत करता है। 'गठ जोड़ा करना' विवाह के अवसर पर वर-वधू के ग्रन्थि-बन्धन का सूचक है। 'गोधन कूटना' मुहावरा पीटने के अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसमें कार्तिक शुक्ल द्वितीया के दिन स्त्रियों द्वारा गोबर से बनी गोधन की मूर्ति को मूसल से पीटने की प्रथा व्यक्त होती है। कुछ मुहावरों में पौराणिक कथाओं का संकेत भी मिलता है। 'चौथ का चाँद देखना' कलंकित होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसमें कृष्ण सम्बन्धी वह अन्तर्कथा निहित है जिसमें मणि चुराने का कलंक उन पर लगा था। लोक मान्यताओं एवं विश्वासों का उल्लेख करने वाले भी मुहावरे हैं। 'गीदड़ बोलना' विनाश का सूचक होता है एवं 'कौआ बोलना' प्रिय के आगमन का प्रतीक है।

मुहावरों के व्यापक क्षेत्र में जन-जीवन का प्रत्येक अंग मुखरित हुआ है। लोक-संस्कृति के अनमोल तत्व इन मुहावरों में अन्तर्निहित हैं—

मुहावरों की कतिपय विशेषताएँ होती हैं—

(१) सापेक्ष सत्ता—मुहावरों का अस्तित्व तभी सार्थक होता है जब वह किसी अन्य वाक्य का अंग बनकर प्रयुक्त होता है। उसका स्वतंत्र कोई महत्व नहीं होता। उदाहरणार्थ 'दाँत खट्टे करना' मुहावरा अपने अर्थ को तब तक व्यंजित नहीं करता जब तक यह किसी वाक्य में प्रयुक्त होकर नहीं आता।

युद्ध क्षेत्र में राम की वानर-सेना ने राक्षसों के दाँत खट्टे कर दिये—इस वाक्य में उक्त मुहावरे का अर्थ-परास्त करना स्पष्ट हो जाता है।

(२) अपरिवर्तन शीलता—मुहावरे का प्रयोग उसके मूल रूप में होना चाहिये। रूप परिवर्तित हो जाने पर मुहावरा नष्ट हो जाता है; यथा—'नौ दो ग्यारह होना' का 'आठ तीन ग्यारह' होना रूपान्तर करने पर मुहावरे का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

(३) लक्ष्यार्थ की प्रधानता—मुहावरे का उद्देश्य उसके शाब्दिक अर्थ से भिन्न किसी विशिष्ट अर्थ की व्यजना करना होता है। 'गड़े मुर्दे उखाड़ना' एक मुहावरा है जिसका अर्थ वास्तव में मुर्दों को उखाड़ना नहीं है बल्कि बीती बातों को स्मरण करना है। इस प्रकार मुहावरों में लक्षित अर्थ की प्रधानता होती है।

पहेलियाँ

मानव-हृदय अनन्त भावनाओं का स्रोत है। इन अनन्त भावनाओं में बहुत सी इस प्रकार की भावनाएँ होती हैं जो सार्वजनिक हो सकती है, जिनकी अभिव्यक्ति उन्मुक्त रूप से की जा सकती है और बहुत सी ऐसी भावनायें भी होती हैं जिनकी अभिव्यक्ति सबके समक्ष नहीं की जा सकती। यहीं पर मनुष्य में गोपनीयता की

प्रवृत्ति जन्म लेती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य निर्दिष्ट व्यक्ति तक अपनी भावना को प्रेरित करने के लिए गुप्त साधनों का प्रयोग करता है। 'पहेली' वाणी का वह दुरूह व्यापार है जिसमें मनुष्य की गोपनीयता की प्रवृत्ति अन्तर्भूत है। डा० फ्रेजर ने लिखा है कि पहेलियों की रचना उस समय हुई होगी जब कुछ कारणों से वक्ता को स्पष्ट शब्दों में किसी बात को कहने में किसी प्रकार की अड़चन पड़ती होगी।[1] दुर्बोध कथन-पद्धति को पहेली कहते हैं। प्रारम्भ में पहेली का जन्म मनुष्य की इसी स्वाभाविक गोपनीयता की आवश्यकता वश हुआ होगा, पर आगे चल कर यह बौद्धिक माप का मनोरंजक पैमाना बन गई।

पहेलियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक ग्रन्थों में भी इसका स्वरूप प्राप्त होता है। वेदों में ये पहेलियाँ 'ब्रह्मोद्य' नाम से प्राप्त होती हैं। अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर अनुष्ठान के एक अंग रूप में इनका उपयोग होता था। अश्व का बलिदान करने से पूर्व होतृ एवं ब्राह्मण में पहेली-बुझौवल होता था, इसी को ब्रह्मोद्य कहा गया है। वेदों के उपरान्त यही परम्परा लौकिक क्षेत्रों में भी प्रचलित हो गई होगी या साथ-साथ चली होगी।[2] उपनिषदों में भी रहस्यात्मक भाषा का प्रयोग हुआ है। नाचिकेता और यम के मध्य जिस रहस्यमय तत्त्व के विषय में वार्तालाप हुआ है वह एक पहेली ही है। गीता में भगवान कृष्ण ने संसार की उपमा रहस्यात्मक ढंग से एक पीपल के वृक्ष से दी है, वहाँ भी एक पहेली के तत्त्व विद्यमान हैं। महाभारत में यक्ष के द्वारा पाँचों पाँडवों से किए जाने वाले प्रश्न भी पहेली के समान थे जिनका उत्तर केवल युधिष्ठिर ही दे सके थे। संस्कृत साहित्य में पहेली को 'प्रहेलिका' कहा जाता है। वहाँ प्रचुर परिमाण में इनकी प्राप्ति होती है; उदाहरणार्थ—

पंचभर्त्री न पाञ्चाली, द्विजिह्वा न सर्पिणी
कृष्ण मुखी न मर्जारी य जानाति सः पण्डितः।

इस पहेली का उत्तर है—लेखनी। इसमें उपर्युक्त समस्त बातें घटित होती हैं।

संस्कृत साहित्य में पहेलियों का एक अन्य प्रकार भी प्रचलित है जिसमें प्रश्न के अन्दर ही उत्तर छिपा रहता है—

का काशी का मथुरा का शीतल वाहिनी गंगा
कंसं घातन कृष्ण कं बलवन्तं न बाधते शीतम।

इसके अतिरिक्त भी विविध प्रकार की पहेलियों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

हिन्दी में पहेलियों की यह परम्परा और अधिक विकसित हुई। सामान्य लोक-जीवन में इन पहेलियों की एक विशाल संख्या प्राप्त होती है। इन पहेलियों के द्वारा बुद्धि का व्यायाम होता है। बुद्धि परीक्षा के अनुपम साधन के रूप में ये

1. Dr. Frazert, The golden Bough; Vol. 9, Page 121.
2. डा० सत्येन्द्र, लोकसाहित्य विज्ञान, पृ० ४९२।

व्यवहृत होती हैं। भावनाओं से इनका सम्बन्ध नहीं रहता। मस्तिष्क के कौशल से उत्पन्न होकर ये मस्तिष्क पर ही प्रभाव डालती हैं।

पहेलियों के मुख्यत: निम्नलिखित प्रकार हो सकते हैं[1]—

(१) खेती सम्बन्धी
(२) भोज्य पदार्थ सम्बन्धी
(३) घरेलू वस्तु सम्बन्धी
(४) प्राणी सम्बन्धी
(५) प्रकृति सम्बन्धी
(६) अंग-प्रत्यंग सम्बन्धी
(७) अन्य

खेती सम्बन्धी पहेलियों में खेतों में उत्पन्न होने वाले अनाज, खेती के साधन, कृषक आदि से सम्बन्धित विषय रहते हैं—

अहत से मैं अतहत भइलों
पोर-पोर अंगुठी पहिरत गइलों। (ईख)

भोज्य पदार्थ सम्बन्धी पहेलियाँ भी अत्यधिक मात्रा में प्रचलित हैं—

एक बाग में ऐसा हुआ।
आधा बगुला आधा सुआ। (मूली)

घरेलू प्रयोग में आने वाली वस्तुओं की संख्या विशाल है, अतः उनसे सम्बन्धित पहेलियाँ भी सर्वाधिक मात्रा में प्रचलित रहती हैं।

आहीं आहीं आहीं, तीन गोड़ तीन बाहीं
पिठिया पर पोंछ माथे ई तमासा काहीं। (तराजू)

छाती फाटल कापार पर घाव
पच्छिम घर में ओकर ठाँव। (शंख)

अनेक पहेलियों में मनुष्यों का वर्णन रहता है। समस्त प्राणियों सम्बन्धित एक पहेली इस प्रकार है—

सोने के सोन चिरइया, सोने के पिंजड़ा
उड़ि गइली सोन चिरइया पड़तवा पिंजड़ा। (प्राण और शरीर)

प्रकृति-तत्वों के आधार पर भी पहेलियों का निर्माण अत्यधिक संख्या में हुआ है—

लाल गाइ खर खाइ
पानी पिए मरि जाइ। (आग)

---

1. डा० सत्येन्द्र, ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० ५२०।

शरीर के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों पर भी अनेक पहेलियों की रचना हुई है—

हुलियकि भेंवरा पैटारही में सुकाय।
धार सह राम लागे तओ ना बिकाय॥ (आँख)

पहेलियों के अन्य विविध उदाहरण लोक-जीवन में प्राप्त होते हैं। दृष्टिकूट भी पहेलियों के एक प्रकार है जिनका प्रचलन लोक-समुदाय में देखा जाता है।

स्याम बरन मुख उज्जर कित्ते,
रावनसीस मन्दोदरि जित्ते।
हनुमान पिता करि लेहौं,
तब राम पिता भरि देहौं।

इसका उत्तर इस प्रकार है—

प्र०—उरद (स्याम बरन मुख उज्जर) क्या भाव है ?

उ०—ग्यारह सेर (रावन के दस सिर+मन्दोदरि का एक सिर)।

प्र०—हवा से फटक कर (हनुमान के पिता—पवन) लूंगा।

उ०—तब दस सेर (राम पिता—दशरथ) के भाव दूंगा।

ढकोसला

ढकोसलों का स्वरूप पहेलियों के समान ही होता है। परन्तु विषय की दृष्टि से दोनों में बृहद् अन्तर है। पहेलियाँ सार्थक होती हैं परन्तु ढकोसले निरर्थक होते हैं। बेतुकी, ऊटपटांग तथा असंबद्ध बातों का उनमें समावेश रहता है। इनका उद्देश्य जनता का मनोरंजन करना मात्र है। इसमें किसी प्रकार के बौद्धिक कौशल की अपेक्षा नहीं होती। इन्हें सुन कर प्रत्येक व्यक्ति के मुख पर अनायास ही मुस्कराहट आ जाती है।

संस्कृत साहित्य में ढकोसलों का प्रयोग बहुत मिलता है। प्रायः नाटकों के विदूषक दर्शकों को हँसाने के लिये इनका प्रयोग करते हैं। शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक में शकार नामक पात्र कहता है[1]—

चाणक्येण यथासीता मारिता भारते युगे,
एवं त्वां मोटयिष्यामि जटायुरिव द्रौपदीम्।

(मैं तुम्हें उसी प्रकार मार डालूंगा जैसे चाणक्य ने महाभारत में सीता को और जटायु ने द्रौपदी को मार डाला था)

इस बेतुकी उक्ति का एक मात्र उद्देश्य जनता को हँसाना है। हिन्दी में भी इस प्रकार के ढकोसलों का प्रयोग उपलब्ध होता है।

ऊँट पनारे बहि चला मैं जान्यो पिय मोर।
हाय माइ पिय बूड़न लागी मिला कठौती का बेट॥

---

1. मृच्छकटिक, अंक ८, श्लोक ३५।

भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित एक ढकोसला इस प्रकार है—

हाथी चढ़त पहाड़ पर,
बिनि-बिनि महुआ खाइ।
चींटी रमसलि बाघ के,
उलुटा पैर उठाइ॥

ब्रज में भी इस प्रकार की उक्तियाँ प्रचलित हैं—

चोरी घोड़ी लाल लगाम।
बापे बैठ्यो सालो ग्राम॥

लोकसाहित्य की विशेषताएं तथा महत्व

विराट् विश्व के जीवनाञ्चल में प्रच्छन्न सत्य की अगणित मणियाँ अन्वेषक के दुर्गम मार्ग मे अपनी प्रकाश किरणो से उसका प्रत्याह्वान करती हैं और प्राप्ति की साधना मे तल्लीन साधक साक्षात् तत्वद्रष्टा की भाँति उन अनमोल रत्नों को उपलब्ध कर लेता है। लोक साहित्य के महत्वांकन के निमित्त इसी प्रकार की तत्वदर्शिता अपेक्षित है। लोक-जीवन के सत्य की जगमगाती अनन्त रत्न-राशि इसमें व्याप्त है। सूक्ष्मदर्शी अन्वेषक की भाँति स्वयं को सम रूप से उस विशाल भावसागर में निमग्न करके ही उन सत्य-रत्नों को प्राप्त किया जा सकता है। लोक-साहित्य का सबसे अधिक महत्व सामान्य-जीवन के सर्वांगीण सत्य का उद्‌घाटन करना है।

सुविधानुसार लोक-साहित्य के महत्व को निम्नांकित रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है—

ऐतिहासिक महत्व—लोक साहित्य में इस प्रकार की सामग्री का प्रभूत संचयन रहता है जो युग, समाज और व्यक्ति के इतिहास को सजीवता प्रदान करती है। समय के आघात से विलुप्त एवं विस्मृत घटनाएं लोकानुभूति द्वारा लोक-साहित्य में आश्रय पाती हैं। संसार के इतिहासवेत्ताओं को लोक साहित्य के माध्यम से अतीत सम्बन्धी अमूल्य सामग्री प्राप्त होती है जो उनके ज्ञान को पुष्ट करती है।

भौगोलिक महत्व—लोक साहित्य के अन्तर्गत विभिन्न भौगोलिक स्थानों, नदियों पर्वतों, समुद्रों, द्वीपो आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। विभिन्न प्रकार के व्यापार तथा व्यापार के साधनो, आवागमन के साधनो, विभिन्न ऋतुओ तथा देशानुकूल जलवायु, वातावरण आदि का वर्णन भी उपलब्ध होता है। लोक साहित्य में देश की युगानुगत परिस्थितियों तथा भौगोलिक स्थितियों का भी वर्णन रहता है।

सामाजिक महत्व—लोक साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है अतः इसमें समाज के समस्त पहलुओं का, सुख-दुख, राग-विराग, आशा-निराशा, ईर्ष्या-द्वेष आदि मनोभावों का, रीति-रिवाज, आचार-विचार, रहन-सहन, विश्वास और परम्पराओं का सजीव चित्रण प्राप्त होता है। समाज मे व्याप्त समस्त सम्बन्धों का भावनात्मक निरूपण तथा विभिन्न जातियों का पारस्परिक अनुबन्ध इसमे प्राप्त होता है। किसी

समाज का सर्वाधिक सच्चा और स्पष्ट रूप देखना हो तो उसके लोक साहित्य में में देखना चाहिये।

धार्मिक महत्व—धर्म समाज का अविच्छेद्य अंग है। लोक साहित्य में समाज और धर्म का यह अटूट सम्बन्ध सर्वत्र प्राप्त होता है। विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना, नदियों, पर्वतों, साँपों, वृक्षों आदि की पूजा, विभिन्न प्रकार के व्रत, तप, यज्ञ, स्नान आदि का आयोजन भी लोक साहित्य में वर्णित रहता है। किसी विशिष्ट समाज के अनेकानेक नैतिक एवं धार्मिक पर्वों का वास्तविक परिचय लोक-साहित्य द्वारा ही सम्भव है।

आर्थिक महत्व—प्रत्येक युग के जन-जीवन की आर्थिक स्थिति का चित्रण लोक-साहित्य मे लक्षित होता है। जहाँ लोक साहित्य में धन-धान्य पूर्ण सम्पन्न समाज मे 'सोने की थाली' मे 'छप्पन प्रकार के पकवान' परोसने का वर्णन होता है, वहीं दरिद्रता-ग्रस्त परिवारो का निराहार दिन काटने की करुणा पूर्ण स्थिति का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

सांस्कृतिक महत्व—देश और समाज में व्याप्त सांस्कृतिक अनुष्ठानो का वर्णन भी लोकसाहित्य का एक अंग है। लोक-मानस की सांस्कृतिक उन्नति एवं अवनति का प्रामाणिक मानचित्र लोक-साहित्य मे ही प्राप्त होता है।

नैतिक महत्व—लोक का नैतिक स्तर लोक-साहित्य मे अत्यन्त सजीवता से निरूपित होता है। सदाचार और पवित्र निष्ठाओं मे पगे हुए पावन चरित्र लोक-साहित्य के अध्येता को भाव-विह्वल बनाये बिना नहीं रहते। आदर्श सती नारी का दिव्य रूप, पिता का त्याग, पुत्र का अनुराग, भाई-बहन का मिलन-बिछोह आदि भावोत्कर्ष के अनुपम उदाहरण प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत कहीं-कहीं नैतिक अपकर्ष का भी चित्रण रहता है।

भाषा-शास्त्रीय महत्व—लोक-भाषा में वर्णित होने के कारण लोकसाहित्य का भाषा-वैज्ञानिक महत्व भी है। भाषा विकास के क्रम मे बोली का असाधारण योग है। शब्दों के प्रामाणिक निरुक्त ज्ञान के हेतु भी हम बोलियों का अध्ययन करते हैं। *लोक-बोलियों के प्राकृतिक शब्द-रूप लोकसाहित्य में ही प्राप्त होते हैं।*

साहित्यिक महत्व—यद्यपि साहित्य की भाँति लोक-साहित्य भी मानव-हृदय की भावात्मक अभिव्यंजना है, तथापि दोनों का अन्तर भी विचारणीय है। 'रसात्मक वाक्य' की अन्तश्छवि लोकसाहित्य में साहित्य से किसी प्रकार हीन नहीं है।

लोकसाहित्य और साहित्य का भेदाभेद

मानव-अन्तराल से उद्भूत रागानुरागमयी भावनाओं की अभिव्यंजना साहित्य है। लोक-साहित्य की आधारभूमि भी मनुष्य की हृदतंत्री से झंकृत उल्लास और अवसाद युक्त भाव-तरंगों से रसाप्लावित है। सुख-दुख, आशा-निराशा, हास्य रुदन के कठिन घात-प्रतिघात से भावाकुल होकर मनुष्य संवेदनशील हो उठता है। हृदय की संवेदना ही जब मानव की वाणी में विगलित होती है तो साहित्य की सृष्टि

होती है। साहित्य सदैव लोक सापेक्ष भावराशि है, लोक से मुक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। लोक एक अनन्त चेतनाशील सत्ता है। जो जीवन का प्रतीक और जन का पर्याय है।[1] ग्राम या साधारण जनता तक ही इसका अर्थ सीमित नहीं है, वरन् चराचर मात्र में लोक की सत्ता व्याप्त है।[2] भारतीय साहित्य इसी व्यापक लोक सत्ता से अनुप्राणित है। मनुष्य का सांस्कृतिक उत्थान साहित्य में व्यक्त होता है। भारतीय साहित्य में जिस भारतीय संस्कृति का समन्वय है, वह लोक जीवन से परिपुष्ट है। समष्टि में व्यष्टि सत्व के सदृश भारतीय संस्कृति में लोक जीवन की व्याप्ति है। साहित्य में इसी लोक-जीवन के सर्वांगीण तत्वों का दिग्दर्शन होता है।[3]

साहित्य और लोक-साहित्य यद्यपि दोनों ही लोकानुबन्धी हैं, तथापि दोनों में कुछ अन्तर भी है। लोक-जीवन से सारभूत जीवनी शक्तियों का ग्रहण करके साहित्य उसके धरातल से ऊपर उठकर अपने अस्तित्व का निर्माण करता है, किन्तु लोक-साहित्य इस धरातल को कभी छोड़ नहीं पाता। लोक-जीवन के सांस्कृतिक तत्व साहित्य में गृहीत होते हैं परन्तु लोकसाहित्य में समाहित रहते हैं। लोक-संस्कृति और लोक-साहित्य में अभेदात्मक सम्बन्ध है। लोकसाहित्य लोक-संस्कृति का पोषक भी है, निर्वाहकर्ता भी और निर्माता भी। लोकसाहित्य नित्य जीवन का अमूल्य प्रतिबिम्ब है। साहित्य में वैयक्तिकता का प्राधान्य होता है। समाज-व्याप्त सहानुभूतियों की वैयक्तिक अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। व्यक्ति का आत्म-तत्व विकसित होकर समाज से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है, इसके पूर्व वह समाज-भिन्न एक सीमित, सकुचित मन स्थिति मात्र है। अतः व्यक्ति के माध्यम से होने वाली सामाजिक अभिव्यक्ति साहित्य है। किन्तु लोकसाहित्य समाज की ही अभिव्यक्ति है। विशिष्ट व्यक्तित्व का वहाँ लोप होता है। साहित्य प्रायः देशकाल की सीमाओं से प्रभावित होता है परन्तु लोक-साहित्य पर इनका कोई त्वरित प्रभाव नहीं पड़ता। सामाजिक रूप से विकसित होने के कारण जब तक कोई समाज ग्राही प्रभाव उत्पन्न नहीं होता, लोक साहित्य उससे उन्मुक्त रहता है। साहित्य की अभिव्यक्ति परिनिष्ठित भाषा के माध्यम से होती है। परिष्कृत और परिमार्जित शब्द-रूपों का विन्यास वहाँ होता है। इसके विपरीत लोक-साहित्य का आधार लोक-भाषा या 'बोली' है। सहज स्वाभाविक शब्दों का नियमहीन उन्मुक्त प्रयोग इसमें रहता है।

---

1. लोकस्तु भुवने जने—अमरकोष।
2. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृ० ८५ में श्री रामलाल कृत 'भारतीय लोक संस्कृति की अध्यात्म भूमि' शीर्षक निबन्ध।
3. "हमारा साहित्य, जिस रूप में हम उसे आज देखते हैं, उसके बीज इसी लोक-जीवन, संस्कृति और लोक साहित्य में पता नहीं कितने वर्षों से बिखरे हुए हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे पानी और बूँदें।"

—सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृ० ११५ में श्री कोमलसिंह सोलंकी कृत 'लोक-संस्कृति की आत्मा', शीर्षक निबन्ध।

साहित्य का सम्पूर्ण स्वरूप नियम बद्ध होता है। भाषा-शैली, रस छन्द, अलंकार तथा भाव आदि समस्त तत्वों का निर्धारित नियमों के अनुकूल साहित्य में प्रवेश होता है। किन्तु लोक-साहित्य में मानव-अनुभूतियाँ सर्वथा नियममुक्त होकर विचरण करती हैं। साहित्य लिखित रूप में सुरक्षित रहता है। लोक-साहित्य मौखिक रूप से जीवित रहने वाली परम्पराशील सत्ता है। साहित्य समाज में सुशिक्षित व्यक्तियों की सृष्टि है, लोक-साहित्य में अशिक्षित समुदाय का सांवेदनिक आलोड़न रहता है।

आधुनिक युग लोक-संस्कृति का विकास युग है। लोक-साहित्य के विभिन्न रूपों का लिखित सचयन एवं संकलन करके उसके महत्वांकन का प्रयास हो रहा है। इस स्थिति में लोक-साहित्य के सर्वथा मौखिक रूप को मान्यता नहीं दी जा सकती। युगों से अनन्त प्रवाहशालिनी पारस्परिक चेतनामयी लोक-साहित्य की सत्ता का, शत-शत कंठ-व्यापी मार्ग से बौद्धिक संशोधन करके उसे लिखित रूप में दीर्घजीवी बनाने का जो प्रयास हो रहा है वह श्लाघ्य है। प्रगतिशील मानव-चेतना द्वारा लोक-भाषाओं में साहित्य-सृजन का विकास भी उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त कर रहा है। इस प्रकार की रचनायें लोक-साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं, भले ही उनका वाह्यावरण लोक-साहित्य के समान हो।

रसास्वादन की दृष्टि से भी साहित्य के अध्येता और लोक-साहित्य के श्रोता में अन्तर है। साहित्यिक रसानुभूति के लिये व्यक्ति को हार्दिक संवेदनशीलता के अतिरिक्त कतिपय बौद्धिक अर्हताओं का अर्जन करना आवश्यक है परन्तु लोक-साहित्य की आनन्दानुभूति के लिये मन की कोमल राग-वृत्तियों की जाग्रति मात्र अपेक्षित है।[1]

साहित्य और लोक-साहित्य में रागात्मक साम्य के होने पर भी रूप-सत्तात्मक अन्तर है। वर्ण्य-विषय दोनों में समान हो सकते हैं किन्तु वर्णन-पद्धति में भेद होता है। साहित्य में यदि वह काव्य है तो अलंकार रस, छन्द का नियमित उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार यदि वह साहित्य की कोई अन्य विधा हो तो सम्बन्धित विधा के निर्धारित लक्षणों की रक्षा उसके लिये अनिवार्य है, परन्तु नियमितकृत नियम

1. "सिद्ध कवियों की कविता का आनन्द वही उठा सकता है जिसने छन्द, व्याकरण और अलंकार-शास्त्र का अच्छी तरह अध्ययन किया है। ऐसी कविता को हम स्वाभाविक कविता नहीं कह सकते। वह तो माली निर्मित उस क्यारी की तरह है जिसके पौधे कैंची से कतर कर ठीक किये रहते हैं और जो खास तरह की रुचि से विवश होकर सजाई जाती है। ग्राम-गीत तो प्रकृति का वह उद्यान है जो जंगलों में, पहाड़ों पर, नदी-तटों पर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। वह अकृत्रिम है। सिद्ध कवियों की कविता किसी बंगले का वह फूल है जिसका सर्वस्व माली है। पर ग्राम-गीत वह फूल है, झरने जिसको पानी पिलाते हैं, मेघ जिसे नहलाते हैं, सूर्य जिसकी आँख खोलता है, मन्द-मन्द समीर जिसे झूले में झुलाता है, चन्द्रमा जिसका मुँह चूमता है और ओस जिस पर गुलाब-जल छिड़कती है। उसकी समता बंगले का कैदी फूल नहीं कर सकता।"
—रामनरेश त्रिपाठी, ग्राम साहित्य, पहला भाग, पृ० ५५ (प्रथम संस्करण)।

रहितात् होने पर लोक साहित्य की कोई व्यापमक सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। अन्त्यानुप्रास के नाद-सौन्दर्य बिना भी लोकगीत अपना पूरा प्रभाव श्रोता पर अवश्य ही डालता है। इसीलिये लोक-गीतों का आनन्द मनुष्य के लिये सहज और मर्यादित होता है।[1]

साहित्य में संस्कार का अधिक योग (Culturised) है। लोक-साहित्य संस्कार की अतिनियमितता से मुक्त होने के कारण ही अधिक नैसर्गिक एवं स्वाभाविक है। साहित्य अपनी रसात्मकता की रक्षा करते हुए भी मानव जीवन के कल्याण में दिव्य दृष्टि रखता है। लोक-गीत जीवन की किसी स्थिति की तीव्र अनुभूति कराकर मौन हो जाता है। उसमें संकेतित 'सत्' के ग्रहण करने का गुरुतर दायित्व श्रोता अथवा पाठक पर होता है। कहना चाहिए कि जिस गन्तव्य को प्राप्त करने के लिये साहित्य लम्बी यात्रा करता है, लोक-साहित्य थोड़ी दूर चलकर ही उस गन्तव्य की ओर इंगित करके बैठ जाता है। साहित्य पाठक को कुछ देकर प्रभावित करता है, जबकि लोक-गीतों का प्रदेय संकेत मात्र करके शान्त हो जाता है—यह पाठक की क्षमता पर निर्भर है कि लोक-साहित्य में वह अपने प्राप्य को उपलब्ध कर लेता है या नहीं।

1. "साहित्य की दुनिया में लोकजीवन छन-छन कर आता है। इसलिये साहित्यिक गीत सजे-सुथरे होते हैं और उनकी चमक-दमक गिने-चुने लोगों को ही आसानी से अपनी ओर खींच सकती है। पर इस पर माँजने-बुहारने और छानने में जीवन की बहुत-सी हरियाली भी कट-छट कर बाहर ही छूट जाती है जिससे साहित्य के गीतों में उबले छने पानी का आस्वाद होता है, जबकि लोकगीतों में ताजे पानी का आनन्द आता है।"

—सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक' में श्री शंभूप्रसाद बहुगुना कृत 'लोकसाहित्य में लोकजीवन की व्यापक अनुभूति' शीर्षक निबन्ध।

तृतीय अध्याय

लोकगीत का स्वरूप

- लोकगीत की परिभाषा और पृष्ठभूमि
- लोकगीत की विशेषताएं और महत्त्व
- भारतीय परम्परा में लोकगीत
- लोकगीतों की विभिन्न कोटियाँ

३ लोकगीत का स्वरूप

लोकगीत की परिभाषा और पृष्ठभूमि

परिभाषा

मानव-हृदय का भाव-विलास अपनी उत्कट स्थिति में लयात्मक आरोहावरोहों में जब भाषा-बद्ध होकर प्रवाहित होने लगा तो शब्द-शास्त्रियों ने उसे गीत कहा और इसी गीत परम्परा की एक धारा जब अपनी देशज बोलियों में (अपनी घरेलू भाषा) में लोकवाणी को प्रवाहित करने लगी तो उसे लोक गीत के नाम से भाषित किया गया। 'लोकगीत' शब्द से गायन का भाव सहज ही सामने आता है, अर्थात् उसका सम्बन्ध संगीत से सीधे जुड़ता है। तब फिर प्रश्न यह उठता है कि जो संगीत की वस्तु है उस लोकगीत में साहित्य का आरोप कैसा। इसके उत्तर में हमारी निभ्रान्त धारणा यह है कि संगीत और साहित्य मे कलात्मक प्रभाव का कोई अन्तर नहीं है, अन्तर है स्वर और अर्थ की प्रधानता और अप्रधानता का। संगीत और साहित्य दोनों का मूल अधिष्ठान नाद है। एक मे वह नाद शब्दो की सीमाओं को छूकर अपने प्रभाव सम्पादन के लिये पुनः अपने स्थान की ओर लौट आता है और दूसरे में नाद शब्द तक पहुंच कर अपनी अर्थ गत प्रभाव शीलता के लिये वहीं टिक जाता है। दोनों का उद्गम हृदय है। भावमयता दोनों की विशेषता है। बस, अन्तर यही है कि संगीत में स्वर अथवा नाद प्रधान है और शब्द का अर्थ गौण है, जबकि साहित्य मे अर्थ की प्रधानता है, नाद की नियमित घोष-लहरियां गौण हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि संगीत अपने अर्थ के प्रभाव से विशेष आकर्षक बन जाता है और साहित्य भी अपनी संगीतात्मक लय पद्धति के कारण चित्ताकर्षक बन जाता है। किन्तु ऐसे प्रसंगों में हमारा दृढ़ मत है कि वहां संगीत अपनी प्रकृति में साहित्य अधिक है और संगीत कम और साहित्य अपनी प्रकृति मे साहित्य कम और संगीत अधिक है। संगीत मे गजल और कव्वाली अपनी अर्थ गत विशेषताओं के कारण संगीत की अपेक्षा साहित्य के निकट अधिक है तथा इसी प्रकार साहित्य में पद और भजन संगीतात्मक होने के कारण साहित्य की अपेक्षा संगीत के निकट अधिक है। इस प्रकार लोकगीत को हम संगीत की वस्तु मानते हुए भी प्रधानतः साहित्य की वस्तु मानते हैं। लोकगीतों का सृजन सामूहिक चेतना द्वारा स्वाभाविक रीति से होता है, वह किसी निश्चित एवं नियन्त्रित संगीतात्मक अथवा

साहित्यिक प्रक्रिया का परिणाम नहीं है। जीवन की सहज क्रियाओं और व्यापारों में लीन जन-समुदाय के निश्छल, सरल और स्वाभाविक भाव, गीतों के बोल बनकर उनके कंठ-स्वर से झरने लगते हैं। खेत, नदी, पहाड़, मैदान, घर सभी इनके निर्माण-स्थल हैं। हल चलाते हुए, पशु चराते हुए, चक्की पीसते हुए, बर्तन मांजते हुए प्रत्येक सामान्य कार्य-व्यापार के समय इन गीतों का उदय हुआ है।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्र वेत्ता विलियम ग्रिम ने अपने 'समुदायवाद' सिद्धान्त में स्पष्ट किया है कि लोककाव्य का निर्माण अपने आप विशाल जन-समूह के द्वारा होता है, किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा नहीं। लोकगीत स्वतः संभूत हैं।[1] लोकगीतों का अस्तित्व समय के आधार-तल पर टिका रहता है। अपने जन्म के अनन्तर ये गीत कुछ समय तक मधुर कंठों पर विराजमान रहते हैं, फिर इनके मौलिक रूप में परिवर्तन आरम्भ हो जाता है और एक दिन उनका पूर्व अस्तित्व तिरोहित हो जाता है। पुराने गीत का तिरोभाव नए गीत के जन्म की भूमिका है। प्राचीनता के ध्वंस में नवीनता का उन्मेष ले कर लोकगीतों की परम्परा सतत प्रवाहमयी रहती है।[2] हृदय की सहज स्वाभाविक भावानुभूतियों के रत्नों से लोकगीतों की लड़ियाँ सजाई जाती हैं। एक-एक भाव-रत्न में सामान्य जन-जीवन के अकृत्रिम, सरल, निश्छल सौन्दर्य की अद्भुत कांति की अपूर्व झलक है। मानव के जन्मकाल से लोकगीतों की अक्षुण्ण धाराओं का जो वेगपूर्ण प्रवाह उमड़ा है वह परस्पर संगठित होकर विशाल भावसागर की सृष्टि कर रहा है। इस सागर की लहराती-उछलती तरंगों में युगायुग के मानव की कामनाएँ, भावनाएँ और अनुभूतियाँ आन्दोलित होती हैं। इसके कोलाहल में, समस्त स्त्री-पुरुषों के मार्मिक भावों के अनुरंजन प्रेम-मय पुलकन, भय-मिश्रित प्रकम्पन, दुःख पूर्ण क्रन्दन, उल्लास युक्त मिलन और विषाद ग्रस्त बिछुड़न की व्याप्ति है।[3]

---

1. "He (Grine) maintained that the poetry of the people 'sings itself', it has no individual poet behind it and is the product of the whole folk." —F. B. Gummere : old English Ballads, P. 49-50.
2. "नए गीतों के साथ पिछले घुलते जाते हैं। नई पीढ़ी, नए भाव, यही गीतों की परम्परा है। गीतों में शिल्प की तराश नहीं, मानव संस्कृति का सारल्य और व्यापक भावों का उभार होता है। भावों की लड़ियाँ लम्बे-लम्बे खेतों की स्वच्छ पैड़ों की नमी डालों सी 'रफ' (Rough) और मिट्टी की तरह सत्य है।"
—श्याम परमार : भारतीय लोक साहित्य, पृ० ५१।
3. "सदियों के घात-प्रतिघातों ने इसमें आश्रय पाया है। मन की विभिन्न स्थितियों ने इसमें अपने ताने-बाने बुने हैं। स्त्री-पुरुष ने थक कर इसके माधुर्य में अपनी थकान मिटाई है। उसकी ध्वनि में बालक सोए हैं, जवानों में प्रेम की मस्ती आई है, बूढ़ों ने मन बहलाए हैं, वैरागियों ने उपदेश का पान कराया है, विरही युवकों ने मन की कसक मिटाई है, विधवाओं ने अपने एकांगी जीवन में रस पाया है, पथिकों ने थकावटें दूर की हैं, किसानों ने अपने बड़े-बड़े खेत जोते हैं, मजदूरों ने विशाल भवनों पर पत्थर चढ़ाये हैं और मौजियों ने चुटकुले छोड़े हैं।'
—वही, पृ० ५१।

लोकगीतों का संसार सत्य का संसार है। लोकगायक के अन्तर्भावों का वास्तविक चित्रण वहाँ रहता है। जटिलता, दुरूहता और गोपनीयता का लोकगीतों में नितान्त अभाव रहता है। हृदय में उत्पन्न होने वाले राग-विराग के सीधे-सच्चे भावों का सीधा और निश्छल प्रकटीकरण लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता है। कृत्रिम साज-सज्जा से परे स्वाभाविक उक्तियों का सौन्दर्य वहाँ लक्षित होता है। *लोकगीत की उस विशाल और व्यापक सौन्दर्य-राशि के समक्ष संसार की सम्पूर्ण* कृत्रिमता तुच्छ है।[1] नगर के आडम्बरों से दूर, वैभव की चमक-दमक से परे, गाँवों के शान्त सरल वातावरण में, हरे-हरे लहलहाते खेतों में, घनी अमराइयों की छाया में, सरिता तट के रेतीली भूमि में, मेघाच्छादित नभ-मण्डल के नीचे इन गीतों की रचना होती है। प्राकृतिक तत्त्वों के साहचर्य में निर्मित होने के कारण प्रकृति की सम्पूर्ण मधुरता का समावेश इनमें होता है। झरने की स्वच्छता, फूलों का हास, वृक्षों की उदारता, नदी का प्रवाह, वर्षा की सजलता, बसन्त का सौरभ, सूर्य का प्रकाश और कोयल की मिठास में लोकगीतों का अस्तित्व डूबा रहता है। उनमें जीवन का सहज एवं नैसर्गिक आनन्द अन्तर्हित है।[2]

लोकगीतों का जीवन अमर और अनीश्वर है। समय के घात-प्रतिघातों में उनका बाह्य रूप बदलता रहता है। गीतों का जन्म होता है। कुछ समय तक प्रचलित रहने के पश्चात् उनका रूप परिवर्तित होने लगता है और एक दिन उसके भग्नावशेष ही रह जाते हैं, किन्तु गीतों की परम्परा सर्वथा नष्ट नहीं होती। पुराने गीतों के स्थान पर नए गीत जन्म लेते हैं और गीतों का जीवन चिरन्तन बन कर सतत रूप से प्रवाहित होता रहता है राल्फ विलियम्स ने अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि लोकगीत न पुराना होता है न नया। वह जंगल के एक वृक्ष के समान है जिसकी जड़ें तो दूर धरती में धँसी हुई हैं पर जिसमें निरन्तर नई-नई डालियाँ,

1. "लोकगीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ और धाराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं।' ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र-विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं और अपने आप में परिपूर्ण हैं।"

—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १३८।

2. "लोकगीत विद्यादेवी के बौद्धिक उद्यान के कृत्रिम फूल नहीं, वे मानों अकृत्रिम निसर्ग के श्वास-प्रश्वास हैं। वे भारी विद्वत्ता के भार से, सूक्ष्म बुद्धि की नली के हजारे से छूटने वाला तर्क-वितर्क का फौवारा नहीं, अज्ञात मलयाचल से आने वाली सुगन्धित लहरियों उद्भूत हृदय की सूक्ष्म तरंगें हैं। वे सहजानन्द में से ही उत्पन्न होते वाली तथा श्रुति मनोहरता से सहजानन्द में ही विलीन हो जाने वाली आनन्दमयी गुफायें हैं।"

—डा० सदाशिव फड़के सम्मेलन पत्रिका. (लो० सं० अं०) पृ० २४०।

पल्लव और फल-फूलते रहते ।[1] गीतों के बोल कभी लिपिबद्ध नहीं किये गए, फिर भी अनादिकाल से उनका अस्तित्व अमरत्व पूर्ण होकर चलता आ रहा है। केवल श्रुति के माध्यम से प्रत्येक नवीन पीढ़ी अपनी प्राचीन पीढ़ी से गीतों की निधि प्राप्त करती आ रही है। इस श्रुति-विशेषत्व पर बल देते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोकगीतों को वेदों के समकक्ष महत्व प्रदान किया है।[2]

लोकगीतों में लौकिक सभ्यता, लौकिक आचार, लौकिक व्यवहार, लौकिक रीति-रिवाज एवं परम्पराओं का प्रतिबिम्ब झलकता है। गत पृष्ठों पर अंकित लोकसभ्यता एवं लोकसंस्कृति का इतिहास लोकगीतों के माध्यम से उद्घाटित होता है।[3] इसीलिए लोक में व्याप्त इन गीतों को युग का दर्पण कहा जा सकता है। इन गीतों का नाश युग संस्कृति का नाश होगा।[4] युग-युग से चली आ रही मानवीय मूल भावनाओं का विशेष भण्डार इनमें सुरक्षित है। जीवन का एक-एक फल भाव-रूप धारण कर लोकगीतों में समाया हुआ है। प्रत्येक घटना, प्रत्येक स्थिति अपने उल्लास विषादात्मक अस्तित्व के साथ लोकगीतों में सन्निहित रहती है। जन-जीवन की निर्मल और सरल सौन्दर्यानुभूतियाँ, गीत के स्वरों में बँधकर अपनी प्रभावशीलता का युग-व्यापी प्रसार करती हैं।

---

1. "A Folk-song is neither new nor old, it is like a forest tree with its rootes deeply burried in the past, but which continually puts forth new branches, new leaves, new fruit."

—Ralph V. Williams.

2. "ग्राम गीत इस सभ्यता के वेद (श्रुति) हैं। वेद भी तो अपने आरंभिक युग में श्रुति कहलाते थे। वेद भी आर्यों की महान् जाति के गीत ही थे और ग्राम गीतों की भाँति ही सुन-सुन कर याद किये जाते थे। सौभाग्यवश वेद ने बाद में श्रुति से उतर कर लिपि का रूप धारण कर लिया, पर हमारे ग्राम गीत अब भी 'श्रुति' ही हैं।"

—छत्तीसगढ़ी, लोकगीत का परिचय, श्यामचरण दुबे की भूमिका से उद्धृत।

3. "ग्रामगीतों का समस्त महत्व उनके काव्य-सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूबी हुई है या गलत समझ ली गई है।.... .... जिस प्रकार वेदों द्वारा आर्य सभ्यता का ज्ञान होता है, उसी प्रकार ग्राम गीतों द्वारा आर्य पूर्व सभ्यता का ज्ञान हो सकता है। ईंट पत्थर के प्रेमी विद्वान यदि धृष्टता न समझें तो जोर देकर कहा जा सकता है कि ग्राम गीतों का महत्व 'मोअन-जो-दड़ो' से कहीं अधिक है। मोअन-जो-दड़ो सरीखे भग्न-स्तूप ग्राम गीतों के भाष्य का काम दे सकते हैं।"

—वही।

4. "देश का सच्चा इतिहास और उनका नैतिक और सामाजिक आदर्श इन गीतों में ऐसा सुरक्षित है कि इनका नाश हमारे लिये दुर्भाग्य की बात होगी।"

—कविता-कौमुदी, (भाग ५) पं० रामनरेश त्रिपाठी में लाला लाजपतराय के पत्र से उद्धृत।

पृष्ठभूमि

लोकगीत मानव हृदय की वह नैसर्गिक अभिव्यक्ति है, जिसमें भाव, भाषा और छन्द की नियमितता से मुक्त रह कर स्वच्छन्द रूप से नि:सृत होने लगते हैं। जीवन और जगत् मे व्याप्त स्थितियो एवं घटनाओ के घात-प्रतिघात मे उत्पन्न अन्तर्भावनाओं की लयात्मक उद्गीर्णता लोकगीतो मे प्राप्त होती है। अतएव इन सहज-स्वाभाविक गीतो के मूल मे सम्पूर्ण विश्व की प्रति पल घटित एवं परिवर्तित परिस्थितियाँ ही प्रेरणा रूप में विद्यमान हैं। इन्ही परिस्थितियों के प्रभाव से मानव अन्तराल में विभिन्न भावनाओं का आविर्भाव होता है और ये विविध रूपिणी भावनाएँ वाणी की सहज अभिव्यक्ति लोकगीत के रूप मे अभिव्यञ्जित हो उठती हैं। लोक मानस को आन्दोलित करके शत-शत भाव-लहरियों को जन्म देने वाली मूलभूत परिस्थितियाँ ही लोकगीतो की पृष्ठभूमि हैं। देश-काल के अनुसार इन परिस्थितियों में परिवर्तन अवश्यम्भावी है, फलतः लोकगीतो के वर्ण्य-विषय मे भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। किन्तु यह परिवर्तन-जन्य अन्तर केवल वाह्य रूप से ही होता है, अपने आन्तरिक स्वरूप मे प्रत्येक देश के लोकगीतो मे विषयगत मौलिक साहश्य है। किसी काल अथवा किसी देश के लोकगीत हों—सबमे एक व्यापक सहज लोकानुभूति का समावेश रहता है जो सबमे भावगत एक सूत्रता स्थापित करता है।

ससार के समस्त मनुष्यो की मूल भावनाओं में साम्य है। अनादि काल से ही जब भाषा और लिपि, कविता और कला, संगीत और नृत्य आदि का कोई सुसंस्कृत और शास्त्रीय रूप निर्धारित नहीं हुआ था, उस समय भी दुख और सुख, युद्ध और शान्ति, हार और जीत, विरह और मिलन, जीवन और मृत्यु पावस और वसन्त आदि जगत के स्वाभाविक कार्य-व्यापारों ने सर्वत्र मानव के अन्तःकरण को आलोड़ित करके समान प्रतिक्रियाओं एवं भावों का उद्रेक किया था। यही, सहज-स्वाभाविक भावोद्रेक लोक-संस्कृति की सम्पदा है।

लोक-संस्कृति के अनन्त कोष में सन्निहित, अगणित भाव-रत्नों के स्वरूपगत अनेकत्व में एक ही ज्योति का अन्तर्भाव है। अनेकत्व मे एकत्व की व्याप्ति के अनुसार ससार के समस्त लोक गीतों में एक ही लोकानुभूति का प्रसार है। मनुष्य में अपनी भावानुभूतियों को क्रिया और प्रतिक्रियाओ को तथा विभिन्न पदार्थों के सान्निध्य से उत्पन्न प्रभावों को अभिव्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति का उन्मेष होता है। यह शक्ति मनुष्य मात्र के अस्तित्व से जुड़ी हुई है और उसकी शारीरिक तथा मानसिक स्थितियों मे विद्यमान रहती है। प्रारम्भ मे अभिव्यक्ति के साधनों की कमी के कारण आन्तरिक भावों का प्रकाशन संकेतों एवं स्थूल उपायों के द्वारा किया जाता था परन्तु कालानुक्रम में सभ्यता के विकास के साथ-साथ अभिव्यक्ति की शक्ति मे भी वृद्धि होती गई और उसकी भिन्न-भिन्न विधियाँ प्रतिष्ठित हो गईं। अभिव्यंजना की यही विधियाँ नाना कलाओं का रूप ग्रहण कर बैठीं। भावाभिव्यक्ति के साधनों की विविधता के मूल में भाषा-वैज्ञानिक तथा भौगोलिक कारणों का विशेष महत्व है। यदि इन वाह्य कारणो का आवरण हटा कर सूक्ष्मता से देखा जाय तो इन सबसे मौलिक एकरूपता, एकरसता एवं अभेदात्मकता का दर्शन होता है। यही कारण है

कि विस्तृत भू-भाग के विभिन्न अचलों में निवास करने वाली अर्द्ध सभ्य जातियों में प्रचलित नृत्यों, गीतों, विश्वास-परम्पराओं एवं मान्यताओं में एक अद्भुत साम्य प्राप्त होता है। सभ्यता का आवरण जितना गहरा होता जायगा, मानव-हृदय का यह साम्य भी अदृश्य होता जायगा। किसी भी देश काल में, विविधताओं एव अनेक रूपताओं का अन्तर साम्य बिखरे हुए जीवन को एक सूत्र में बांधता दिखाई पड़ेगा। इसलिए रहन-सहन, रीति-रिवाज बोली और भाषा का अनेकत्व ध्य एक लोकचेतना में समाहित हो जाता है, अर्थात् अनेकत्व का एकत्व में विलय हो जाता है।

लोकगीत भावाभिव्यक्ति की एक विधि है अतः लोकगीतों की मूल प्रेरणा वही है जो अभिव्यक्ति की अन्य विधाओं की। अभिव्यक्ति के मूल में संसार की सत्ता और तज्जन्य क्रिया-व्यापारों की प्रेरणा सन्निहित है। मनुष्य की अन्तरात्मा अपने चारों ओर व्याप्त सृष्टि को जिस रूप में ग्रहण करती है, उसी रूप में उसको अभिव्यक्ति करना चाहती है। इस प्रकार लोकगीतों की पृष्ठभूमि के रूप में भी अभिव्यक्ति की उन्हीं मूल प्रेरणाओं को स्वीकार किया जा सकता है। सुविधानुसार इन मूल प्रेरणाओं को सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं पारिवारिक परिस्थितियों पर आधारित माना जा सकता है।

पारिवारिक परिस्थितियाँ

लोकगीतों में पारिवारिक तत्वों, सम्बन्धों स्थितियों का स्पष्ट निरूपण मिलता है। लोकगीत के गायक अपने परिवार के अच्छे-बुरे वातावरण से प्रभावित होते हैं और यही प्रभाव-जन्य प्रतिक्रिया उनके द्वारा निर्मित गीतों में व्यक्त हो उठती है। पारिवारिक जीवन के वास्तविक चित्र लोक गीतों में प्रतिबिम्बित होते हैं। किसी भी युग के पारिवारिक जीवन का सर्वांग निरूपण लोकगीतों में देखा जा सकता है। लोकगीतों के रचयिताओं का परिवार घर-बाहर—सर्वत्र उनके साथ ही रहता है। इसीलिए पारिवारिक जीवन की व्यापक अनुभूति उन्हें अपेक्षाकृत अधिक होती है और उन्हीं अनुभूतियों के आवेग में उनके कंठों पर गीतों के बोल फूट पड़ते हैं। ग्रामीण परिवारों का अस्तित्व प्रेम की बुनियाद पर टिका हुआ है। नगरों की व्यक्तिवादी भावना का प्राबल्य वहाँ नहीं है, कई पीढ़ियों के व्यक्ति परस्पर प्रेमाबद्ध होकर एक साथ ही रहते हैं। संयुक्त परिवार की छाया में समस्त कुटुम्बियों एव सम्बन्धियों के प्रति प्रेम, श्रद्धा एव सम्मान की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है। माता और पुत्र का अटूट प्रेम, पिता और पुत्र की आत्मीयता सास और बहू की ममता, पति-पत्नी की स्नेहशीलता, देवर और भाभी का सहज प्रमोद, मामा और भांजे की सौहार्दता इत्यादि समस्त सद्भावनाओं का परिचय लोकगीतों में प्राप्त होता है। जिस प्रेममूलक दृढ़ता पर संयुक्त परिवारों का संघटन हुआ है, उसका वास्तविक रूप लोकगीतों में ही उपलब्ध होता है। माता-पुत्र का वात्सल्य प्रेम अटूट है। *प्रत्येक माता का हृदय अपनी सन्तान के प्रति असीम आत्मीयता से आप्लावित रहता है।* पुत्र का जन्म होते ही अनन्त उत्साह एवं आनन्द से माता का हृदय तरंगित होने लगता है।[1] किन्तु उसका यह आनन्द केवल उसीका नहीं, सम्पूर्ण परिवार का

1. "बहुअरि लागे सबके गोड़, ललन लेके गोदिया में हो।
   ललना जुग-जुग जीये मोर ललनवा, मोतिन मावे मगल हो।" (भो.-ग्रा., गीत पृ. ४)

आनन्द होता है। परिवार के एक सदस्य के सुख-दुख का दायित्व समस्त व्यक्तियों पर होता है। परिवार की सुलक्षिणी बहू समस्त पारिवारिक सदस्यों के प्रति स्नेह श्रद्धा और सम्मान का प्रदर्शन करती है।[1] पति-पत्नी का आदर्श प्रेम, मिलन और समर्पण भी लोकगीतों में वर्णित रहता है। ग्रामीण दम्पती अपने वैवाहिक सम्बन्ध को धर्म के अटूट बन्धन के रूप में स्वीकार करते हैं। पत्नी का पति के प्रति एक निष्ठ समर्पण भारतीय परिवारों की सबसे बड़ी विशेषता है। लोकगीतों में भी इस प्रगाढ़ प्रेम का वर्णन मिलता है।[2] पति ही पत्नी का सर्वस्व होता है। उसके सान्निध्य में ही उसे समस्त सुखों की प्राप्ति होती है। संयुक्त परिवारों में प्रेम का क्षेत्र विशाल एवं विस्तृत होता है। समस्त सम्बन्ध उसमें समाविष्ट रहते हैं। किसी भी उत्सव या समारोह के अवसर पर इन सम्बन्धों की महत्ता प्रकट हो उठती है।[3] परिवार का कोई भी कार्य सहयोग और सहभाव की मूल शक्ति से सम्पादित होता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य के उत्तरदायित्व से घिरा हुआ रहता है। मानव-मन में आत्म-भाव के साथ ही अनात्म-भाव का भी संयोग है, इसीलिए उसमें सत् के साथ असत्, सुन्दर के साथ असुन्दर की धारणा भी वद्धमूल है। उसकी ये आन्तरिक शक्तियाँ सत् और असत्—सर्वत्र फैली हुई हैं, जहाँ तक मानव-अस्तित्व का प्रसार है। मनुष्य के पारिवारिक जीवन में भी केवल सुन्दर सद्भावनाओं का प्रकाश नहीं है, वरन् असद् वृत्तियों की विरूपता भी उपस्थित है। मनुष्य अपने अनात्म भाव से प्रभावित होकर इस विरूपता का सृजन करता है।

परिवारों के प्रेममय वातावरण में कहीं-कहीं इन विरूपताओं का दर्शन स्वाभाविक है। लोकगीतों में इन असुन्दर तत्वों की सुन्दर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। एक ओर सर्व गुण सम्पन्नता, शीलवती-लज्जावती कुलवधू परिवार के सुख-शान्ति की विधायिका होती है तो दूसरी ओर दुःशीला, निर्लज्ज, कटुभाषिणी स्त्री परिवार के विध्वंस का कारण बन जाती है। ऐसी स्थिति में परिवार के समस्त सम्बन्ध विकृत हो जाते हैं। सास-बहू में, ननद, भाभी में, पति-पत्नी में भीषण संघर्ष एवं विषमता की ज्वाला भड़क उठती है। इन विपाक्त एवं कटु स्थितियों का वर्णन भी लोकगीतों में होता है।[4]

---

1. "सासु के सेवा मे करिहो, ननद दुलरैहो रे।
   रामा जेठवा का सेंधो रसोइया, मैं दादा कहु बुलइहो।"
   —अ० लो० प० पृ० २३।
2. "सहजइ मैं भुखिया पियसिया जेठ दुपहरिया
   पिया देखि हम तोहरी सुरतिया सकल सुख पउवइ।" —वही, पृ० १९८।
3. को मोरे परदा डारिये रे को मोरे उबन को दान।
   जेठ हमारे परदा डारें ससुर हो गउअन केरा दान॥
   को मोरे ऐपनु पीसें रे को मोरे छठिया धरें रे।
   नाउनि ऐपनु बाँटिये रे औ ननदो हो धरें छठिया रेख॥ —वही, पृ० ९१।
4. सास का बहू के प्रति अनुचित व्यवहार—
   "के मन कूटो मैया के मन पीसो रे ना।
   मैया के मन सिझवउं रसोइया रे ना॥

सामाजिक परिस्थितियाँ

'लोक' शब्द मानव की उस मौलिक स्थिति का परिचायक है जिसमें उसका असली रूप सन्निहित रहता है। अपनी समग्रता में मानव सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक—सभी तत्त्वों से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार लोक के साथ समाज का अभिन्न सम्बन्ध निर्विवाद है। समाज मानव द्वारा निर्धारित व स्वीकृत वह जीवन-पद्धति है जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य जीवन पर्यन्त संचालित होता है। अतः लोक को समाज का पर्याय नहीं मानना चाहिए। कभी लोक समाज में अन्तर्निहित होता है और कभी समाज लोक में। दोनों में अंग और अंगी का सम्बन्ध है। किसी भी काल में समाज रहित लोक एवं लोक रहित समाज की कल्पना नहीं हो सकती। 'लोक' समाज का अति व्यापक भाव रूप है। उसमें समाज एवं असमाज दोनों तत्त्व साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। समस्त सामाजिक एवं असामाजिक तत्त्वों से युक्त होकर लोक एक अद्वैत सत्ता है जिसमें समस्त भेदात्मकता एक विराट् अभेदमयी स्थिति में परिणत हो जाती है।

लोक-साहित्य का रचयिता सामाजिक चेतना सम्पन्न प्राणी होता है जो अपनी वाणी द्वारा समाज में व्याप्त समस्त रागात्मकमयी चेष्टाओं, क्रिया-प्रतिक्रियाओं एवं भावनाओं को मुखरित करता है। लोक साहित्य में लोक मानस की भावानुभूतियों की अभिव्यंजना रहती है। जब हम लोक-मानस शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसमें हमारा आशय वैयक्तिक चेतना के स्थान पर सामूहिक चेतना का होता है। उसमें सम्पूर्ण लोक के मानव-प्राणियों के सामान्य-मानस-व्यापार संयुक्त होते हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर एक सभ्य सुशिक्षित मस्तिष्क तथा एक असभ्य अशिक्षित मस्तिष्क में अन्तर प्रतीत होता है परन्तु लोक-मानस इस अन्तर को समाप्त कर देता है और दोनों की मूलभूत आन्तरिक एकता की छाया में उनके सामान्य मानसिक व्यापार प्रकट होते हैं। इसीलिए विभिन्न रंग-रूप, वर्ण-जाति और देश-काल की भेदात्मक स्थितियों से युक्त होने के पश्चात् भी मानव के अस्तित्व एवं स्वरूप में कोई भेद नहीं है। मानव की

सासू लाती भजि बसना मंजावे रे ना।
सासू पनिया पताल से भरावें रे ना।।"

—अ० लो० पृ० १४६।

बहू का सास-ननद के प्रति असम्मान का भाव—

"सासु तो ए भैया बुढ़िया डोकरिया आजु मरैं की काल्हि रे।
ननदी तो ए भैया बन की कोइलिया आजु उड़ैं की तो काल्हि रे।"

—वही, पृ० १५०।

कर्कशा एवं दुष्टा पत्नी का पति के प्रति उपेक्षा भाव—

"देहरी बैठे तेल लगावै, सेंदुर भरावै माँगि।
अंचल पसारि के सूरज मनावैं होइहौं कब मैं राँडि।।"
करकसा नारि मिली।।

—वही पृ० ७४६।

यह सतत परम्परा ही लोक है और इसका विराट् मानस लोक-मानस है। लोक-साहित्य इसी व्यापक लोक-मानस का अभिव्यक्त रूप है। अपनी सामूहिक स्थिति के कारण लोक-मानस सामाजिकता से निकट का सम्बन्ध रखता है। समाज एक समूह-वाचक शब्द है, जिसमें मानव की सामूहिकता का बोध होता है।

लोक-साहित्य के निर्माण में समाज एक विशाल पृष्ठभूमि का कार्य करता है। समाज के प्रांगण में प्रफुल्लित-विकसित सम्पूर्ण मानवी भावनाएँ, विश्वास और मान्यताएँ, परम्पराएँ और रीतियाँ लोक-साहित्य की प्रेरक परिस्थितियाँ हैं। मनुष्य अपने जन्म-काल से ही सामाजिकता के सूत्र में बँध जाता है। समाज के नियमानुशासन में बँध कर वह परम्परागत विश्वास एवं मान्यताओं के अनुकूल आचरण करता है। लोक-साहित्यकार के रूप में भी वह अपने समाज में व्याप्त विभिन्न तत्वों से अनुप्राणित होता है। यही कारण है कि लोकगीतों में विभिन्न सामाजिक प्रथाओं, रीतियों एवं परम्पराओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

भारतीय समाज की रचना धर्म के मूलभूत तत्व पर आधारित है। मानव-जीवन का परम लक्ष्य धर्म, अर्थ एवं काम की साधना द्वारा 'मोक्ष' प्राप्त करना है। वर्ण-भेद, आश्रम-व्यवस्था, वर्ण-गत कार्य विभाजन, विभिन्न संस्कारों का नियोजन—ये समस्त सिद्धान्त मानवीय आचरण की शुद्धि एवं परिमार्जन के निमित्त बनाए गए हैं और सबका उद्देश्य मनुष्य को चरमोत्कर्ष की प्राप्ति में संलग्न रखना है।

हिन्दू-समाज में धर्म और मोक्ष का व्यापक प्रभाव है वहाँ धर्मानुकूल आचरण करते हुए मोक्ष को प्राप्त करना मनुष्य का अभीष्ट लक्ष्य है। वर्णव्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण-धर्म के अनुसार कार्य करता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है। अपने वर्ण-धर्म के प्रतिकूल किया जाने वाला उत्तम कार्य भी मोक्ष का बाधक है। शूद्र वर्ण का व्यक्ति ब्राह्मणोचित कार्य को करके मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। इस प्रकार वर्णानुसार विभिन्न कर्म-संस्कारों की स्थापना हुई। गृह्य सूत्र में ४० संस्कारों की परिगणना की गई है पर मुख्य रूप से पाँच प्रकार के संस्कारों का समाज में प्रचलन है—(१) प्राग् जन्म संस्कार (२) जन्म-संस्कार (३) यज्ञोपवीत संस्कार (४) विवाह संस्कार (५) अंत्येष्टि संस्कार। इन मुख्य संस्कारों के अतिरिक्त अनेक उपसंस्कार भी देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित हैं। प्राग् जन्म संस्कारों के अन्तर्गत गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन संस्कार आते हैं। जन्म-संस्कारों के अन्तर्गत जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, कर्ण छेदन एवं अन्नप्राशन संस्कारों का समावेश है, यज्ञोपवीत संस्कार में उपनयन एवं विद्यारम्भ संस्कारों का उल्लेख रहता है। विवाह संस्कार के अन्तर्गत अनेक प्रकार के वैवाहिक विधि-विधानों का प्रवेश रहता है और अन्त्येष्टि संस्कार में मृत्यु-सम्बन्धी कार्यों की गणना होती है हिन्दू समाज में प्रत्येक संस्कार के अवसर पर लोक गीत गाने की प्रथा है। इस प्रकार जीवन के आरम्भ से लेकर अन्त तक होने वाले कार्य-व्यापारों का इन गीतों का सृजन करने में विशेष योग है। संस्कारों के नामानुसार ही लोकगीतों के विविध रूपों का निर्माण हुआ है। प्राग् जन्म एवं जन्म-सम्बन्धी संस्कारों के अवसर पर गोद भराई के गीत, सोहर, जच्चा, सरिया, पीपर के गीत, छठी के गीत, मनरजना, गज मोहना, चुनरी, पालना, झुनझुना, बधाई, अन्नप्राशन के गीत, मुण्डन के गीत, छेदन के गीत, लोरी इत्यादि

गाने की प्रथा है। यज्ञोपवीत के अवसर पर देवी के गीत, उपटन, सितपोहनी, मांडव, जनेऊ, पदप्रक्षालन भिक्षा, स्नान, वस्त्र धारण के गीत गाए जाते हैं। विवाह के अवसर पर कन्या पक्ष एवं वर पक्ष के भेद से अनेक विधियों से सम्बन्धित गीतों का प्रचलन है जिनमे मुख्य रूप से तिलक, देवी के गीत, तेल के गीत, चौक धराई, नेवला, माटी खनाई, मण्डप, कलस धराई, सितपहिना, नहान, द्वारचार, भांवर, कोहबर, जेवनार और विदाई के गीतो का उल्लेख किया जा सकता है। इसी प्रकार मृत्यु के अवसर पर शोकपूर्ण गीत गाए जाते हैं। इन गीतो का प्रचलन सर्वत्र समान रूप से नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज मे उपस्थित प्रत्येक अवसर, प्रत्येक घटना एवं प्रत्येक क्रिया लोकगीतों के लिये अनुकूल भूमि का निर्माण करता है।[1]

हिन्दू-समाज मे अनेक पर्व-त्योहारों एवं ऋतुओं के उपलक्ष्य में आनन्द एवं हर्ष से युक्त उत्सव मनाने का प्रचलन है। इस प्रकार के आनन्दोत्सव भी मानव हृदय की कोमल भावनाओं को उत्तेजित करके नवीन गीतों के सृजन मे सहायक होते हैं। होली, दीवाली, रक्षा बन्धन, दशहरा, कार्तिक पूर्णिमा एवं छठ इत्यादि पर्वों पर गीतों के मधुर स्वर से वातावरण गूंज उठता है। ऋतुओं मे भी ग्रीष्म, शरद, वसन्त और वर्षा पर अनेक गीतो की सुन्दर रचना हुई है। इन्ही ऋतुओं से सम्बन्धित महीनों के नाम पर गीतों की संज्ञाएं निर्दिष्ट की गई हैं। वसन्त में फगुआ और चैता तथा वर्षा मे सावन, कजली और मलार गीत गाए जाते हैं। होली सर्वाधिक जन-प्रिय त्योहार होता है। लोक-जीवन मे इस त्योहार का व्यापक प्रभाव है। इसीलिए होली सम्बन्धी लोकगीतों में जो हर्षातिरेक, निद्वंद्वता, उमग एव उत्साह प्राप्त होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।[2] दीवाली का त्योहार भी धूमधाम से मनाया जाता है और गीत गाए

---

1. विभिन्न संस्कारो से सम्बन्धित उदाहरण—

   जन्म संस्कार—आठ महीना नौ लगते श्री राम जी जनम लीन्हे हो।
   ए हो बाजे लागी अनन्द बधैया उठन लागे सोहर हो॥

   यज्ञोपवीत सस्कार—आँगन ढोल धमाके दहव अस गरजे।
   उहै बरुरिया राजा दसरथ तो रामा कै जनेऊ॥
   —क० कौ० पृ० ३३६

   विवाह संस्कार—हाथी मैं साजो घोड़ा मैं साजो साजि ले मुलुक पचास है।
   एक मैं साजिले राजा दुलह बाबू जैसे दुजो के चाँद है॥

   मृत्यु संस्कार—हम नाही जननी विदेसवा मे मरिहे,
   नाहो त जाये न दिहितो ए रामा।

2. होरी खेलें रघुबीरा अवध में होरी।
   केकरा हाथ कनक पिचकारी,
   केकरा हाथ अबीर॥
   राम के हाथ कनक पिचकारी,
   सीता के हाथ अबीर॥
   होरी खेलें रघुबीरा अवध में होरी। —भो० ग्रा० गीत, पृ० १११।

जाते हैं।[1] परन्तु होली के गीत अन्य समस्त पर्वों के गीतों की अपेक्षा अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं।

हिन्दू समाज में उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग की भेदात्मक स्थिति सदैव रही है। दो वर्गों में विभक्त हो जाने के कारण—समाज अनेक प्रकार की विरोधी एवं हानिकारिणी दूषित प्रवृत्तियों से प्रतित हो जाता है। समाज का उच्च वर्ग अपनी सम्पन्नता के गर्व में निम्नवर्गीय व्यक्तियों को हेय दृष्टि से देखता है। धनाभाव से पीड़ित व्यक्तियों को ऐसे समाज में घोर अनादर एवं अप्रतिष्ठा प्राप्त होती है। धनी वर्ग और निर्धन वर्ग की यथार्थताओं का परिचय लोकगीतों में अनेक स्थानों पर प्राप्त हो जाता है।[2]

समाज में उत्पन्न प्रत्येक घटना की लहर लोक गायक के हृदय को आन्दोलित कर देती है। समाज के उत्तम आदर्श उस पर जितना प्रभाव डालते हैं, उतना ही प्रभाव समाज की विषमताओं का, दोषपूर्ण परिस्थितियों का और दलित वर्ग की दयनीय अवस्थाओं का भी पड़ता है।[3] अभाव की कठोर कारा में बद्ध दीन-हीन प्राणियों की पुकार जब समाज के कर्णधारों द्वारा उपेक्षा के साथ ठुकरा दी जाती है तब लोक-कंठ के मार्ग से वह निःसृत होती है।[4]

---

1. गुहार मच्यो है दिवारी की राति, हारैं को जीतिए।
   राम परसाद जीते सब ससुरारि, बहुरिया हारी सब व्यौसार॥
   —लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २६।

2. सुखिया-दुखिया दोनों बहिनियाँ—
   दोनों बधावा लै आयी हरे राजा बीरन।
   सुखिया ले आई गुजहरा गोड़हरा,
   दुखिया दूब के पैड़ा हरे राजा बीरन।
   सुखिया जे पूछे अपने बीरन से,
   बिदा करौ घर जाई, हरे राजा बीरन।
   लेहु न बहिनी कोंछ भरि मोतिया, सैंयां चढ़न का घोड़ा, हरे राजा बीरन।
   दुखिया जे पूछैं अपने बीरन से,
   बिदा करौ घर जाई हरे राजा बीरन।
   लेहु न बहिनी कोंछ भरि कोदौ,
   बहै दूब का पैड़ा हरे मोर बहिनी। —क० कौ० पृ० २०६

3. पैं देख्यो राम हमारे मन धीरजा।
   सबके महलिया रामा दियना बरतु हैं।
   हरि लेख्यो हमरो अंधेर, हमारे मन धीरजा।
   सबके महलिया रामा जेवना बनतु है,
   हरि लेख्यो हमरो भूख, हमारे मन धीरजा।
   —वही, पृ० ७२०।

4. दुरही मड़इया बुनिया टपकेइ रे,
   के सुधि लेवै हमार ?
   —लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या पृ० ४२।

समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त विभिन्न रीतियों एवं प्रथाओं का वर्णन भी लोकगीतों में प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न व्यवसायों एवं उद्योगों का उल्लेख उपलब्ध होता है। जातीय गीतों में विभिन्न जातियों के क्रिया-व्यापारों का निरूपण रहता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज का सम्पूर्ण स्वरूप लोकगीतों में स्थान पाता है।

धार्मिक परिस्थितियाँ

भारतीय संस्कृति की आत्मा धर्म है। धर्म की सुदृढ़ आधार भूमि पर ही भारत का समस्त गौरव एवं सम्पूर्ण महत्व टिका हुआ है। यहाँ के एक-एक व्यक्ति के जीवन में धर्म का तत्त्व प्राण वायु के समान समाया हुआ है। भारतीय संस्कृति, समाज और साहित्य सब में धर्म के तत्व अनुस्यूत हैं। इस प्रकार इस देश में धर्म ही मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा का मूल हेतु माना जाता रहा। यहाँ की लोक संस्कृति धार्मिकता पर आधारित रही है। महाभारत में इसी धर्म को समस्त चराचर जगत का संचालक माना गया है। तीनों लोकों में धर्म की प्रतिष्ठा है।[1] चार पुरुषार्थों में धर्म का प्रधान स्थान है। धर्म से अर्थ-लाभ तथा मोक्ष की उपलब्धि होती है। धर्म लोक-जीवन का प्राण है। अनादिकाल से धर्म के तत्व लोक के सम्पूर्ण जीवन में परिव्याप्त हैं। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से धर्म के व्यापक प्रसार और प्रभाव का परिचय प्राप्त होता है, क्योंकि धर्म की मूलभूत प्रेरणा भारतीय संस्कृति के निर्माण का प्रमुख तत्व रही है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में धर्म के स्वर ही मुखरित होते हैं। यज्ञादि विधि-विधानों में भी धर्म-पालन की आवश्यकता निहित है। यहाँ धर्म का पालन मनुष्य मात्र का कर्तव्य माना गया है। भारतीय आचार्यों की दृष्टि में धर्म का विनाश सम्पूर्ण मानव-जाति का विनाश है। धर्म-च्युत कुल पापाभिभूत होकर नष्ट हो जाता है।[2]

लोकसाहित्य का प्रासाद भी लोकजीवन में परिव्याप्त धर्माचारों की सुदृढ़ नींव पर खड़ा हुआ है। भारतीय लोकजीवन में धर्म का प्राधान्य है। सामान्य जन-समूह में धर्म ही समस्त कार्य व्यापारों का संबल है। उनमें धर्म के प्रति असीम आस्था, एवं अटूट विश्वास समाहित रहता है। जनजीवन में प्राणों के समान संचरित होने वाला यह धर्म भारतीय लोकसाहित्य के निर्माण में पृष्ठभूमि का कार्य करता है। सम्पूर्ण लोकसाहित्य धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। लोकगीत, लोकगाथा, लोक-कथा सबमें धार्मिक विश्वासों का स्पन्दन है।

लोकगीतों में, लोकजीवन में व्याप्त समस्त धार्मिक नियमाचार प्रतिबिम्बित होते हैं। लोकजीवन में धर्म का कोई निर्धारित स्वरूप नहीं होता, जो सुगम है उसे लोकमानस ग्रहण कर लेता है—जटिलता अथवा दार्शनिकता सामान्य जनों के लिए अनुकूल नहीं पड़ती। इसीलिए ईश्वर के भाव रूप में ही लोकमानस की आस्था होती है जिसे हम सगुणोपासना कह सकते हैं। इसमें निर्गुणोपासना के दर्शन के लिये अवकाश

1. 'धर्मं सतां हितं पुंसां धर्मं चैवाश्रयः सताम्।
   धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः॥" —महाभारत
2. "धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मो भिभवत्युत।
   गीता, अध्याय १, श्लोक ४०।

नहो है। एक ईश्वर ही क्यों, कल्याण की योजना करने वाला प्रत्येक उपकरण लोगों के विश्वास और पूजा का आधार बन जाता है। ईश्वर के सगुण रूप की उपासना वहाँ होती है, जहाँ निर्गुण रूप की ज्ञानमयी साधना के लिये लोकमानस की सीधी-सादी, अबोध, भाव प्रवण वृत्ति अनुकूल सिद्ध नहीं होती। सगुण ब्रह्म के समस्त अवतार रूपों की उपासना का प्रचलन लोकजीवन में प्राप्त होता है। एक व्यक्ति किसी एक विशिष्ट देव-स्वरूप का उपासक नहीं होता वरन् समस्त देवी-देवताओं के प्रति उसके हृदय में समान आस्था होगी। यही धार्मिक आस्था बहुधा धार्मिक अंध-विश्वास बन कर लोक-समुदाय में व्याप्त हो जाती है। देवी-देवताओ की उपासना के अतिरिक्त लोक-समुदाय मे वृक्ष, पशु, पक्षी, पर्वत, नदी, ठीहे, कंकण-पत्थर, वस्त्र इत्यादि की पूजा के दृष्टान्त भी मिलते हैं, यहाँ तक कि 'घूर' (कूड़े का ढेर) को भी एक देवता मानकर उसकी पूजा की जाती है। प्रायः विवाह संस्कार में इन 'घूर बाबा' की पूजा का दृश्य देखा जा सकता है। देहरी, कुआँ, तालाब, चूल्हा, मिट्टी, गोबर की पूजा के उदाहरण भी मिलते हैं।

नए कोरे घड़ों की पूजा करके ही उनमें जल भरा जाता है। शुभ अवसर पर गीत गाने के आरम्भ में तथा समाप्ति पर ढोलक की घी-गुड़ से पूजा की जाती है। ओखली और मूसर की भी पूजा होती है। ग्राम्य भावना में, घर और बाहर की प्रत्येक वस्तु उपास्य एवं पूज्य है। लोकजीवन से सम्पर्कित एवं व्यवहार में प्रयुक्त कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो इस विस्तृत धार्मिक भावना से अस्पृष्ट रहा हो। लोकजीवन में समाविष्ट इस बहुदेववाद के मूल मे सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद की प्रेरणा ही विद्यमान है। अपने आस-पास की सारी वस्तुओं में इन भोले भाले व्यक्तियों को ईश्वर के अस्तित्व का आभास मिलता है, इसीलिए प्रत्येक वस्तु उनके लिये पूज्य होती है। अनेकत्व की उपासना के माध्यम से उनकी वृत्ति उस एक अखंड अविनाशी विराट् शक्ति की ओर उन्मुख रहती है जो सृष्टि के प्रत्येक कार्य-व्यापार में अपने आपको प्रकट करता रहता है, जो सर्वत्र विद्यमान है। यह सत्य है कि, आत्म-निरीक्षण की ओर दार्शनिक विवेचना की शक्ति उनके पास नहीं है, इसलिए अपने धार्मिक आचार-विचारों का तात्विक मूल्यांकन वे स्वयं नहीं कर सकते। अपने स्वाभाविक हित और मंगल की कामना से वे धार्मिक अनुष्ठानों में प्रवृत्त होते हैं। किन्तु ईश्वर के समस्त रूपों के प्रति उनके हृदय में आस्था है, किसी से उनका विरोध नहीं, किसी से संघर्ष नहीं। कोई टीला हो, पत्थर हो या मिट्टी का ढेर हो, फूल और अक्षत चढ़ाने तथा अर्घ्य देने से उसका महत्व भी उनकी दृष्टि में परम ब्रह्म के समान हो जाता है। राम, कृष्ण, शंकर, गौरी और पार्वती के समान ही कंकड़ पत्थर, पेड़ पत्ते आदि सभी उनके भगवान बन जाते हैं और समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले परमेश्वर की शक्ति से सम्पन्न हो जाते हैं। यह लोक-हृदय की विशालता है कि यहाँ विश्वास और आस्था के विस्तृत सागर में संसार के समस्त पदार्थ अभिसिंचित रहते हैं। इस दृष्टि से लोकमानस की सत्ता अत्यन्त व्यापक और विराट् है।

लोकगीतों में धार्मिक भावनाओं के प्रायः सभी आलम्बन ध्वनित होते हैं जिनमें राम, कृष्ण, शंकर, हनुमान, सूर्य आदि देवताओं के और गौरी, पार्वती, सीता, शीतला, माता, छठी माता, तुलसी, गंगा आदि देवियों के रूप मुख्य

हैं। इन समस्त देवी-देवताओं की उपासना पुत्र-जन्म, धन आदि की कामना से की जाती है। अनेक स्थानों पर शारीरिक और आर्थिक कष्टों से मुक्ति पाने की याचना भी प्राप्त होती है। समस्त देवी-देवताओं की पूजा में गीतों का गायन आवश्यक होता है। गीतों के शब्दों में गायक-गायिकाओं के मनोभाव व्यंजित हो उठते हैं। धर्म और भक्ति के आवेश में दुःखी, कातर और भाव प्रवण स्त्री-पुरुषों के हृदय से न जाने कितने गीतों का जन्म हुआ होगा। कहीं पुत्राभाव से पीड़ित, दुःखी निराश वंध्या स्त्री अथाह वेदना लेकर 'गंगा मैया' की उपासना में रत दिखाई देती है।[1] कहीं पुत्रवती माता शीतला के प्रकोप से मरणासन्न बालक के जीवन की रक्षा के लिए याचना करती हुई मिलती है।[2] देवी-देवताओं पर मनौती चढ़ाने की रीति प्राचीन काल से चली आ रही है। लोकजीवन में मनौतियों का विशेष महत्व होता है। मनोकामना पूर्ण होने पर पूर्व निर्धारित मनौती चढ़ाने का प्रचलन ग्रामीण स्त्रियों में अधिक है।[3]

स्त्री-पुरुषों में व्रतों का विधान एवं पर्व-त्योहारों का अनुष्ठान भी धार्मिक भावनाओं को अनुप्राणित करता है। वर्ष के विभिन्न मासों में विभिन्न प्रकार के व्रतों का साधन स्त्रियाँ करती हैं। ये व्रत किसी मनोकामना की सिद्धि के लिये किये जाते हैं। प्रत्येक व्रत किसी देवी-देवता के आश्रित होता है। इसी प्रकार वर्ष में विभिन्न प्रकार के पर्वों का आगमन होता है जिन्हें ससमारोह सम्पन्न किया जाता है। ये पर्व-त्योहार भी किसी धार्मिक कथा पर आधारित होते हैं। लोक-समुदाय में इन विविध व्रतों एवं त्योहारों के मंगल अवसर पर गीत गाने की प्रथा है। सूक्ष्मता से देखा जाय तो ग्राम्य जनता का प्रत्येक दिवस किसी न किसी समारोह से पूर्ण रहता है और लोकगीतों की सरस ध्वनि से वातावरण गुंजित होता रहता है। उनका प्रत्येक पल, विविध धार्मिक भावना से ओतप्रोत रह कर मंगल गीतों का सृजन करता है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

सभ्यता के विकासकाल में मनुष्य में अनुशासनप्रियता का समावेश हो गया और अपनी वैयक्तिक स्वच्छन्दता को त्याग कर वह एक स्वनिर्मित नियम शासन में

---

1. गंगा, गहवरि पियरी चढ़इबें होरिल जब होइ है हो।
   भैया, केहु भगीरथ पूत जगत जस गाइब हो।।

   —क० कौ० पृ० १७४।

2. पटुका पसारि भीखि मांगेली आलाकवा के माई,
   हामारा के आलकवा भीखि दीं।
   मोरी दुलारी हो मइया,
   हामारा के आलाकवा भीख दीं।

   —लो० सा० भू० पृ० २६६ कृष्णदेव उपाध्याय।

3. धनि देनि आई भोला के साल गली।
   केहू चढ़ावेला अच्छत चंदन, केहू चढ़ावेला सुन्दर फुलरी,
   राजा चढ़ावेला अच्छत चंदन रानी चढ़ावेली सुन्दर फुलरी।

   —वही, पृ० २६४।

रहने लगा। मनुष्य की अगणित प्रेरणाओं एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति विविध साम्प्रदायिक संगठनों अथवा संघों में होती है। ये सभी संगठन सुनिश्चित नियमों के नियन्त्रण में रहते हैं। राज्य भी एक संगठन है जिसके अन्तर्गत मनुष्य की सुरक्षा एवं सुव्यवस्था का समुचित संचालन होता है। राज्य किसी मनुष्य के हित विशेष के लिए प्रयत्न नहीं करता, वरन् समस्त सामाजिक हितों एवं सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित करके उन्हें प्रोत्साहित करता है। 'राज्य' के अभाव में शान्ति एवं सुव्यवस्था असम्भव है। और शान्ति एवं सुव्यवस्था के अभाव में प्रगति एवं विकासमयी सभ्यता की उपलब्धि नहीं हो सकती।

राज्य सभ्य जीवन की पहली आवश्यकता है। प्राचीनकाल से ही संसार के प्रत्येक भाग में 'राज्य' का अस्तित्व व्याप्त हो गया है। राज्य के शासन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति होती है। समयानुसार शासनाधिकार बदलता रहता है परन्तु राज्य अक्षुण्ण रहता है।

प्रत्येक राज्य की जनता अपने यहाँ की राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। राज्य का प्रत्येक कार्य जनता के हितों पर प्रभाव डालता है। यही कारण है कि प्रत्येक काल की जनता ने अपनी राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति भावोद्गार प्रकट किये हैं। समय-समय पर राजनीतिक परिवर्तनों के कारण सभी देशों में व्यापक आन्दोलनों की लहर उठती रही और वहाँ की जनता को प्रभावित करती रही। जन-जन के हृदय और मस्तिष्क पर पड़े हुए प्रभाव उसकी वाणी में मुखरित होकर आते हैं। लोकगीतों के सृजन में भी इन राजनीतिक प्रभावों का पर्याप्त सहयोग रहा। अनेक लोकगीतों में उसकी समयुगीन राजनीतिक परिस्थितियों की झलक प्राप्त होती है। ऐसे लोकगीतों से उनके रचना काल का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। भारतीय जन-सामान्य में प्रचलित ऐसे अनेक गीत प्राप्त होते हैं जिनमें उनकी रचना-कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का वर्णन है। उदाहरणार्थ एक लोक गीत में एक ऐसी स्त्री का प्रसंग है जो मुगलों से भयभीत होकर एक जंगल में जाकर छिप गई है। पचास मुगल उसे खोज रहे हैं। उसी वन में एक हिन्दू युवक से उसकी भेंट होती है जो उसकी रक्षा करता है और वह स्त्री उसे अन्त में पति रूप में वरण कर लेती है।[1] मुगलों के अत्याचार से पीड़ित जनता में उनके विनाश की कामना स्वाभाविक ही थी। परन्तु मुगलों की सबलता के समक्ष उस समय के हिन्दुओं की निरीहता प्रत्यक्ष रूप में इतिहास-प्रसिद्ध है।

1. ठाढ़े एक ओर मुगुल पचास त यहि रन बन मे।
दुलहा एक ओर ठाढ़े अकेल त यहि रन बन मे।
रामा जूझे हैं मुगुल पचास त यहि रन बन मे।
राजा जीति के ठाढ़ अकेल त यहि रन बन मे।
× × ×
दुल्हा धरम लिहेउ मोर राखि त यहि रन बन मे।
दुलहा हम तोहरे हाथ बिकानि त यहि रन बन में।
पतनी बचनिया के साथ त यहि रन बन मे।
दुलहिन मलवा दिहिन परे डारि त यहि रन बन मे। —क० कौ० पृ० ८४-८५।

जो मनोकामनाएँ पूर्ण नहीं हो पाती हैं, वे कल्पना लोक में अपनी पूर्ति का मार्ग ढूँढ़ती हैं। विदेशी शासन के प्रति जनता का क्षोभ जब कार्य रूप में परिणत न हो सका तो वह भावना एवं कल्पना में प्रतिशोध की आशा बाँधने लगी। लोकगीतों में भी इस प्रकार के कुण्ठित और असफल भाव काल्पनिक सफलता का आश्रय पाने लगे। दूसरी ओर इस प्रकार के काल्पनिक साहस और शक्ति के संचार से परतन्त्र हृदयों में उन्माद एवं वीरता का उद्रेक भी हो सका। एक लोकगीत में एक बहन अपने भाई को मुगलों से युद्ध करने को उत्तेजित कर रही है। भाई साठ मुगलों से अकेला ही युद्ध करता है और विजयी बनता है।[1] मुगलों की ही भाँति तुर्कों के अत्याचार का उल्लेख भी लोकगीतों में मिलता है। एक तुर्क सरदार मिर्जा की दृष्टि अपूर्व लावण्यमयी स्त्री पर पड़ती है और इसे पाने की आकांक्षा उसमें उत्पन्न हो जाती है। मिर्जा उस स्त्री के पिता को कैद में डलवा देता है और बलपूर्वक उसे पालकी में बैठाकर ले जाता है। मार्ग में वह स्त्री अन्तिम बार अपने पिता के तालाब में पानी पीने की इच्छा प्रकट करती है। मिर्जा पहले तो अस्वीकार करता है पर अन्त में अनुमति दे देता। वह स्त्री तालाब के समीप जाकर पानी का पहला घूँट पीती है, फिर दूसरा पीती है और तीसरा घूँट लेने के साथ ही जल में डूब जाती है। इस प्रकार वह हिन्दू नारी आत्महत्या करके मिर्जा के कलुषित स्पर्श से अपनी पवित्रता की रक्षा करती है।[2] अनाचार के उस युग में ऐसे नारी चरित्रों की कमी नहीं रही इसका परिचय इन गीत में मिलता है। हिन्दू स्त्रियों की उस विवशता निरीहता एवं दयनीयता का प्रभाव सहृदय लोक गीतकारों पर पड़े बिना नहीं रह सका और नारी के त्याग की कथा शब्दों में अमर हो गई।

उत्तर प्रदेश में बलिया जिले के हल्दी नामक गाँव में कुछ काल पूर्व हैहय वंशी क्षत्रियों का राज्य था। बिहार राज्य के शाहाबाद जिले के 'डुमराव' नामक स्थान के राजा तथा उपर्युक्त क्षत्रिय राजा में पारस्परिक मनमुटाव चल रहा था।

---

1. बिरना हाली-हाली जेवड़ बिरन मोरा,
   बिरना मुगल लड़इया के ठाढ़।
   बिरना मुगल की ओरियाँ सब साठि जने,
   मोरा भइया अकेलवइ ठाढ़।
   बिरना मुगल जूझे सब साठि जने,
   मोरा भइया समर जीति ठाढ़। —क० कौ० पृ० ८६।

2. तनियक डोलिया थमाओ मिरजवा,
   बाबा के सगरवा मुँहवां धोइत हो ना।
   बाबा के सगरवा सुन्दर बढ़इत पनियाँ,
   हमरे सगरवा पनियाँ पीयो होना।
   तोहरे सगरवा मिरजा नित उठि होइ हैं,
   बाबा के समरवा दुर्गम होइहैं हो ना।
   एक घूँट पियली, दूसर घूँट पियली
   तिसरे में गई हैं तराई हो ना। —भो० लो० गी० पृ० ५१।

डुमरांव के राजा के प्रबन्धक बहोरन पांडेय नामक व्यक्ति थे। हल्दी के बालकों में एक ऐसा गीत प्रचलित है जिसमें दोनों पक्षों के संघर्ष का चित्रण प्राप्त होता है।[1] इसी प्रकार जौनपुर जिले के बांदा नामक गाँव में सन् १८५७ के सिपाही विद्रोह के अवसर पर अंग्रेजी फौजों के साथ प्रतापगढ़ जिले के 'कालाकांकर' स्थान के बिसनवंशी राजा का घोर संघर्ष हुआ था तथा इस स्थान के आस-पास इस युद्ध के सम्बन्ध में गीत प्राप्त होते हैं जिनमें राजा की वीरता का स्पष्ट उल्लेख है।[2]

भोजपुरी प्रदेश में वीरात्मा बाबू कुंवरसिंह के सम्बन्ध में अनेक गीत प्रचलित हैं। सन् ५७ की क्रान्ति में सक्रिय भाग लेने वाले सिपाहियों में कुंवरसिंह का प्रमुख स्थान था। अंग्रेजों के साथ उन्होंने जिस असीम बाहु-बल के साथ युद्ध किया था, वह सर्व विदित है। उनकी अपार वीरता अटूट साहस अदम्य उत्साह जन-जन के मन को प्रभावित करता रहा था। आज भी उनकी प्रशंसा के गीत लोक कंठों में गुंजित हो रहे हैं।[3]

राजनीतिक क्षेत्र की प्रत्येक आन्दोलनकारी घटना ने लोक-साहित्य, सष्टाओं को प्रभावित किया है। सन् ५७ में अंग्रेजों द्वारा वाजिदअली शाह से अवध की गद्दी छीन कर उसे लखनऊ से निर्वासित कर दिया गया तो उसकी बेगमों में शोक की लहर छा गई। उनका शोकाकुल हृदय करुण विलाप में चीत्कार कर उठा। अनेक गीतों के माध्यम से उनके भीषण दुःख का वास्तविक चित्र उपस्थित हुआ है।[4] भारत

---

1. राजा भइले रजुली, बहोरन भइले धुनिया।
   मारेले दलगंजनदेव, दलके से दुनियां। —लो० सा० भू०, पृ० २४६ कृ०दे०उ०।
2. "काले कांकर क बिसेनवा।
   चाँद गाड़े बा निसनवा।" —क० कौ० पृ० ६७ भाग ५।
3. बतिया के कारण से बाबू कुंवरसिंह।
   फिरंगी से हो रेढ़ बढ़ाय हो राम॥
   दानापुर से जब सजल हो कम्पू।
   कोइलवर में रहे छाय हो राम॥
   लाख गोला तुंह के गनि के मरिहो।
   छोड़ बरहरवा के राज हो राम॥ —भो० लो० गी० पृ० ५२ भाग १।
4. गलियन गलियन रैयत रोवै।
   हटियन बनिया बजाज रे।
   महल में बैठी बेगम रोवैं।
   डेहरी पर रोवैं ख्वास रे।
   मोती महल की बैठक छूटी।
   छूटी है मीना बजार रे।
   बाग जमनियाँ की सैरें छूटी।
   छूटे मुलुक हमार रे।
   जो मैं ऐसी जानती।
   मिलती लाट से जाय रे।
   हा हा करती, पैयां परती।
   लेती सइयों छोड़ाय रे॥ —लो०सा०भू० पृ० २४८-४६ कृ०दे०उ०।

की परतन्त्रता निवारक जन-क्रान्ति के अवसर पर महात्मा गांधी के अदम्य साहस और उद्योग से जनता में देश के लिये मर मिटने की नवीन लहर दौर पड़ी थी और प्रत्येक व्यक्ति सेवा, त्याग एवं उत्सर्ग की दिव्य भावनाओं से अभिभूत हो उठा था। देश की उस जागृत चेतना का स्वरूप भी आधुनिक लोक गीतों में मुखरित हो उठा है। केवल पुरुष ही नहीं देश के स्त्री-समुदाय में भी अपूर्व त्याग एवं उत्साह का प्राबल्य छा गया था।[1] स्वदेश-प्रेम की मर्यादा सुरक्षित रखने के निमित्त विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन जन-जन के मन में व्याप्त हो गया था। लोकगीतों के शब्दों मे जनता की समस्त भावनाएँ अभिव्यंजित हो उठीं।[2]

इस प्रकार राजनीति के क्षेत्र मे घटित होने वाली समस्त घटनाएँ लोक साहित्यिकों के लिए प्रेरक पृष्ठभूमि का कार्य करती हैं।

लोकगीत की विशेषताएँ और महत्त्व

लोकगीतों की कतिपय सार्वभौम प्रवृत्तियाँ होती हैं। डाक्टर यदुनाथ सरकार के अनुसार, प्रबन्ध की द्रुत गति, शब्द-विन्यास की सादगी विश्व जनीन मर्मस्पर्शी और आदिम मनोवेग, सूक्ष्म किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र-चित्रण, क्रीड़ा-स्थली अथवा देश काल का स्थूल अकन साहित्यिक कृत्रिमताओं का न्यूनातिन्यून प्रयोग या सर्वथा बहिष्कार—सच्चे लोकगीत की ये नितान्त आवश्यक विशेषताएँ हैं।[3] जार्ज सेंपसन के मतानुसार लोकगीत मे स्वरों और शब्दों का ऐसा गत्यात्मक संयमन होता है जो गीत को छन्दोबद्ध करके नृत्य की ताल और लय के अनुकूल बना देता है।[4]

फ्रेंच विद्वान मोंशिए आपरे ने सन् १८५३-५४ मे लोकगीतों के सामान्य

---

1. ललना छोड़ि देहु कपड़ा विदेसी, सुदेसिया के पहिरहु हो॥
   अबरु चलावहु चरखा, सबहि मिलि गावहु हो।
   ललना भारत मइया मंझधरवा त पार लगावहु हो॥ —भो० ग्रा० गी० पृ० ७
2. पुतवा के देबो भारत मइया के सेउवा मे, मालवा के सेउवा में हो।
   ललना पूत करिहे देसवा के काम त जनम सुफल होइहैं हो।
   —वही, पृ० ५।
3. "Rapidity of movement, simplicity of diction, Primari emotions of universal, appeal, action rather than sulotle analysis, Broad striking characterisation, thumb-nail sketches of background and the sparest use (or rather complete avoidance) of literary artifices-these are the essential requisites of the true ballad."
4. "The charector slics of folksongs are as to substance repititions, inter gection and refrains as to from a Verse-accomodated to dame",
   —C. Sampson, combridge History of English Literature. Page 106.

लक्षणों पर लोकगीत संग्रहकों के समक्ष विचार व्यक्त करते हुये लोकगीतों के निम्नांकित प्रमुख लक्षणों का उल्लेख किया था[1]—

(१) अंत्यानुप्रास के स्थान पर ध्वनि साम्य का प्रयोग।
(२) पुनरुक्ति (कथनोपकथन में)।
(३) तीन, पाँच, सात आदि संख्याओं का बार-बार प्रयोग।
(४) दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को सोने-रूपे की कहना।

भारतीय लोकगीतों में साधारणतः प्राप्त होने वाली विशेषताओं को हम निम्नांकित रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं—

वैयक्तिकता का अभाव

लोकगीतों की रचना सामूहिक रूप से होती है, किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा नहीं, इसलिए उनमें वैयक्तिक-भावना का अभाव रहता है। लोकगीतों के रचयिताओं में आत्म प्रचार की प्रवृत्ति नहीं है। वे अपने गीतों में अपने निजत्व को कहीं भी आरोपित नहीं करते। किसी गीत के रचयिता और रचना काल को जानना नितान्त दुर्लभ है। लोकगीत 'जातीय सृष्टि है, जिसमें एक व्यक्ति का नहीं अनेक व्यक्तियों का सहयोग रहता है। लोक-कवि का अपनी रचनाओं में नामोल्लेख न करने के कारणों पर विचार करते हुए राबर्ट ग्रेवस ने लिखा है कि वर्तमान सामाजिक संगठन में किसी लेखक का अपनी कृति में नाम न देने का अभिप्राय अपनी रचना के प्रति लज्जा-भाव अथवा नामाभिव्यक्ति में किसी प्रकार की भय-आशंका हो सकती है, परन्तु आदिम समाज में यह बात लेखक के नाम की असावधानी के कारण होती थी। सामूहिक तथा जातीय रचनाओं में समूह का महत्व होता है, किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं। जिस प्रकार छोटे-छोटे बच्चे छोटे छोटे गीत बनाते, गुनगुनाते और गाते जाते हैं परन्तु इनमें से कोई भी एक बालक गीत का रचयिता होने का दावा नहीं करता और न यह याद रखता है कि बस गीत में कौन-से बालक ने कौन-सी कड़ी जोड़ी है, उसी प्रकार जातीय रचना में व्यक्ति-विशेष की महत्ता नहीं होती, रचयिता का श्रेय समूह को प्राप्त होता है।[2] इस समूह के मध्य, असंख्य स्त्री-पुरुषों के समवेत प्रयत्नों में गीतों का जीवन प्राण पाता रहता है। जिनकी वाणी में मस्तिष्क नहीं हृदय है, जिनके विनय के परदे में छल नहीं, पश्चात्ताप है, जिनकी मैत्री के फूल में स्वार्थ का कीट नहीं, प्रेम का परिमल है, जिनके मानस-जगत् में आनन्द है, सुख है, शान्ति है, प्रेम है, करुणा है, त्याग है, क्षमा है, विश्वास है, उन्हीं ग्रामीण मनुष्यों के स्त्री-पुरुषों के बीच में हृदय नामक आसन पर बैठ कर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही गान ग्रामगीत हैं। वेदों की तरह वे भी अपौरुषेय हैं।[3]

---

1. श्याम परमार के भारतीय लोक साहित्य से उद्धृत, पृ० ५६।
2. राबर्ट ग्रेवस, दि इंगलिश बैलेड, भूमिका पृ० १२-१३।
3. पं० रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी (परिवर्द्धित संस्करण) तीसरा भाग, ग्राम गीत १९५५, पृ० ७०।

परिगणना प्राप्त होती है।[1] यह प्रवृत्ति प्राचीन परम्परा के अनुसार चली आ रही है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के समावेश के कारण किसी गीत का क्षेत्रीय परिचय प्राप्त करना सुगम हो जाता है। जिस क्षेत्र का गीत होगा, वहाँ की विख्यात वस्तुओं का अथवा बहु प्रचलित सामग्रियों का समावेश उसमें होगा।

अनलंकारिता और स्वाभाविकता

*लोकगीतों में कविता की भाँति अलंकार की योजना नहीं रहती। वहाँ सीधे-*सच्चे भावों की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है। उत्कृष्टता और निकृष्टता के भेद-भाव से भिन्न वहाँ प्रत्येक वर-वधू राम-सीता बनते हैं, प्रत्येक माता-पिता कौशल्या और दशरथ हो जाते हैं। हृदय की यह अनुभूति सीधे शब्दों में व्यक्त होती है, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि अलंकारों के प्रयास-जन्य आवरण में नहीं।

भारतीय परम्परा में लोकगीत

सम्पूर्ण संसार में मानव के आविर्भाव से लोकगीतों का उद्‌भव माना जाता है। यद्यपि लोकगीतों के जन्म की कोई निर्धारित काल-रेखा नहीं है, परन्तु मौलिक परम्परा के अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में ये निरन्तर असीम अतीत के गर्भ में छिपे उद्‌गम स्रोत की ओर इंगित करते हैं। लोकगीतों की अनन्त प्रवाहमयी परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है—"जब से पृथ्वी पर मनुष्य है, तब से गीत भी है। जब तक मनुष्य रहेंगे, तब तक गीत भी रहेंगे। मनुष्यों की तरह गीतों का भी जीवन मरण साथ चलता रहता है। कितने ही गीत तो सदा के लिये मुक्त हो गए। कितने ही गीतों ने देश काल के अनुसार भाषा का चोला तो बदल डाला, पर अपने असली स्वरूप को कायम रखा। बहुत-से गीतों की आयु हजारों वर्ष की होगी। वे थोड़े फेर-फार के साथ समाज में अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।[2]

लोकगीतों की विशाल परम्परा, भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन है। लोकगीतों का प्रथम चरण-चिह्न वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत तथा विवाहादि उत्सवों पर सरस गीत गाए जाने का उल्लेख उनमें मिलता है। इन गीतों के लिये वेद में 'गाथा' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] गीतों को गाने वाले के अर्थ में 'गाथिन' शब्द प्रयुक्त है।[4] विवाहादि अवसरों पर गाए जाने वाले गीत 'रैभी'

---

1. पेड़ा बरफी और इमरती, खाजे, सुरमा घेवर, परसों
   गुपचुप सोहन हलुआ परसो, कलाकन्द की बरफी परसों
   खट्टे-मीठे बरा परोसो, सुरभी को घिउ गडुअन परसों
   रसगुल्ला रसदार।
   प्रगति से परसों जो ज्योनार।। —क० कौ०, पृ० ४३१।
2. पं० रामनरेश त्रिपाठी
   —कविता कौमुदी (परिवर्द्धित संस्करण) तीसरा भाग (ग्रामगीत) पृ० ७८।
3. "अग्नि भोडिष्यावसे गाथाभिः शरि शोचिषम्।" —ऋग्वेद ८/७१/१४।
4. "इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किण.।

'नाराशंसी' तथा 'गाथा' तीनों संज्ञाओं से अभिहित किये जाते थे परन्तु 'गाथा' शब्द विशिष्ट अर्थ 'रैभी' और 'नाराशंसी' से पृथक् निर्दिष्ट किया गया है।[1]

ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में भी गाथाओं का विशेष उल्लेख प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋक् और गाथा का अन्तर निर्दिष्ट किया गया है। ऋक् दैवी होती थी और गाथा मानुषी। गाथाओं का प्रयोग मन्त्र के रूप में नहीं किया जाता था और वे ऋक् यजुः तथा साम से पृथक् होती थी। प्राचीनकाल में किसी राजा के उदात्त एवं महान् चरित्र को लक्षित करके जो गीत समाज में प्रचलित हो जाते थे और जन-समुदाय द्वारा गाए जाते थे वे ही 'गाथा' संज्ञा से अभिहित किये गए थे। यास्क के निरुपण की व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य ने बताया है कि वैदिक सूक्तों में कहीं-कहीं जो इतिहास उपलब्ध होता है वह कहीं ऋचाओं के द्वारा और कहीं गाथाओं में निबद्ध है।[2]

वैदिक गाथाओं के उदाहरण शतपथ ब्राह्मण[3] तथा ऐतरेय ब्राह्मण[4] में उपलब्ध होते हैं। इनमें अश्वमेघ यज्ञ करने वाले श्रेष्ठ राजाओं का चरित्र वर्णित है। ऐतरेय ब्राह्मण में इन गाथाओं को कहीं 'श्लोक', कहीं 'यज्ञगाथा' और कहीं केवल 'गाथा' कहा गया है।[5]

ऐतिहासिक गाथाओं की यह परम्परा महाभारत काल में भी पूर्ण रूप से प्रचलित थी। दुष्यन्त पुत्र भरत के सम्बन्ध में अनेक गाथाएं महाभारत में उपलब्ध होती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित गाथाएं श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्राप्त होती हैं। गाथाओं का गायन विशेष रूप से राजसूय यज्ञ के अवसर पर ही होता था परन्तु 'मैत्रायिणी संहिता' में विवाह के शुभ अवसर पर गाथाओं के गायन का प्रमाण प्राप्त होता है।[6] 'पारस्कर गृह्यसूत्र' में भी विवाह सम्बन्धी गाथाएं उपलब्ध होती

---

1. रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
   सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतं॥

   —ऋग्वेद १०/८५/६।

2. स पुनरितिहासः ऋग्बद्धो गाथा बद्धश्च। ऋक् प्रकार एवं कश्चिद् गाथेत्युच्यते। गाथा गमति, नाराशंसी : शंसति इति उवंत गाथानां कुर्वीतेति।

   —निरुक्त ४/६ की व्याख्या।

3. शतपथ ब्राह्मण कांड १३, अध्याय १, ब्राह्मण ५।
4. ऐतरेय ब्राह्मण ८/४।
5. तदेषाऽभि यज्ञगाथा गीयते। एतां गाथा दर्शयति। तत्र प्रथम श्लोकमाह।

   —ऐतरेय ब्राह्मण ३।१।७।

   —वही २।१।९।

6. मैत्रायिणी संहिता ।३।७।३।

है ।[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र में सीमंतोन्नयन के अवसर पर गाथा गाने का वर्णन प्राप्त होता है ।[2]

इस प्रकार गीतों के विकास की परम्परा में हम देखते हैं कि लोकगीत का सर्वप्रथम ऐतिहासिक रूप गाथा ही था। वैदिककाल में गाथाओं के मुख्य दो रूप लक्षित हुए—

(१) ऐतिहासिक—राजसूय यज्ञादि के अवसर पर गाई जाने वाली गाथाएँ।
(२) देव विषयक—विभिन्न संस्कारों के अवसर पर मंगल हेतु गाई जाने वाली गाथाएँ।

पालि भाषा में उपलब्ध जातकों से उपर्युक्त धारणा की पुष्टि हो जाती है। पालि जातकों में निबद्ध गाथाएँ अत्यन्त प्राचीन हैं जिनमें तत्कालीन लौकिक कहानियों एवं घटनाओं का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित कथाएँ जो जातक कहलाती हैं—गाथाओं के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुई हैं। पालि के प्रसिद्ध सिंहचर्म जातक में सिंह की खाल ओढ़ कर खेतों में धान-जौ खाने वाले गधे की कथा है। किसान के रूप में उपस्थित बोधिसत्व (गौतम बुद्ध) गधे की आवाज पहचान कर इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए प्रथम गाथा कहते हैं। यहीं पर द्वितीय गाथा गधे के स्वामी—एक बनिये—के द्वारा कही गई है।[3] प्राकृत काल में लोकगीतों का प्रबल विकास लक्षित होता है। हाल की 'गाथा सप्तशती' में संगृहीत सात सौ गाथाएँ उसका प्रमाण हैं। एक गाथा में विरहिणी नायिका की मनःस्थिति का अत्यन्त सुन्दर निरूपण किया गया है, जब वह प्रियतम के परदेश गमन के पश्चात् दिवस गणना के लिये आतुर होकर प्रथम दिवस के अर्द्ध भाग में

---

1. अथ गाथां गायति ।
   सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनी वती ।
   या त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः ॥
   यस्यां भूतं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत् ।
   तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥
   —पा० गृ० काँड १, कंडिका ७ ।
2. तौ वीणा गाथां गायतः—
   सोमो नो राजाऽवतु मानुषी
   प्रजा निविष्ट चक्रासौ । —आ० गृ० सू० १।१५ ।
3. बोधिसत्तो पठमं गाथमाह—
   नेतं सीहस्स नदितं न व्यग्घस्स न दीपिनो ।
   पारुतो सीहचम्मेन जम्मो नदति गद्रभो ति ॥
   —पालि जातकावलि : पृ० १७, बटुकनाथ शर्मा ।
   अथ सो वणिजो आगन्त्वा तं ब्यसनप्पत्तं गद्रभं दिस्वा दुतियं गाथमाह—
   चिरं पि खो तं खादेय्य गद्रभो हरितं यवं ।
   पारुतो सीहचम्मेन रवमानो च दूसयी ति ॥ वही

हो, 'आज गया है' आज गया है' सोच-सोच कर सम्पूर्ण दीवाल को लकीरों से भर देती है।[1]

वैदिक युग के पश्चात् महाकाव्य एवं पौराणिक युग में भी लोकगीतों की विकास-परम्परा दिखाई देती है। वाल्मीकि-रामायण में राम-जन्म के शुभ अवसर पर गन्धर्वों द्वारा गायन एवं अप्सराओं द्वारा नृत्य करने का उल्लेख किया है।[2] इसी विकास क्रम का परिचय वेदव्यास जी कृत श्रीमद्भागवत में प्राप्त होता है। वहाँ कृष्ण-जन्म के पावन अवसर पर स्त्रियों द्वारा मिल कर गाए जाने वाले गीतों का उल्लेख किया गया है।[3] महाकवि कालिदास ने अज के जन्मोत्सव के अवसर पर राजा दिलीप के राजमहल में वेश्याओं द्वारा नृत्य एवं गायन-वाद्य प्रस्तुत करने का वर्णन किया है।[4] संस्कृत की प्रसिद्ध कवयित्री 'विज्जिका' ने धान कूटने वाली स्त्रियों के द्वारा गाए जाने वाले गीत का अत्यन्त मनोहर एवं सरस रूप में वर्णन किया है। स्त्रियाँ धान कूट रही हैं साथ ही गीत भी गाती जा रही हैं। मूसल उठाने एवं गिराने के साथ उनकी चूड़ियों से झंकार उठ रही है। श्रम-प्रयास के कारण उनका अंग-अंग गतिशील हो उठा है। गीतों के स्वर चूड़ियों की झंकार से मिल कर अनुपम आनन्द की सृष्टि कर रहे हैं।[5] इसी प्रकार महाकवि श्री हर्ष ने चक्की चलाती हुई स्त्रियों का उल्लेख किया है। स्त्रियाँ सत्तू पीस रही हैं जिसकी सुगन्ध पथिकों को आकृष्ट कर लेती है।[6] चक्की चलाते समय स्त्रियाँ गीत गाती हैं।

---

1. अज्ज गओत्ति, अज्जं गओत्ति, अज्ज गओत्ति गणिरीए,
पढम च्चिय दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित्तलिओ ॥
—गाथा सप्तशती, ३।८ अमरक।

2. जगु कलं च गन्धर्वाः ननृतुश्चाप्सरो गणाः।
देव दुन्दुभयो नेदुः पुष्प वृष्टिश्च खात्पतत् ॥
—वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड।१८।१६

3. कदाचिदौत्थानिक कौतुकाप्लवे जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम्।
वादित्र गीत द्विज मन्त्रवाच कैश्चकार सूनोरभिषेचनं सती ॥
—श्रीमद्भागवत, दशम् स्कन्ध।

4. सुख श्रवा मंगलतूर्य निस्वनाः
प्रमोद नृत्यैः सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः
पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥ —रघुवंश, ३।१९।

5. विलासमसृणोल्लसन्मुसल लोलदोः कन्दली—
परस्पर परिस्खलद्वलयनिः स्वनोद् बन्धुराः।
लसन्ति कलहुंकृति प्रसभकम्पितोरः स्थल,
त्रुटद्गमक संकुलाः कलमकण्डनी गीतयः ॥
—हि० सा० का बृहद् इतिहास, भाग १६, पृ० २०, से उद्धृत।

6. प्रतिहट्टपथे घरट्टजात्
पथिकाह्वानद-सक्तु सौरभैः।
कलहान् घनान् यदुत्थितात्
अधुनाप्युज्झति घर्घरस्वनः ॥ —नैषधीय चरित, सर्ग २, श्लोक ८५।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस में अनेक अवसरों पर स्त्रियों द्वारा मंगल गान करने का उल्लेख किया है। राम-जन्म, सीता का गौरी-पूजन, सीता-स्वयंवर सीता-राम-विवाह इत्यादि समस्त अवसरों पर स्त्रियाँ सुमधुर गीतों का गायन करती हैं। तुलसीदास जी ने लोकगीतों की व्यापक महत्ता का प्रदर्शन किया है। उनके काव्य में कोई भी गायन-प्रधान गीतों की सुधा-धारा से आप्लावित हुए बिना नहीं रहता है।[1] राम-विवाह के अवसर पर बारात को भोजन कराते समय स्त्रियों द्वारा जेवनार तथा गारी गाने का उल्लेख भी उन्होंने किया है।[2] गारी गाने की प्रथा हिन्दू समाज में अभी तक चली आ रही है। अपने काव्य में तुलसीदास जी ने लोक रीतियों का वास्तविक चित्रण उपस्थित किया है। लोक-रीतियों के सम्यक् निरूपण के समय लोकगीतों को अत्यधिक महत्त्व देना स्वाभाविक ही था। सोहर छन्द में उन्होंने 'रामलला नहछू' पुस्तक की रचना की है।[3] 'जानकी मंगल' एवं 'पार्वती मंगल' में सम्पन्न वैवाहिक रीतियों एवं विधियों सहित क्रमशः राम-सीता एवं शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। इनमें रीति के अनुकूल गीत गाए जाने का सर्वत्र उल्लेख प्राप्त होता है।[5] राजस्थान में 'ढोला मारूरा दूहा' एक लोक गीतात्मक काव्य है। जगनिक का आल्ह खण्ड भी लोक-गीत की प्रवृत्तियों का प्रतीक है। अपने मौलिक रूप में यह जैसा भी रहा हो लोक कण्ठ से निःसृत होकर यह लोकगीत की परम्परा में आ गया है।

आधुनिक काल की काव्य चेतना में, प्रचलित लोकगीत परम्परा की छाप स्पष्ट अंकित हो उठी है।[6] लोक-जीवन के प्रति मानव-मन की आस्था के परिणाम-स्वरूप अनेक अनभूत तथ्यों का उद्घाटन हो रहा है।

---

1. राम जन्म—वृन्द-वृन्द मिलि चली लोगाई।
   सहज शृंगार किये उठि धाई॥
   कनक कलस मंगल भरि थारा।
   गावत पैठहिं भूप दुआरा॥
   गौरी पूजन—संग सखी सब सुभग सयानी।
   गावहिं गीत मनोहर बानी॥
   सीता-स्वयंवर—चली संग ले सखी सयानी।
   गावत गीत मनोहर बानी॥
   सीता-राम-विवाह—गावहिं सुन्दर मंगल गीता।
   लै लै नामु रामु अरु सीता॥—रामचरितमानस, बालकाण्ड।
2. जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी।
   लै लै नाम पुरुष अरु नारी॥ —बालकाण्ड।
3. नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
   देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥ —रामलला नहछू।
4. चतुर नारि बर कुँवरिहि रीति सिखावहिं।
   देहिं गारि लहकौरि समौ सुख पावहिं॥ —जानकीमंगल।
5. करहिं सुमंगल गान सुघर सहनाइन्ह।
   जेंइ चले हरि दुहिन सहित सुर भाइन्ह॥ —पार्वतीमंगल।
6. ये कई कोस पैदल चल कर, दहँकी के स्वर में स्वर भर कर। 'ग्राम्या', पन्त।

लोकगीतों की विभिन्न कोटियाँ

लोकगीतों का रूपात्मक श्रेणी विभाजन एक कठिन समस्या है। किसी एक सामान्य दृष्टि से इस समस्या पर विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोक-गीतों का जन्म किसी एक अभिप्राय की प्रेरणा से नहीं हुआ। जीवन की समस्त सूक्ष्म एवं जटिल क्रिया-प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति लोकगीतों में हुई है, अतः उनको श्रेणी-बद्ध करने की चेष्टा के साथ जीवन की समस्त भाव प्रेरणाओं एवं क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ उनका सामंजस्य समझना आवश्यक होगा।

लोक-साहित्य के अनुसंधायकों ने जीवन के विभिन्न अंगों के साथ लोक-गीतों का सम्बन्ध निर्दिष्ट करते हुए, अपने-अपने ढंग से उन्हें वर्गीकृत करने का उपक्रम किया है। यह सर्वथा सत्य है कि लोकगीतों की चिर प्रवाहमयी विकास परम्परा को वर्गों की सीमा में घेर कर रखना सम्भव नहीं है। इसलिये अभी तक लोक-गीतों का ऐसा कोई वर्गीकरण उपलब्ध नहीं हो सका है जो उनके सम्यक् मूल्यांकन के लिये सुनिश्चित एवं पूर्ण हो। फिर भी व्यावहारिक अध्ययन एवं अनुशीलन की सुविधा के लिये लोकगीतों को वर्गों में निबद्ध करना आवश्यक है।

लोकगीतों के विविध रूपों के निर्धारण के पूर्व, यहाँ पर, विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों पर प्रकाश डालना उपयुक्त होगा। हिन्दी लोक-साहित्य के प्रथम चेता पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लोक-गीतों का निम्नांकित रूप से वर्गीकरण उपस्थित किया है[1]—

(१) संस्कार सम्बन्धी गीत।
(२) चक्की और चरखे के गीत।
(३) धर्म-गीत।
(४) ऋतु सम्बन्धी गीत।
(५) खेती के गीत।
(६) भिखमंगों के गीत।
(७) मेले के गीत।
(८) जाति गीत।
(९) वीरगाथा।
(१०) गीत-कथा।
(११) अनुभव के वचन।

त्रिपाठी जी के वर्ग-विभाजन में वैज्ञानिकता का अभाव लक्षित होता है। उसका कारण यह है कि उनका उद्देश्य किसी पूर्ण वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक वर्गीकरण की खोज न होकर संग्रह-सुविधानुसार नाम भेद के आधार पर गीतों की गणना करना था। इसीलिये उनके द्वारा प्रस्तुत इस वर्गीकरण में अनेक त्रुटियाँ प्रतीत होती हैं। भिन्न-भिन्न वर्गों के गीत प्रायः एक ही वर्ग में सम्मिलित किये जा सकते हैं। खेती, भिखमंगों और मेले के गीतों को पृथक् श्रेणियों में रखना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार वीरगाथा एवं गीतकथा की एक ही श्रेणी हो सकती है।

1. कविता-कौमुदी, भाग ५, पृ० ४५।

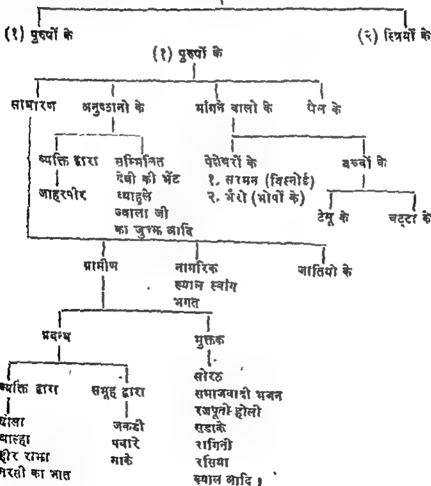
राजस्थानी लोकगीतों के यशस्वी संग्रह-कर्ता श्री सूर्यकरणजी पारीक ने भी लोक गीतो का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसमे अध्ययन की दृष्टि से विचार नही किया गया है बल्कि त्रिपाठी जी की भाँति नाम भेदात्मक प्रणाली ही अपनाई गई है।[1]

(१) देवी देवताओं और पितरो के गीत।
(२) ऋतुओं के गीत।
(३) तीर्थों के गीत।
(४) व्रत-उपवास और त्योहारों के गीत।
(५) संस्कारो के गीत।
(६) विवाह के गीत।
(७) भाई-बहन के प्रेम के गीत।
(८) माली-मालिनयो (मरहम) रा गीत।
(९) पति-पत्नी के प्रेम के गीत।
(१०) पणिहारियों के गीत।
(११) प्रेम के गीत।
(१२) चक्की पीसते समय के गीत।
(१३) बालिकाओ के गीत।
(१४) चरखे के गीत।
(१५) प्रभाती गीत।
(१६) हरजस-राधा-कृष्ण के प्रेम के गीत।
(१७) धमाले-होली के अवसर पर पुरुषों द्वारा गेय गीत।
(१८) देशप्रेम के गीत।
(१९) राजकीय गीत।
(२०) राजदरबार, मजलिस, शिकार, दारू के गीत।
(२१) जम्मे के गीत (वीरों, सिद्ध पुरुषो, महात्माओ की स्मृति मे रखे गए जागरण को 'जम्मा' कहते हैं।)
(२२) सिद्ध पुरुषो के गीत।
(२३) क—वीरो के गीत।
ख—ऐतिहासिक गीत।
(२४) क—ग्वालो के गीत।
ख—हास्यरस के गीत।
(२५) पशु-पक्षी सम्बन्धी गीत।
(२६) शान्त रस के गीत।
(२७) गाँवो के गीत (ग्राम्य-गीत)
(२८) नाट्य गीत।
(२९) विविध।

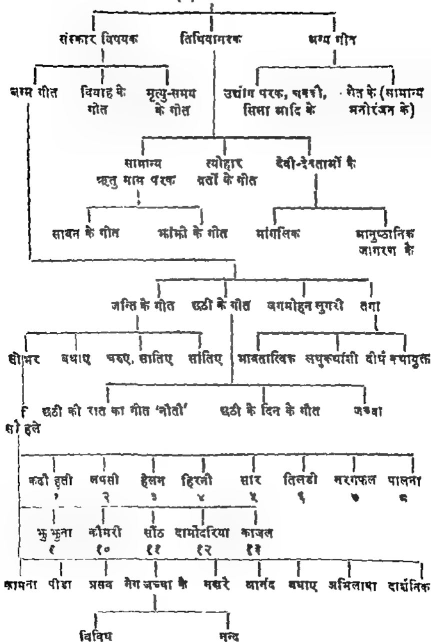
1. सूर्यकरण पारीक 'राजस्थानी लोकगीत' पृ० २२-२५।

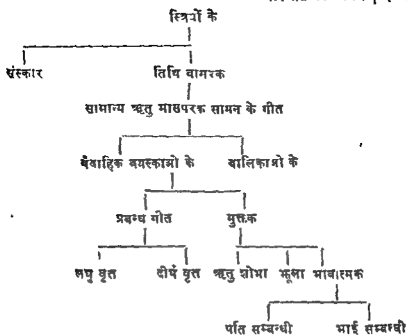
पारीख जी के वर्गीकरण में भी क्रमबद्धता का अभाव है। उन्होंने हास्य, शृंगार तथा रस को पृथक्-पृथक् तीन श्रेणियों में रखते हुए गीतों का विभाजन किया है, जबकि उन्हें एक श्रेणी में ही रखा जा सकता था। इसी प्रकार भाई-बहन तथा पति-पत्नी के गीत भी एक श्रेणी में निबद्ध किये जा सकते थे।[1]

हिन्दी प्रदेश की एक भाषा—ब्रजभाषा के लोक-साहित्य के प्रथम अध्येता डा० सत्येन्द्र के द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण पर भी विचार करना अपेक्षित है। उन्होंने लोक-गीतों का रूप-विभाजन इस प्रकार किया है—



1. डा० कृष्णदेव उपाध्याय लोकसाहित्य का अध्ययन पृ० १२६।


(२) स्त्रियों के
संस्कार विषयक
तिथिव्रतपरक
अन्य गीत
जन्म गीत
विवाह के गीत
मृत्यु-समय के गीत
उद्योग परक, चक्की, सिला आदि के
खेल के (सामान्य मनोरंजन के)
सामान्य ऋतु मास परक
त्योहार व्रतों के गीत
देवी-देवताओं के
सावन के गीत
झांझी के गीत
मांगलिक
आनुष्ठानिक जागरण के
जन्ति के गीत
छठी के गीत
जगमोहन लुगरी
तगा
सोभर
बधाए
चरुए, सातिए
सातिए
भावतात्विक
लघुकथांशी
दीर्घ कथायुक्त
छठी की रात का गीत 'नौती'
छठी के दिन के गीत
जच्चा
सोहले
कढी हुती १
नपसी २
हेलम ३
हिरनी ४
सार ५
तिलडी ६
मरगफल ७
पालना ८
झुनझुना ९
कौमरी १०
सोंठ ११
दामोदरिया १२
काजल १३
कामना
पीडा
प्रसव
वेग
जच्चा के मखरे
आनंद
बधाए
अभिलाषा
दार्शनिक
विविध
मन्द



उन्होंने इन गीतों के अतिरिक्त कुछ अन्य गीतों का वर्गीकरण भी उपस्थित किया है—

- गीत
  - बालकों के गीत
    - खेल के
      - टेसू के, झाँझी के
      - घट्टा के
    - लोरियाँ
  - अवसरोपयोगी
    - तीर्थ यात्रा के
      - साधारण
      - ब्रज के विशेष स्थान की यात्रा
    - होली के
      - होली
        - ब्रज की होली
        - रजपूती होली
      - रसिया
    - किसान के
      - पुर लेने के
      - सिला बीनने के
  - साधारण
    - लघु कथानक
    - ज्ञान-उपदेश
    - रसिकता के

देव (११) पण्डत मेहतर (१२) जाहरा पीर (१३) बलख (१४) होली के गूजरों के गीत (१५) कन्हैया (१६) (सारण) सदा वृक्ष (१७) गोरा बादल (१८) बुलाकीदास (१९) घासीराम पटेल (२०) बापू जी के गीत (२१) राजा केवट (२२) ओझाजी (२३) तेजाजी (२४) गोराजी (२५) मेरू जी।

(४) विविध

(१) खेती की कहावतें (२) ऊख की फसल खत्म होने के गीत (३) वारी पूजने के गीत (४) जात व चक्की के गीत (५) लावनी (६) रसिया (७) ख्याल (८) छन्दरा (९) दोहे-साखी (१०) सोरठे (११) सवैये (१२) भजन (१३) कवित्त (१४) सिन्धु (१५) धोता।

लोकगीतों का विषयानुसार वर्गीकरण अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही विषय की सीमा के अन्तर्गत समाविष्ट है। अतः उपर्युक्त सूचियाँ, सूक्ष्मता से देखने पर, अपूर्ण प्रतीत होती हैं। डा० श्याम परमार के वर्गीकरण में भी वैज्ञानिकता का अभाव लक्षित हो रहा है। उनके वर्गीकरण में (२) और (३) वर्गों को एक वर्ग में ही सम्मिलित होना चाहिए था। संस्कार एवं प्रथाओं के अंतर्गत ही धार्मिक दृष्टिकोण समाविष्ट हो जाता है। रसानुभूति के आधार पर किसी पृथक् वर्ग की रचना भी ठीक नहीं है, क्योंकि रस की सत्ता तो समस्त लोकगीतों में व्याप्त है।[1]

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने भी लोकगीतों के वर्गीकरण पर विचार किया है। किंचित् संशोधन के साथ उनके द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण डा० श्याम परमार के वर्गीकरण से साम्य रखता है। उपाध्याय जी के द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण का स्वरूप यह है—

(१) संस्कारों की दृष्टि से
(२) रसानुभूति की प्रणाली से
(३) ऋतुओं और व्रतों के क्रम से
(४) विभिन्न जातियों के प्रकार से
(५) क्रिया गीत की दृष्टि से

उपर्युक्त वर्गीकरण में भी कतिपय त्रुटियाँ प्राप्त होती हैं। डा० सत्येन्द्र ने इन त्रुटियों का निर्देश करते हुए कहा है कि किसी भी वैज्ञानिक वर्गीकरण का एक ही आधार होना चाहिए। संस्कार गीत और जातीय गीतों का वर्ग भेद समुचित नहीं है, क्योंकि उन विशेष जातियों में भी संस्कार प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार क्रिया गीत और संस्कार गीत को पृथक् रखना भी त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि संस्कार भी एक प्रकार की क्रियाएं ही हैं। ऋतुओं और व्रतों का भी एक वर्ग अपेक्षित है।[2]

डा० सत्येन्द्र ने उपयोगिता के आधार पर गीतों के मूलतः दो प्रकारों का उल्लेख किया है[3]—

---

1. डा० सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ४०६।
2. वही, पृ० ४१३।
3. वही।

चतुर्थ अध्याय

भोजपुरी और अवधी बोलियों के लोकगीत

- संस्कार-गीत
- जन्म-संस्कार सम्बन्धी गीत
- यज्ञोपवीत संस्कार सम्बन्धी गीत
- विवाह संस्कार सम्बन्धी गीत
- मृत्यु संस्कार सम्बन्धी गीत
- ऋतु सम्बन्धी गीत
- व्रत एवं उपासना सम्बन्धी गीत
- जाति सम्बन्धी गीत
- विविध गीत
- जात के गीत
- मेले के गीत
- झूमर
- पूरबी
- अलचारी
- खेल के गीत

४ भोजपुरी और अवधी बोलियों के लोकगीत

जन्म-संस्कार

सोहर

हिन्दू परिवारों में पुत्र-जन्म एक हर्षोत्पादक घटना है। हर्ष के इस अवसर पर गाये जाने वाले मंगल-गीत 'सोहर' संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं। कहीं-कहीं इन्हें 'सोहिलो' भी कहते हैं।

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत सन्तानोत्पत्ति एक पुण्य कार्य है जो प्रत्येक दम्पती के लिये उसके लौकिक एवं पारलौकिक उद्धार के लिये आवश्यक है। निस्संतान व्यक्ति का कभी उद्धार नहीं होता। वह संसार के बन्धनों से ग्रस्त रहता है। इसलिये हिन्दू-समाज में बन्ध्या स्त्री एवं निरवंशी पुरुष की अवहेलना की गई है।

सन्तान में भी कन्या की अपेक्षा पुत्र का महत्व अधिक है। कन्या को पराया धन समझा जाता है। कन्या विवाहोपरान्त पराये कुल की शोभा बढ़ाती है। दूसरे, हिन्दू समाज में कन्या-जन्म के अवसर पर भावी संकटों की कल्पना करके हृदय से प्रसन्नता के भावों का लोप हो जाता है। यही कारण है कि पुत्र-जन्म होने पर परिवार में पुलक छा जाता है, विविध प्रकार के समारोह सम्पन्न होते हैं। परन्तु कन्या जन्म होने पर इन सबकी आवश्यकता नहीं समझी जाती है। मंगल गीतों का गायन भी पुत्र-जन्म के अवसर पर आवश्यक समझा जाता है। परिवार तथा पड़ोस की स्त्रियाँ एकत्रित होकर पुत्र जन्म के पश्चात् छह दिनों तक अथवा बारह दिनों तक सोहर गाती हैं। 'सोहर' विशेष रूप से स्त्रियों द्वारा ही गाये जाते हैं और इनके निर्माण में भी स्त्रियों का ही प्रयास निहित है। सोहर-गीतों में विविध प्रकार के मनोभावों, घटनाओं, क्रियाओं का समावेश है जो स्त्री-मस्तिष्क की भाव प्रवणता एवं विचार विदग्धता का परिचायक है। जन्मोत्सव सम्बन्धी गीत होने के कारण सोहर में शृंगार एवं हास्य रस की प्रधानता रहती है परन्तु करुण रस का भी एक मर्मस्पर्शी सरस प्रवाह वहाँ दृष्टिगोचर होता है।

सोहर का प्रचलन भोजपुरी एवं अवधी प्रदेशों में समान रूप से है। भावनाओं की समता भी, दोनों प्रकार के गीतों में परिलक्षित होती है।[1] सोहर गीतों में सरसता

1. उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों में और बिहार में जो सोहर गाये जाते हैं उनमें बहुत ही कम अन्तर मिलता है।—रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौ०, भाग ३ पृ० १७३।

का अद्भुत समावेश होता है। भोजपुरी और अवधी दोनों प्रकार के सोहरों में नारी-हृदय की विविध-रूपा भावनाओं की सुन्दर व्यंजना उपलब्ध होती है। संतान प्राप्ति के सम्बन्ध में समान सिद्धान्तों का निरूपण दोनों प्रदेशों में प्राप्त होता है। सन्तान की कामना प्रत्येक स्त्री-पुरुष के हृदय में समान वेग से उद्भूत होती है, भले ही वह किसी प्रदेश का हो। स्थान-वैभिन्य से हृदय के मूलभूत भावों में कोई अन्तर नहीं आता। नारी-जीवन की चरम सार्थकता मातृत्व पद-प्राप्ति में ही मानी गई है। जब तक कोई स्त्री माँ नहीं बनती तब तक उसका जीवन अपूर्ण है। सन्तानोत्पत्ति सृष्टि के विकास का अद्भुत रहस्य है। स्त्री-पुरुष इस विकास के मूल साधन हैं। सन्तानाभाव एवं सन्तानोत्पत्ति की असमर्थता स्त्री-पुरुष की भीषण असफलता है। भारत के प्राचीन शास्त्रों में भी स्त्री-पुरुष के उस गौरवमय कृत्य को धार्मिक क्रिया-कलाप का रूप प्रदान किया गया है। प्रजनन-कार्य युक्त स्त्री की तुलना श्री से की गई है और उसे महाभाग्यशालिनी तथा पूज्य कहा गया है।[1]

"प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृह दीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्चगेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥"

लोकगीतों में भी हिन्दू-धर्म संस्कृति की उपर्युक्त भावनाओं का पूर्ण समावेश लक्षित होता है। लोकजीवन में व्याप्त समाग्य सिद्धान्त ही लोकवाणी में उद्भूत होकर गीतों का रूप लेते हैं। सोहर गीतों में हिन्दू-धर्म के सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी विचारों का निरूपण प्रकट हुआ है। सामान्य जन-समुदाय के अन्तर्गत धार्मिक विश्वासों की अखण्ड सत्ता व्याप्त है। पुत्रोत्पत्ति के लिये स्त्रियाँ अनेक देवी-देवताओं की प्रार्थना-उपासना करने का उपक्रम करती हैं। हृदय की सच्चाई के साथ अर्पित पूजा-भावना से इष्टदेव प्रसन्न होकर वांछित फल प्रदान करते हैं।

एक भोजपुरी गीत में पुत्र-कामना से व्याकुल स्त्री गंगा-स्नान का नियम पालन करती हुई, गंगा की कृपा द्वारा सन्तान प्राप्त करना चाहती है—

गंगा के ऊँच आरारवा[2] चढ़त डर लागेला[3] हो।
ताही चढ़ि कौसिला नहाली मुकुती[4] बनावेली हो॥१॥
हँसि के जे बोलेली गंगाजी, सुन ए कौसिला रानी हो।
ए कौसिला कवन संकट तोहरा परले[5] मुकुती बनावेलु हो॥२॥
सोनवा ए गंगा जी ढेर आटे, रूपवा[6] के पूछेला हो।
मोरा रे सनततिया[7] के साध[8] सनतति हम चाहिले[9] हो॥३॥

—भो० लो० गी०, पृ० १११।

1. मनुस्मृति।
2. किनारा।
3. लगता है।
4. मुक्ति।
5. पड़ा है।
6. रूपा।
7. सन्तान।
8. इच्छा।
9. चाहता है।

कौशल्या रानी पुत्रेच्छायुक्त सामान्य नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं। अथाह धन-राशि उपस्थित होने पर भी पुत्राभाव की वेदना हृदय में प्रज्वलित है। सन्तान के अभाव में संसार के समस्त सुख साधन व्यर्थ हैं।

इसी प्रकार की मनोभावना अवधी लोकगीतों में भी उपलब्ध होती है—

गंगा जमुनवा के बिचवां[1] तेवइया[2] एक तपु करइ हो।
गंगा ! अपनी लहर हमें देतिउ में झांझाधर डूबित हो ॥१॥
की तोहि सासु ससुर दुख कि नैहर दूरि बसै हो।
तेवई ! की तोरे हरि परदेस कवन दुख डूबउ हो ॥२॥
ना मोर सासु ससुर दुख नाहीं नैहर दूरि बसै हो।
गंगा ! ना मोर हरि परदेस कोखि दुख डूबब हो ॥३॥
जाहु तेवइया घर अपने हम न लहर देवइ हो।
तेवई ! जाजु के नवएँ महिनवां होरिल तोरे होइहैं हो ॥४॥
गंगा ! नहबरि[3] पियरी चढ़उबै होरिल जब होइहैं हो।
गंगा ! बेहु भगीरथ पूत जगत जसु गावइ हो ॥५॥ (क० कौ०) पृ० १७४।

गंगा-तट पर तपस्या करने वाली स्त्री को केवल एक ही दुःख है, वह है पुत्र का अभाव। गंगा मैया उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर पुत्र-लाभ का वरदान देती है।

विवाह सृष्टि के विकास का एक धार्मिक साधन है, वासनाओं की पूर्ति का माध्यम नहीं। लोकगीतों में भी इस आदर्श की पुष्टि प्राप्त होती है। एक भोजपुरी गीत में स्त्री-पुरुष की अवतारणा सीता और राम के रूप में हुई है, जो विवाह के उच्चतम आदर्श को प्रकट करते हैं। स्त्री-पुरुष का मिलन एक पावन उद्देश्य से पूर्ण होता है। सृजन की पवित्र अभिलाषाओं से अभिभूत होकर ही दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। प्रस्तुत गीत में दम्पती के उत्कृष्ट स्वरूप का निरूपण लक्षित होता है—

सोरहो सिंगार सीता कइलीं अटरिया चढ़ि गइलिन हो।
रघुनन्दन की डासल[4] सेजिया सिरहाने ठाढ भइलिनि हो ॥१॥
पलक उघारि राम चितवें अभरन[5] देखि भरमेले[6] हो।
सीता कवन जहर तोहरा लागेला ? एतनि राति आवेलु हो ॥२॥
काहे लागि कइलू सिंगार ? काहे रे लागि अभरन हो।
सीता काहे लागि चढ़लिउ अटरिया ? देखत डर लागेला हो ॥३॥
रउरे लागि कइलीं सिंगरवा, रउरे लागि अभरन हो।
राजा रउरे तीन लोक क ठाकुर, भेंट करे अइलींनु हो ॥४॥

1. बीच में।
2. स्त्री।
3. चटक रंग की।
4. बिछी हुई।
5. आभूषण।
6. भ्रम में पड़ना।

तू हूँतो न लोक के ठाकुर तोहे देखि जग डरे हो ।
राजा तिरिया अतप सुकुमारि, सेजरिया देखि भरमेली हो ॥५॥
नइहरें ना आटै बीरन भइया, ससुरे ना देवर हो ।
राजा मोरे गोदिया ना जनमत असकवा, अहंक[1] कैसे पुजइह हो ॥६॥
लाल पियर ना पहिरलों, चउक ना बइठलीउ हो ।
सीता के ढ़ुरेला नयनवा नीर पटुक्वे राम पोछेले हो ॥७॥
लाल पिअर पहिराइबि सउक बइठाइबि हो ।
रानी तोरा के रासबि पगिया पेच[2] नयनवां ■ भीतर हो ॥८॥

—भो० लो० में करुण रस पृ० २३ ।

यहाँ पुत्र-कामना से आकुल नारी-हृदय का सुन्दर चित्रण किया गया है। पति के समक्ष पत्नी अपने आकुल हृदय की व्यथित कामना को कितनी सरलता से प्रकट कर देती है। और उसकी आँखों के निच्छल आँसुओं से द्रवित होकर पति उसकी मनोकामना को पूर्ण करने का कितना सबल आश्वासन देता है। पति-पत्नी का पारस्परिक अनुराग भाव अपने उच्च स्वरूप में उपलब्ध होता है।

अवधी लोकगीतों की नायिका भी पुत्र-कामना की सात्विकता से भर कर पति के निकट जाती है, परन्तु यहाँ पर पति का स्वरूप भोजपुरी के गीत के पति के समान उदार एवं सहृदय नहीं है। वह अपनी पत्नी के कोमल हृदय पर व्यंग्यात्मक शब्दों के द्वारा आघात करता है। नारी-हृदय कठोर भर्त्सना को सहन नहीं कर पाता। पति स्त्री का सर्वस्व है, उसके सुख-दुख का सहभागी है, जीवन के पथ का सहचर है। पुत्राभाव की वेदना केवल स्त्री की वेदना नहीं है, पुरुष का पितृत्व भी कुण्ठित होता है। कष्टमयी स्थिति में दोनों को एक दूसरे के प्रति सहानुभूति का भाव रखना चाहिए। परन्तु अधिकांश पति निस्सन्तान होने का दोष पत्नी पर आरोपित करते हैं और स्वयं उस दोष से सर्वथा दूर रहने का प्रयास करते हैं। यद्यपि इस प्रकार की विचारधारा प्रभुत्वशील पतियों को अपनी सेविका रूपिणी पत्नियों के प्रति रही है, जो आगे चलकर उनके स्वभाव का एक अंग ही बन गई। प्रस्तुत गीत में नारी-हृदय की वेदना का स्पष्ट चित्रण है, साथ ही हिन्दू-समाज में अधिकांश दम्पतियों का अशान्ति पूर्ण पारस्परिक व्यवहार भी प्रकट होता है—

पानु ऐसी पतरी बहुरिया, कुसुम रंग सुन्दरि रे ।
सुन्दरि चढ़ गई पिया की अटरिया, सोवहि सुख निदिया रे ।
सोइ सोइ जब जागी पलंग चढ़ि बैठो रे ।
राजा छाँडि देउ अंचरा हमार घरे हम जइबे रे ॥२॥
की तोरी सासु बोलावहि, कि ननद जगावें रे ।
सुन्दरि की तोरे बारे होरिलवा, जिनहि लई बैठो ॥३॥
न मोरी सासु बोलावें, न ननद जगावें रे ।
न मोरी बारे होरिलवा, जिनहि लइ बैठो रे ॥४॥

---

1. मनोकामना ।
2. पगड़ी की तह ।

महल से उतरी बहुरिया, आंगन बिच ठाढ़ी रे ।
द्वारे ते आए देवर राजा, कस भौजी अनमनि रे ।।५।।
देवर हो मोरे देवर, तुमहि मोरे देवर रे ।
भइया तोरे बोले हैं बोल, कलेजे मोरे सालें, जनम नहि बिसरहि रे ।।६।।
भौजी हो मोरी भौजी तुमहि मोरी भौजी रे ।
भौजी उगत के सुरिज मनावो ललन तुम्हरे होइहै रे ।।७।।
आठ मास नौ लागत, ललन उव धरयो रे ।
एहो बाजन लागे आनन्द बधाव, गाव सखी सोहर रे ।।८।।
मैं बलि सासु ससुर केरा, अपने करम केरी रे ।
मैं बलि अपने देवर केरो, जिन हमें बुधि दीन्ही रे ।।९।।
(अ० लो० गो० और प० पृ० ३३।)

पति के ये व्यग्यात्मक शब्द—"गुन्दरि की तोरे बारे होरिलबा जिनहि लइ बैठी रे" हृदय में शूल की भाँति चुभने हैं। सन्तान हीना स्त्री सूर्य-उपासना के द्वारा जब पुत्र प्राप्त करती है तब सास-ससुर देवर और अपने भाग्य को तो सराहती है परन्तु पति के लिये कुछ भी नहीं कहती। पति के सम्बन्ध में उसकी वाणी पूर्णतः मौन होकर रह जाती है। हृदय में चुभा हुआ वह शूल उसके स्वाभिमान को जगा देता है। और अपने पति के दिये हुए संताप को स्मरण करके वह मौन ही रहती है।

जीवन की चरम सार्थकता को प्राप्त करने की आकांक्षा स्त्री-हृदय में निरन्तर रहती है। प्रत्येक नारी अपनी भावनाओं में माता होती है। सन्तानोत्पत्ति के पूर्व का यह भावात्मक मातृत्व रूप सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् क्रियात्मक मातृत्व रूप में परिणत हो जाता है। एक भोजपुरी गीत में, बारह वर्ष की विवाहित बालिका का भावपूरित मातृत्व रूप अपने परदेश जाते हुए पति के समक्ष उमड उठा है। पति-पत्नी रूप में राम और सीता का नाम आया है और परदेश-गमन की प्रतीकात्मक नियुक्ति वन-गमन के रूप में की गई है—

उठति रेख मसि भीनत राम मोरा बने गइले हो ।
मोर बारह बरिस कइ उमरिया मैं कइसे के बिताइबि हो ।।१।।
कोइ रामा तोहरे जे घरे रहे हो ? काइ रे बिदेस गइले हो ।
रामा, हसि के ना धइल अंचरवा, ना कबहूँ कोहनइल[1] नु हो ।।२।।
लाल चुनरि नाहि पहिरेलों पीअरि नाहो ढोरेलों हो ।
रामा कोंखि ना लीहलों ललनवा छठीओ नाहि पुजेलों हो ।।३।।
छोड़ले जाइले घर सोनवां महल मरु रुपवा नु हो ।
रामा छोड़िल जाइले देवरवा, पिया के संग रहलबि हो ।।४।।
(भो० लो० में करुण रस पृ० ५४।)

पति परदेश जा रहा है। पत्नी के साथ कभी उसने प्रेमपूर्ण क्रीड़ाएँ नहीं की, न कभी रोष ही व्यक्त किया। हृदय की समस्त कामनाएँ अतृप्त हैं। उसने कभी

1. क्रोध।

लाल चुनरी नही ओढ़ी, बालक को गोद मे नहीं लिया, छठी की पूजा नहीं की और अभी से पति-वियोग की दारुण वेदना आरम्भ हो रही है। इस समस्त कष्ट को अस्वीकार करके सम्पूर्ण सम्पत्ति और परिवार को छोड़ कर वह स्वयं भी पति के साथ ही जाना चाहती है।

इस प्रकार का गीत अवधी बोली मे भी प्राप्त होता है। शाब्दिक परिवर्तन के साथ दोनों गीत, पूर्णतः भाव-साम्य रखते हैं -

उठत रेख ससि भीजत राम बनं गये हो।
मोरी बरस बरिस कै उमरिया मैं कैसे बितइबइ हो ॥१॥
काहे राम तोहरे घरा रहे, काहे बिदेस गये हो।
रामा हंसि कै न धरेउ अचरवा न कबहूं बोहानेउ हो ॥२॥
कारी चुनरी नाहीं पहिरयों पियरी नाहीं छोरयो हो।
रामा कोरवा न ली हेउ बलकवा छठी नाहीं पूजेउ हो ॥३॥
छोड़े जाईब घर सोनवा महल भर रुपया हो।
रामा छोड़े प जाई सहुरा देवरवा पिया कै सग रहबइ हो।४॥

(क० गी० पृ० १६७।)

प्रेम और रोष—दोनो का प्रेमियो के जीवन मे महत्व होता है। इस गीत की नायिका दोनो प्रकार के व्यवहारों मे वंचित रही है। पति के समीप रहने पर भी उसकी आकांक्षाओ की पूर्ति नहीं हुई और अब वियोगावस्था आ रही है अत उसके मन मे असीम दु:ख है। कहा गया है—

ना हस कर के कर गहे ना रिस करके केस।
जैसे कन्ता घर रहे तैसे रहे बिदेस॥

मन म की अतृप्त कामनाएँ स्वप्नावस्था मे विचरण करती हैं। पुत्र प्राप्ति की अटूट अभिलाषा सुप्तावस्था मे स्वप्न-ससार मे पूर्ति का मार्ग ढूँढती है। स्वप्न की वस्तुएँ प्रतीकात्मक अर्थ रखती हैं। कुछ वस्तुएँ शुभ अर्थ सूचित करती हैं और कुछ अशुभ। लोकगीतों मे इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।

एक भोजपुरी गीत मे इस प्रकार का वर्णन है—

देवकी ले चलली असनान करे ओही रे जमुना दहे हो।
बहिनी ! एहि रे जमुना धसि भरतों त जनम अकारथ भइले हो ॥१॥
भइठि बुझावेली जसोदा रानी सुन बहिनी देवकी नु हो।
बहिनि ! कर बसुदेव के सेवा तोर जनम सवारथ होइहे हो ॥२॥
पहिले पहर राति गइले सपन एक देखे लो हों।
हरिअर बाँस करिअवा दुवारे भीर सामल हो ॥३॥
दुसरे पहर राति गइले सपन एक देखेली हो।
ए बहिनी ! घोर नदियवा में दहिया करोसन घइल हो ॥४॥
तीसर पहर राति गइले सपन एक देखेली हो।
बहिनी ! पाकल पान पेटार सिरह नवन धइल हो ॥५॥

चउथे पहर राति गइले सपन एक देखेली हो।
सांवर बरन रघुनन्दन पलंग पर पउढ़ेला हो ॥६॥
जे यह मंगल गावेला गाइ के सुनावेला हो।
से बैकुण्ठहि जाता सदा सुख पावेला हो ॥७॥
(भो० लो० गी० में करुण रस पृ० ६३।)

यमुना स्नान के लिये जाती हुई देवकी की यशोदा से भेंट होती है। पुत्राभाव में विकल देवकी यशोदा के समक्ष अपने निष्फल जीवन को यमुना में डूब कर नष्ट कर देने की इच्छा प्रकट करती हैं। यशोदा उन्हें समझा-बुझा कर शान्त करती हैं, और पति-सेवा का व्रत-पालन करने का परामर्श देती हैं, जो सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। सखी के आदेशानुसार कर्तव्य-पालन करने के उपरान्त देवकी ने एक रात्रि में चार प्रकार के स्वप्न देखे जो उसकी पुत्राभिलाषा की पूर्ति की पूर्व सूचना दे रहे थे। प्रथम प्रहर के स्वप्न में फला हुआ बाँस और द्वार पर भीड़ दिखाई दी, द्वितीय प्रहर के स्वप्न में नये कोरे पात्र में दही झरोखे पर रक्खा दिखाई दिया, तीसरे प्रहर के स्वप्न में सिरहाने इयठल लगा हुआ पान देखा और चतुर्थ प्रहर के स्वप्न में सांवले रंग का बालक पलंग पर लेटा दिखाई दिया। बाँस, दही, पान आदि पदार्थ शुभ कार्य-सिद्धि का संकेतात्मक अर्थ सूचित करते हैं।

इसी प्रकार की भावनाओं से संयुक्त एक अवधी गीत भी है—
पहिल सपन एक देखेउँ अपने मन्दिर में रे।
सासु सपने क करहु विचार सपन सुभ पावउँ रे ॥१॥
सपने ससुर राजा दसरथ बगिया लगावई रे।
सासु, बगिया में फूलइ गुलाब भंवर रस बिलसइ रे ॥२॥
सपने कौशल्ला ऐसी सास सो हमारे महल आई रे।
सासु सोने की बहेलिया लिए ठाढ़ि पुछैं बहुआ कहाँ धरउँ रे ॥३॥
सपने लखन अस देवर कमलिया पीठि भारे बिहँसि बतियाँ बोलइँ रे।
भौजी जो तोरे हुइहैं होरिलवा बछेड़वा हम लेवइ रे ॥४॥
सपने सुभद्रा ऐसी ननदी तो हमरे महल आईं, बिहँसि बतियाँ बोलइ रे।
भौजी जो तोरे होइहै होरिलवा, कंगन हम लेवइ रे ॥५॥
सपने पुरुष राजा राम अस हमरे महल आये रे।
सामी हंसत कमला दूनौ नैन सेजरिया पगु धारइ हो ॥६॥
(क० कौ० पृ० १६५।)

एक ग्राम-वधू अपनी सास के समक्ष रात्रि में देखे स्वप्नों को रख कर उनका अर्थ-विचार करने का आग्रह कर रही है। स्वप्न में राजा दशरथ के समान ससुर बाग लगाते हुए दिखाई दिये जहाँ गुलाब के खिले हुए फूलों पर रसातुर भ्रमर एकत्रित हैं। कौशल्या के समान सास हाथ में दही का पात्र लिये हुए आती है और बहू से उसे रखने का स्थान पूछती है। लक्ष्मण के समान देवर भतीजे के जन्मोत्सव पर बछड़ा माँग रहे हैं और सुभद्रा के समान ननद हाथ के कंगन की आकांक्षा करती है। राम के समान पति कमल-नयनों से सुमधुर हास्य सजाये शयन-कक्ष में प्रवेश करते हैं।

सम्पूर्ण गीत में नारी की पुत्राकांक्षा प्रबल रूप से चित्रण कर रही है। इस प्रकार के गीतों में ग्रामीण स्त्रियों की चिन्ता प्रकट होती है।

सन्तान के अभाव में नारी का जीवन शून्यता और अन्धकार से घिरा रहता है। इस अभाव और रिक्तता का अत्यन्त सुन्दर वर्णन एक भोजपुरी गीत में हुआ है—

सून लागे दिया बिनु मंदिर माँग सेनुर बिनु हो।
ललना ओइसन सून तिरिया गोद, से एक बालक बिनु हो ॥१॥
सून लागे महल अटरिया अवरु सेक धरतिया नु हो।
ललना नाहीं नीक लागे सुख भोग, से एक सन्तति बिनु हो ॥२॥
(भो० ग्रा० गी० पृ० ५।)

दीपक के बिना मन्दिर सूना है, सिन्दूर के बिना माँग सूनी है, उसी प्रकार शिशु के बिना स्त्री की गोद सूनी रहती है। एक सन्तान के अभाव में महल, सेजी धरती (सम्पत्ति) तथा सम्पूर्ण सुख-सामग्रियाँ व्यर्थ हैं।

अवधी लोकगीत के एक गीत में इसी प्रकार की रिक्तताओं का उदाहरण देते हुए सन्तान के अभाव की कष्टमयी स्थिति का निरूपण किया गया है—

एक सौ बगिया लगवलीं सवा सौ जामुन हो।
अहो रामा तबहूँ न बगिया सोहावन एक रे कोइलि बिनु ॥१॥
नइहर में पाँच भइया त सात भतीजा बाड़े हो।
अहो रामा तबहूँ न नइहर सोहावन, एक रे मयरिया बिनु ॥२॥
एक कोरा लिहलों मैं भइया दूसरे दूसरे कोरा भतीजा हो।
अहो रामा तबहूँ न गोदिया सोहावन, अपना बालक बिनु ॥३॥
पलंग पर सेजिया डसवलों त फूल छितरइलों हो।
अहो रामा तबहूँ न सेजिया सोहावन, एक बलम बिनु ॥४॥
(क० कौ० पृ० २९८।)

कोयल के बिना बाग सूना है, माता के बिना मायका सूना है। पुत्र के बिना गोद सूनी है और पति के बिना शय्या सूनी है।

दोनों गीतों में भावनाओं का उत्कर्ष पराकाष्ठा पर मुखरित है। गीतों में काव्यात्मक सौन्दर्य का दर्शन होता है।

सन्तान की कामना से व्यग्र एक दम्पती का अत्यन्त कारुणिक चित्रण एक भोजपुरी लोकगीत में प्राप्त होता है। पुत्र-प्राप्ति की चेष्टाओं में निष्फल होने पर निराश होकर दोनों योगी बन जाना चाहते हैं। विभिन्न तीर्थ-सेवन करते हुए अन्त में वे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के निकट पहुँच जाते हैं—

राजा दुआरे रनियवा त रनिया रोदन करे हो।
राजा! हम त जोगिन होइ जइबो त एके रे पुतर बिनु हो ॥१॥
जो तुहूँ रनिया रे! जोगिन होइबू, हमहूँ जोगिया होइजाइबि हो।
रनिया दुनो वन भभूति रमाइबि त तिरथ नहाइबि हो ॥२॥

गया नहइतों, गजाधर प्रछक देतों माथव हो।
राजा सभना निरखि हम कहली पुत्र नाहीं पाई ले हो ॥३॥
चारि पउरुख के पोखरवा त ताहि पर चनन गाछ हो।
आहो ताहि तर राम जी के आसन दरसन उरेहें ले हो ॥४॥
पोथिया त खुद राम ! खोलीले बोलन लागईं ले हो।
राम नगरे नगरिया में रतसन हमें नाहीं मिलईं ले हो ॥५॥
सगरे नगरिया ■ रतसन तोहरे करम गति हो।
रानी ! जे बहु लिखेलीं लिलार से हो रे कइसे मेटेला हो ॥६॥

(भो० लो० में करुण रस पृ० ५६।)

विधाता के समक्ष कातर होकर रानी अपने प्रति उपेक्षा का कारण पूछती है—'राम नगरे नगरिया में रतनजुन हमें नाहीं मिलई ले हो।' विधाता का उत्तर कठोरता की चरम पराकाष्ठा को स्पर्श कर रहा है—'जेहु लिखेला लिलार से हो रे कइसे मेटेला हो।' ललाट में जो कुछ लिखा है वह मिट नहीं सकता। ईश्वर की यह निर्ममता गीत के माध्यम से अपार करुणा बन कर हृदय को छू लेती है।

इसी प्रकार की भावनाओं से संयुक्त एक अवधी गीत है जिसमें दुःख और करुणा की यह लहर और अधिक गहरी हो उठी है—

खिड़की हीं बैठली रानी ■ राजा पुकारई हो।
रानी ! एक संतति बिना दुख होत हम होवें जोगी हो ॥१॥
जो तिहें ए राजा जोगी होब हमहूँ जोगिन होबै हो।
राजा नगर पइठ भीख मँगबै दुनउ जने माइब हो ॥२॥
एकाल पेड़ कदम का मोलियन करइहइ हो।
रामा तेही तर ठाढ़ भगवान त बालक उरेहइँ हो ॥३॥
राम हो राम पुकारो मा राम नाहीं बोलइँ हो।
राम हमरी कवन तकसिरिया त मुखवउ न बोलउ हो ॥४॥
धोउ के लिये राम कुछ घार बोझ के दस पाँच हो।
राम हमरी नगरिया काहे भुलाय त हमारी करम गति हो ॥५॥
रजवा हो रउऐ बहेलिया त रनिया टहेलिनि हो।
रामा केतनेक जियरा उड़ासे सतति नाहीं पइहइँ हो ॥६॥
सास ससुर नाहीं मनलू त ननदा बुकरैलेउ हो।
राजी जेठ क परछाहीं न चपलू न सुन्नें नरायन ॥७॥
सास ससुर हम मानब ननदा दुलारब हो।
राम जेठ क परछहियाँ बइठबैं समुझें परमेसर ॥८॥
मोरे बिहरवा पड़इया धेगि हो घोंत आवउ हो।
पइबै गढ़ि देउ काठे क बलकवा मैं जियरा बुझावउँ मन समुझावउँ हो ॥९॥
काठे क बलक गढ़ि दिहलं अगलं घरी रिपलइँ हो।
बाबुल मोरे अंगने रोय न सुनावउँ कभिनि कहावउँ हो ॥१०॥
दैव गढ़ल जो मैं होतेउँ तो रोइ सुनउतेउँ हो।
रानी बढ़ई क गढ़ल होरिलया रोयन नाही जानइ हो ॥११॥

(क० गी० पृ० १७६।)

यहाँ भी राजा और रानी के रूप में एक निस्सन्तान दम्पती का चित्रण किया गया है। राजा और रानी दोनों संतति के अभाव में योगी बनने और भीख माँग कर खाने का निश्चय करते हैं। मार्ग में एक स्थान पर कदम्ब वृक्ष के नीचे भगवान, त्रिमूर्ति की मूर्ति कर रहे थे। पुत्राभाव से पीड़ित राजा ने कई बार राम-राम कह कर भगवान को पुकारा किन्तु उन्होंने उत्तर नहीं दिया। दुःख और करुणा से ओतप्रोत राजा का हृदय ईश्वर की उपेक्षा से विदीर्ण हो गया। करुण-स्वर में वे अपने प्रति इस उपेक्षा का कारण पूछते हैं। इन पंक्तियों से कितनी मर्मस्पर्शी वेदना प्रवाहित हो रही है—

राम हो राम पुकारोता राम नहीं बोलइँ हो।
राम हमरी बचन सरसिसिया त मुलबउ न बोलउ हो॥

अन्त में भगवान राजा के पूर्व जन्म के कुकृत्यों को सन्तानहीनता का कारण बताते हैं। किन्तु रानी का कोमल हृदय भीषण पश्चात्ताप से भर कर भी सन्तोष नहीं पा सका। वह निस्सन्तान होकर नहीं रह पाती। तब वह बढ़ई को बुलाकर काठ का बालक बनवाती है। काठ का सुन्दर बालक देख कर उसका व्याकुल मातृत्व पुकार कर कह उठता है—हे बेटा! मेरे आँगन में रोकर सुनाओ तो मेरा बाँझ कह-लाने का कलंक मिटे। किन्तु काठ का बालक अत्यन्त मार्मिक उत्तर देता है—"यदि मैं भगवान का बनाया होता तो रोकर सुनाता। हे रानी बढ़ई का गढ़ा हुआ बालक रोना नहीं जानता।" और रानी का मातृत्व सदा के लिये कराहता रह जाता है, पीड़ा से व्याकुल, वेदना से व्यथित।

इस गीत में पुत्र की अभिलाषा से पीड़ित नारी के हृदय का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है। लोक-वाणी में मार्मिक पीड़ा का यह अद्भुत संचरण भावात्मक सौन्दर्य से सर्वथा युक्त है। गीतों का संसार गायक के अन्तस्थल में उद्वेलित भावों का मुखरित व्यापार है। हृदय में उत्पन्न अगणित भाव सूत्रों का मूल स्रोत अखिल विश्व-स्थल है, जहाँ प्रतिपल अनेकानेक घटनाओं का एकत्रीकरण होता है। कलाकार विश्व और समाज की प्रत्येक गति से उत्प्रेरित होता है। गीतों में भी विश्व एवं समाज के उत्प्रेरक तत्वों का समावेश-लक्षित होता है। हिन्दू-समाज में निस्संतान स्त्री-पुरुष दोनों की भर्त्सना की गई है। वंध्या-स्त्री सर्वाधिक उपेक्षा की पात्र रही है। भाग्य के दोष और समाज की प्रताड़ना से पीड़ित होकर वह संसार का अत्यन्त कठिन दुःख वहन करती है। लोक गीतों में इस दुःख की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

एक भोजपुरी गीत में वंध्या स्त्री की असहाय एवं निराश्रित अवस्था का करुण चित्रण प्राप्त होता है—

सासु मोरी कहेली बंझनियाँ ननद ब्रजवासिनि हो।
रामा जिनके मैं बारी रे बिआही अहो घर से निकसलनि हो॥१॥
घरवा से निकसी बंझनियाँ जंगल बिच ठाढ़ भइली हो।
रामा-बनवा से निकसी बघिनिया त दुख सुख पुछइ हो॥२॥
तिरिया! कवन बिपतिया के मारल जंगल बिच ठाढ़ भइली हो।
सासु मोरी कहेली बंझनिया ननद ब्रजवासिनि हो॥
बाघिनि! जिनके हम बारी बिआही रे ऊहो घर से निकसलनि हो।

बाघिनि ! हमारा के जो खाइ लेहत बिपतिया से छूटितीं हो ॥३॥
जहवां से तू चलि आइलू, लवटि तहवां जावहु हो ।
बांझिनि ! तोहरा के जो हम खाइबि हमहूँ बांझ होखबि हो ॥४॥
जहवां से चलेली बझिनियां बिअरी पासे ठाढ़ भइली हो ।
रामा ! बिअरि से निकले नगिनिया त दुख सुख पूछइं हो ।
तिवई ! कवने बिपतिया के मारी बिअरी पासे ठाढ भइलू हो ॥५॥
सासु मोरी कहेली बंझिनिया ननद ब्रजबासिनि हो ।
नागिनि ! जिनकर मैं बारी रे बिआही अहो घर से निकसलनि हो ।
नागिन ! हमरा के जो डसि लेतिउ बिपतिया से छूटति हो ॥६॥
जहवां से अइल लवटि तहां जावहु तोहि नाहीं डसबइ हो ।
बांझिनि ! तोहरा के जो हम डसबि हमहू बांझ होखबि हो ॥७॥
जहवा से चलली बझिनियां माई कुअरा ठाढ भइली हो ।
भितरा से निकसो मयरिया त दुख सुख पूछहि हो ।
धिटिया ! कवन बिपति तोरे ऊपर जहां से चलि अइलू हो ॥८॥
सासु मोरी कहेली बंझनियां ननद ब्रजबासिनि हो ।
मइया जिनकर मैं बारी रे बियाही अहो घर से निकसलनि हो ॥९॥
मइया ! हमरा के जो राखि लिहितू बिपतिया से छूटितीं हो ।
धिया ! जहवां से अइलू लवटि तहवा जावहू तोके नाहि राखबि हो ।
धिया ! तोहरा के जो हम राखबि बंझनिया बहू बँझिहनि हो ॥१०॥
जहवां से चलेली बझिनिया जगल बिच आवेली हो ।
धरती ! तू हो सरन अब दिहितू त बझनिया नाम छूटति हो ॥११॥
जहवां से तू अइलू उलटि तहवां जावहु तुमहि नाहीं राखब हो ।
बांझनि ! तोहरा के रखले हमहूं होखबि ऊसर हो ॥१२॥

(भो० लो० गी० में करुण रस पृ० ४६ ।)

इस गीत में करुणा की पराकाष्ठा है। वंध्या स्त्री की घोर उपेक्षा इस गीत की मार्मिक व्यंजना है। एक वंध्या स्त्री सास, ननद और पति द्वारा निष्कासित होकर अपने जीवन के अन्त की चाह लेकर जंगल की बाघिन और नागिन की शरण में जाती है पर वे भी उसे नहीं रखतीं। जन्म देने वाली माता भी उसे अपने घर नहीं रखती। और अपार वात्सल्यमयी धरती माता भी 'ऊसर' हो जाने के भय से उसे वापस लौटा देती है। इस संसार में वंध्या स्त्री का कहीं कोई सहारा नहीं, कोई आश्रय नहीं, मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा नहीं। वह एक ऐसी उपेक्षिता है जिसका पृथ्वी के समस्त तत्व अनादर करते हैं।

अवधी-क्षेत्र में भी यह गीत प्रचलित है। कुछ शाब्दिक परिवर्तन के अन्तर से दोनों गीतों में पूर्ण भाव साम्य है—

सासु मोरी कहेंलि बंझनिया ननद ब्रजबासिनि हो ।
रामा जिनकी मैं बारी रे बियाही उइ घर से निकारेनि हो ॥१॥
घरवां से निकरि बझिनियां जंगल बिच ठाढी हो ।
रामा बन से निकरी बघिनियां तो दुख सुख पूछइं हो ॥२॥

तिरिया ! कौनी विपतिया की मारी जंगल बिच ठाढ़ी हो ॥८॥
सासु मोरी कहेली बंझनिया ननद ब्रजवासिनि हो।
बाघिनि ! जिनकी मैं बारी बियाही उइ घर से निकारेनि हो।
बाघिनि ! हमका जो तुम खाइ लेतिउ विपतिया से छूटित हो ॥३॥
जहवां से तुम आइउ लउटि उहां जाओ तुमहि नाहीं खइबइ हो।
बांझिनि तुमका जो हम खाइ लेबइ हमहूँ बांझिनि होबइ हो ॥४॥
उहां से चलेलि बंझिनियां बिवउरी पासे ठाढ़ी हो।
रामा बिवउरि से निकरी नागिनिया तो दुख-सुख पूछइ हो।
तिरिया ! कौनी-विपतिया कै मारी बिवउरी पासे ठाढ़ी हो ॥५॥
सासु मोरी कहेलि बझिनिया ननद ब्रजवासिनि हो।
नागिनि ! हमका जो तुम डसि लेतिउ विपतिया से छूटति हो ॥६॥
जहवां से तुम आयउ उलटि तहां जाओ तुमहि नाहीं डसिबइ हो।
बांझिनि ! तुमका जो हम डसि लेबइ हमहूँ बांझिनि होबइ हो ॥७॥
उहवां से चलनी बंझिनिया मइया द्वारें ठाढ़ी हो।
भितरा से निकरी मयरिया तो दुख सुख पूछइ हो।
बिटिया ! कउनि विपति तुमरे ऊपर, उहां से चली आइउ हो ॥८॥
सासु मोरी कहेली बंझनिया ननद ब्रजवासिनि हो।
मइया ! जिनकी मैं बारी रे बियाही उइ घर से निकारेनि हो।
मइया ! हमका जो तुम राखि लेनिउ विपतिया से छूटत हो। ६॥
जहवा से तुम आयउ लउट उहां जाओ तुमहि नाही रखइबइ हो।
बिटिया ! तुमका जो हम राखि लेबइ बहू बांझिनि होइहइं हो ॥१०॥
उहवाँ से चलेली बंझनिया जंगल बिच आई हो।
धरती ! तुम ही सरन अब देहु बझिनि नाम छूटइ हो ॥११॥
जहवां से तुम आइउ उलटि उहा जाओ तुमहि हम न राखब हो।
बाझनि ! तोहका जो हम राखि लेइं हमहूँ होब ऊसर हो ॥१२॥

(क० कौ० पृ० १८१ ।)

हिन्दू-समाज के अन्तर्गत निस्सन्तान स्त्री की अवहेलना, तिरस्कार, भर्त्सना और उपेक्षा का सजीव चित्रण उपर्युक्त लोकगीत में प्रकट हो रहा है।

निस्सन्तान स्त्री की भाँति निस्सन्तान पुरुष भी घोर उपेक्षा का पात्र होता है। 'निरवंसी' पुरुष का मुँह देखना पाप माना जाता है। वंध्या स्त्री एवं निर्वंशी पुरुष दोनों की छाया भी अस्पृश्य मानी गई है।

संतानहीन पुरुष की अवहेलना इस भोजपुरी लोक-गीत में द्रष्टव्य है—

सोने के खडउंवा[1] राजा दशरथ चटर-चटर[2] करें हो।
हेलनि[3] हमे हार हेलदा लेइ जाहूँ त रानि मोर उदासल हो ॥१॥

---

1. खड़ाउँ।
2. चट-चट की आवाज।
3. हेलनी नामक दासी।

पइलो[1] जगावेले हेलनिया उठो ना सिर साहब हो।
साहब देखि निरवसिया के मुँह, आजु रे दिन कइसन हो ॥२॥
आलाना बचन राजा सुनले सुनहि ताहि पवलनि हो।
राजा मोड़ मुड़[2] ताने से धदरिया, सुतेले गज ओबर[3] हो ॥३॥
पइसी जगायेली कोसिला रानी उठो ना सिर साहब हो।
साहब उठि के करी ना दतुवनिया त अवरू असननया नु हो ॥४॥
कइसे के उठि हम कोसिला रानी, हमरा बड़ सोच बाटे हो।
आरे नोच हो जाति के हेलनिया, हमे निरवसी कहे हो ॥५॥
आरे कोसिला के भइले राजा रामचन्दर, सुमित्रा के लछिमन हो।
आरे कैकई के भरत भुआल तीनहु घरवा सोहर हो ॥६॥
ओबरिन बोलेलीं कोसिला रानी, सुनु राजा दसरथ हो।
ए राजा सोने के सिलरिया[1] गढ़ाव, हेलनिया पहिरावहु हो ॥७॥
(भो० ग्रा० गी० पृ० १०।)

'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'—इस शास्त्रोक्ति को ध्यान में रखते हुए ही लोकगीतकारों ने निस्संतान स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में इस प्रकार के गीतों की रचना की है। उपर्युक्त गीत में संतानहीन पुरुष के रूप में राजा दशरथ की स्थिति का चित्रण है। नीच जाति की स्त्री के समक्ष एक राजा भी घृणा का पात्र है यदि वह संतानहीन है तो। नीचता की सीमाएँ स्पष्ट करने के लिए ही इस गीत में एक निम्न जाति की स्त्री और एक उच्चकुल के राजा की अवतारणा की गई है। संतानहीन होने के कारण उच्च कुलोत्पन्न राजा निम्न कुलोत्पन्न दासी के समक्ष भी अनादर का पात्र है।

इस प्रकार की भावनाओं से अभिभूत एक अवधी गीत भी है—

भोर भये भिनुसार चिरइया एक बोलइ।
राजा झपटि के खोलइँ केवरिया, हेलिनि डीठि परि गै।
परि गइ हेलिनिया क डीठि राजे मुख ऊपर ॥१॥
हेलिनि बिनवैं हेलवा संग अपने पुरुष संग।
हेलवा आजु देखेऊँ निरबंसी गुसइयाँ कैसे पुर मैं ॥२॥
चुप रहु हेलिनी छिनारि तैं जतिया क पतारि।
तीन भुवन कर राजा कहेउ निरबंसी ॥३॥
चुप रहु हेलवा बहिजरा तैं जतिया के पातर।
हेलवा तोनि उन्हा करि रानी तीनो जानि बाँझिनि ॥४॥
मनमा सुनेउ राजा दसरथ जियरा दुखित भये।
राजा मोडे मूड़े तानेनि दुपटवा सुतै धौराहर ॥५॥
घरिय घरिय दिन दुपहर पहर न बीतै।
मोरा सिभर्ल जेवनवा जुड़ाय राजै नाही आये ॥६॥

---

1. प्रविष्ट होकर
2. सिर से पैर तक
3. अँधेरा घर।

अरे रे राजा जी को चेरिया, त हमरो लउंडिया।
चेरिया से सिभलें जेनवा जुड़ाय रजै नाही आये ॥७॥
चेरिया जे चढ़ि गइ अटरिया रजै क जगावइ।
राजा सिभलो जेवनवा जुड़ाय त्रिफल रनिवासै ॥८॥
राजा जे आये हैं महलिया बेदिया चढ़ि बइठे।
राजा कौन बिरोग तुमरे जिअरा त हमने बतावहु ॥९॥
पांच पदारथ मोरे घर छठये नरायन।
रानी जतिया क पातरि हेलनिया कहै निरबसो ॥१०॥
बाउर हो राजा बाउर किन बउरावा।
राजा जो बिध लिखा है लिलार तहे भरि पाउब ॥११॥
बाउर हो रानी कौसिल्ला किन बउराई।
रानी देहु न हमरा अयनवा देतहु मुख आजन ॥१२॥
ऐनहू लइ मुख देखिन जियरा दुखित भये।
रानी श्वेत बरन होइ जो यार गोसइया कंसे पुर बं ॥१३॥
बाउर हो राजा बाउर किन बउराबा।
राजा जो बिधि लिखा है लिलार तहे भरि पाउब ॥१४॥
बाउरि हो रानी कौसिल्ला किन बउराई॥
रानी देहु न मोरि बंसुलिया मैं तप करइ जावइ ॥१५॥
एक बन डाकें दुसर बन तोसरे बिन्द्राबन।
बिन्द्रबन के बिचवां त राजा ध्यान लगावनि ॥१६॥
बन से निकरेंनि एक तपसी पूछें राजा दसरथ।
कौन बिरोग तुमरे जियरा जो इतनी दूरि आये ॥१७॥
पाच पदारथ मोरें घर छठएँ नरायन।
तपसी जतिया क पतरी हेलिनिया[1] कहइ निरबंसी ॥१८॥
जाहु राजै घर अपने पूत तोरें होइहइ।
राजा सुनि लिहें सोहरा पुकार जगत के मालिक ॥१९॥
होत बिहान सोहि[2] फाटत होरिल जनम लिहें, राम जनम लिहें।
बाजै लागी अनन बधइया गावें सखि सोहर ॥२०॥
घर-घर फिरें राजा दसरथ पण्डित बुलावई।
पण्डित खोलहु न पोथिया पुरान तो सुघरी बिचारहु ॥२१॥
महूर्त सुघरी रामा जनमे तो रोहिनी नखत में।
राजा बारह बरस के होइहइ त बन के सिधरिहइं ॥२२॥
जममा के पूत जो न होतेउ त जियरा भरबउतेउ।
मोरि इतनी तपस्या क राम त बन के सुनायेउ ॥२३॥

---

1. त्रिपाठी जी ने 'हेलिनिया' का अर्थ 'मेहतरानी' लिखा है।
2. पो फटते ही।

मन के दुखित राजा दसरथ सुतें धवरहर[1]।
मन के उछाहिल कौसिल्ला रानी पटना[2] लुटावइँ ॥२४॥
बाउर हो रानी कौसिल्ला किन बउराई।
रानी धीरे-धीरे पटना लुटावउ राम बन जइहइँ ॥२५॥
बाउर हो राजा दसरथ किन बौराया।
राजा छूटत बंभिनिया क नाम भले बन जइहीं ॥२६॥
(क० कौ० पृ० १८६।)

नीच जाति की मेहतरानी द्वारा अपमानित होने पर राजा दशरथ पुत्र-प्राप्ति के हेतु तपस्या करने वन मे जाते हैं जहाँ तपस्वी से भेंट होती है तथा पुत्र-प्राप्ति का वरदान मिलता है। अन्त में पुत्र जन्म होता है और आनन्द की बधाइयाँ बजने लगती हैं। राजा-पुरोहित द्वारा शिशु के भविष्य की गणना करने पर बारह वर्ष का वनवास विदित होता है। लोक-समुदाय में 'बारह वर्ष' की विशिष्ट महत्ता है, इसलिये चौदह वर्ष के स्थान पर 'बारह वर्ष' का प्रयोग हुआ है।

सोहर प्रेम-प्रधान गीत होते हैं। शृंगार के अन्तर्गत होने के कारण उनमे हर्ष एवं हास्य की उल्लासात्मक प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। फिर भी वहाँ करुणा रस का एक प्रबल वेग आलोडित होता रहता है। सुख और हर्ष के समानान्तर करुणा और पीड़ा की एक सबल धारा अविरल प्रवाहित होती रहती है। पुत्र-कामना की चरम स्थिति निराशा और दुःख में परिणत होती है। बन्ध्या स्त्री और निरबंसी पुरुष की सम्पूर्ण जीवन-धारा करुणा से ओत-प्रोत है। पुत्रोत्पत्ति के पूर्व एवं पश्चात् भी अनेक स्थानों पर 'करुण' प्रसंगों की उद्धृति के द्वारा वेदना की अनुभूति की गई है। दम्पती के पारस्परिक सम्बन्धों की कटुता के द्वारा भी दुःखात्मक स्थिति सृजित हो गई है। कैकेयी और दशरथ का विरोधात्मक चरित्र क्षोभोत्पादक है। इसी प्रकार राम के द्वारा उपेक्षिता सीता का चरित्र करुणा को उत्पन्न करता है। सीता का निष्कासन उस अवस्था मे हुआ था जब वह गर्भवती थी। इसलिये सीता विषयक करुण गीतों को सोहर के अन्तर्गत विशेष महत्व प्राप्त है। गर्भवती स्त्री के प्रति कठोर व्यवहार नीति के विरुद्ध है। राम जो मर्यादा-पुरुषोत्तम कहे जाते हैं, इस नैतिक मर्यादा का उल्लंघन करने के कारण लोक-गीतों मे पूर्ण रूप से भर्त्सित होते हैं। और यह भर्त्सना सर्वत्र सीता द्वारा राम को प्राप्त होती है।

भोजपुरी प्रदेश में सीता के चरित्रोत्कर्ष से सम्बन्धित अनेक सुन्दर गीत प्रचलित हैं। एक गीत मे सीता का स्वाभिमान और आत्मगौरव चरम पराकाष्ठा पर पहुँच कर श्रोता को भाव-विभोर कर देते हैं।

माघहि के तिथि नउमी त राम जग रोपेले हो।
रामा-बिना रे सीता जग सुना सीता लेइ आवहु हो ॥१॥
अरे-हो गुरु बसिष्ठ मुनि ! पइयां तोर लागीले हो।
गुरु ! तुम्हरे मनाये सीता अइहैं मनाइ लेइ आवहु हो ॥२॥

1. ऊँची अटारी।
2. वस्त्र।

अंगनेहि ठाढी सीतत रानी रहिया निहारत।
रामा ■ वत हैं गुरू हमार त पाछे लछिमन देवर ॥४॥
पतवा के दोनवा बनाइन गंगा जल पानी।
सीता धोवे लागीं गुरुजी के चरन ओ मथवा चढ़ावैं ॥५॥
येतनी अकिलि सीता तोहरे तु बुधि कै आगरि।
सीता किन तोरा हरा है गयान राम बिसरायउ ॥६॥
सब कै हाल गुरु जानो अजान बनि पुछौं।
गुरु बस कै राम मोहि डाहेनि[1] कि कसे चित मिलिहैं ॥७॥
अगिया में राम मोहि डारें लि लाइ मूँज काढेनि।
गुरु भवनहे मरम से निकारेंनि त कैसे चित मिलि है ॥८॥
सुमरा कहा गुरु करबैं परग पाँच चलवइ।
गुरु अब ना अजोधिया क जाव सो विधि न मिलाबैं ॥९॥
हुकरहु नगरा के कहरा वेगि चलि आवउ हो।
कहरा चनन क डण्डिया फनावउ सितहि लइ आउब ॥१०॥
एक वन गइले दुसर वन तिसरे विन्द्राबन।
गुल्ली डंडा खेलत दुइ बलकवा देखि राम मोहेन ॥११॥
केकर तू पुतवा नतियवा केकर हो भतिजवा हो।
लरिको कौनीं मयरिया के कोखिया जनमि जुड़ायायउ हो ॥१२॥
बाप के नौवा न जानों लखन कै भतिजवा हो।
हम राजा जनक कै नतिवा सीता कै दुलरुआ हो ॥१३॥
इतना वचन राम सुनतैन सुनहु न पउलेनि हो।
रामा तरर तरर चुवइ आँसु पटुकवन पोंछइ हो ॥१४॥
आगवैं रिवि क झटुलिया राम नियरायेनि हो।
रामा छापक पेड़ कदम कर लगत सुहावन ॥१५॥
तेहि तर बैठी सितल रानी केसियन झुरवइ।
पछवां पलटि जब चितवईं रामजी ठाढे ॥१६॥
रानी छोड़ि देहु जियरा वियोग अयोधिया बसावउ।
सीता तोरे बिन जग अंधियार त जिवना अकारथ ॥१७॥
सीता अँखिया में भरली वियोग एक टक देखिन।
सीता धरती में गई समाइ कुछौ नहीं बोलिन ॥१८॥

(क० कौ० पृ० २९४।)

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस लोकगीत की कथा त्रुटिपूर्ण है। किन्तु लोक-जीवन सर्वथा नियम और बन्धनों से मुक्त रहता है इसलिये ऐतिहासिकता का यहाँ निर्वाह नहीं हो सकता। अपनी कल्पना के उन्मुक्त तारों से उद्गारों की वीणा सजा कर लोक गायक लयात्मक स्वरों का सृजन करता है।

सोहर के अन्तर्गत दाम्पत्य-जीवन के वियोग, दुःख और करुणा से पूर्ण हृदयों के अतिरिक्त संयोग के मधुर मनोहर क्षणों का चित्रण प्रधान रूप से किया गया है।

---

1. शत्रुता की।

संतान स्मृति का मूल कारण पति-पत्नी का प्रेमयुक्त मिलन होता है । इसलिये दम्पती के प्रेम-सम्बन्धों, संयोग क्रीडाओं, मनोविनोद और हास्य-विलास का चित्रण भी सोहर गीतों में किया जाता है । पति-पत्नी का छिप कर मिलना, एक दूसरे से छेड़-छाड करना, रूठना-मनाना, हँसी-मजाक करना आदि क्रियाओं का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है ।

एक भोजपुरी गीत में दम्पती की प्रेम-क्रीडा का सुन्दर वर्णन है । किसी स्त्री का पति सध्या समय चुपचाप घर में घुस आया है और प्रेम-व्यापार सम्पन्न होने के पश्चात् हर्षित होकर चला जाता है । इस पर वह स्त्री अपनी सास के समक्ष उसके पुत्र की चतुरता का वर्णन करती है—

> सांझ ही चोरवा[1] समइले, पलंग चढ़ि बइठले हो ।
> आरे हाइ रे मुसलनि[2] प्रेम धरोहर हरखि के बाहर भइले हो ।।१।।
> मुसलनि खाटी सर के पाटी, सिरहाना पट डेंहरिइ हो ।
> आरे हाइ रे सासु मुसलनि राउर बेटा, हरिख के बाहर भइले हो ।।२।।
> (भो० लो० गी० पृ० १२१ ।)

ग्रामों में पर्दा-प्रथा तथा बड़ों के प्रति अत्यधिक शिष्टाचार के कारण पति-पत्नी प्रकट रूप मे कभी नहीं मिल पाते और उन्हें गुप्त रीति से मिलने की प्रणाली अपनानी पड़ती है । पत्नी अन्दर सोती है और पति बाहर । किसी प्रकार अवसर पा कर दोनों अल्प समय के लिये एक दूसरे से मिलते हैं फिर पृथक् हो जाते हैं । इस गीत मे चौर्य-रति का वर्णन करती हुई स्त्री कह रही है कि हे सास तुम्हारा बेटा संध्या समय ही चोर की भाँति घर मे घुस कर पलंग पर चढ गया और मेरे प्रेम रूपी धरोहर को चुरा कर कर ले गया । साथ ही चारपाई की पाटी तथा सिरहाने का तकिया भी ले गया है । यहाँ पर पति को चोर कहना पत्नी का प्रेम पूर्ण व्यंग्य है । चारपाई की पाटी और तकिया चुराने का आरोपण भी व्यंग्यात्मक है ।

इस प्रकार के गुप्त मिलन के प्रमाण मे एक अवधी गीत भी प्राप्त होता है—

> गंगा जमुना के रेत मां मछिली बहि आई हो लाल ॥ टेक १ ॥
> महला के ऊपर महला हमें रजवा बोलावें ।
> कैसे का आवों रजवा, सासु मोरी जागें ।
> जागि लेओ अम्मा जागि ले ओ, कबहू मरि जइहौं ।।२।।
> महला के ऊपर महला मोरे रजवा बोलावें ।
> कैसे का आवों रजवा जिठनी मोरी जागें ।
> जागि ले ओ जीजी जागि ले ओ, कबहूँ जुदी होइ जइहो ।।३।।
> महला के ऊपर महला मोरे रजवा बोलावें ।
> कैसे आवों रजवा ननदी मोरी जागें ।
> जागि लेहु बीबी जागि लेहु कबहूँ बहि जइहो ।।४।।

1. चोर, 2. चुरा लिया 3. तकिया ।

मेरे पिछवारे सोनरा पायल गढ़ि लावे ।
बेगि ले आवो रजवा पायल मोरी बाजै ।
जो तुम्हें होय रजवा आपु घने आवो ॥५॥

(ब० गी० स० पृ० ५८)

पति की ओर से मिलन का आमंत्रण पाकर भी, असहाय स्त्री सास, जिठानी और ननद के संकोच से उठ नहीं पाती। किसी प्रकार सास, जिठानी और ननद से छिप कर वह जाती है तो पैरों में बँधी पायलें बन्धन बन जाती हैं। कदम उठते ही रुनझुन की ध्वनि सबको सचेत कर देती। संकोच और शिष्टाचार में बँधी ग्राम-वधू की विवशता का सजीव चित्रण है। भोजपुरी और अवधी—दोनों ही क्षेत्रों में इस प्रकार के पारिवारिक बन्धनों का प्रचलन प्राप्त होता है।

दम्पती के प्रेम-युक्त मनोविनोदों का भी सुन्दर अभिव्यंजन लोकगीतों में प्राप्त होता है। एक दूसरे की वस्तुओं का अपहरण कर लेना, एक दूसरे पर चोरी का दोषारोपण करना और कृत्रिम झगड़ा फैलाना आदि क्रियाओं का वर्णन एक भोजपुरी लोकगीत में प्राप्त होता है। पति-पत्नी के मध्य प्राय ऐसे प्रेम युक्त संघर्ष होते रहते हैं—

घर में से निकले राधा रनिया, अंगनवा में ठाढ़ भइली ।
ए ललना हरि के पूछेलि जसोदा, काहे रे बहुआ[1] बेदिल[2] हो ॥१॥
लाज सरम केरि बतिया, कहल नाहीं जाता नु हो ।
ए सासु, पलंग रखत मोरी तिलरी[3] नाहि त आजु मिलेला हो ॥२॥
नाहाई धोई अइले सोरि कृस्ना, अंगनवा में ठाढ़ भइले हो ।
ए ललना हरि के पूछेलि जसोदा, काहे रे बबुआ बेदिल हो ॥३॥
लाज सरम केरि बतिया, कहल नाहि जाता नु हो ।
ए आमा बन बीरिदा[4] केरि बसुली[5] सेहो चोरि भइल नु हो ॥४॥
जेकर निहल बबुआ तिलरी से हो लोहार बसलो लिहल हो ।
ए बबुआ देहु पास बहू केरे तिलरिया, बसुलिया हम दिया देबि हो ॥५॥
ई जनि जान सासु लाहे[6] के तिलरिया सहतै[7] बाटे हो ।
ए सासु लाखा हो लाख केरे तिलरिया, रेसम मे गुहावल[8] हो ॥६॥
ई जनि जान आमा बांस के बसुलिया, हामार हवे हो ।
ए आमा आढ़ाई हो लाख केरे बसुलिया, त सोना मे मढ़ावल हो ॥७॥

---

1. बहू ।
2. उदास ।
3. तीन लड़ियों का हार
4. वृन्दावन ।
5. बासुरी ।
6. लाख ।
7. सस्ता
8. गूथा हुआ ।

एही बंसुलिया कारन मारबि अवरू गरिआइबि, घर में कुठंठि[1] लाइबि हो।
ए आमा नइहर के डोहवा[2] रे देखाइबि, इहां से दुरु दुरु[3] करवो हो ॥८॥
गोड़वा मे लवले चटकउवां[4] पउवां, हाथावा सो बरनी[5] साटी[6] हो।
ए ललना चलि भइलो सरहजो नगरिया, हम लाहारा[7] रे लगाईबि हो ॥६॥
ए सरहजी कवन अवगुन तूहूँ कइलू, ननद तुहें गरियावेलो हो।
झंपा मे से बढ़ली साटन सारी अवरू पीतंबर हो ॥१०॥
ए ललना परते परते लवलि रे मोहरिया, ओरहनवा[8] देबे जाइबि हो।
ए ननदी ! कवन अवगुन हम कइली तुहु गरियावेलु हो ॥११॥
कवन जे सखी उजे कहुवे कवन सखी सुनुवे नु हो।
आरे कवन लबजि[9] लड़या[10] लवलसि मऊजो पतियालु[11] नु हो ॥१२॥
कवनो ना सखी उजे कहुवी कवनो सखी ना सुनुवी हो।
आरे सिरि कृस्ना लवज लड़या लवले त हम पतियाली नु हो ॥१३॥
कारी बदन पर भातावा खोटाई गोराइया पर कातानु हो।
ए ललना कारी बदन उनुकर[12] हवबे लंका भगिया लावेले हो ॥१४॥

(भो० लो०) पृ० १४०

इस गीत मे एक नटखट पति का उपद्रव प्रकट किया गया है। पति ने विनोद-वश पत्नी का हार छिपा लिया और पत्नी ने उसकी बांसुरी छिपा दी है। सास के द्वारा झगड़े का निर्णय होता है। परन्तु दोनों के तर्क वितर्कों से झगड़ा और उलझ जाता है। पत्नी अपने हार को सवा लाख का बताती है तो पति अपनी बांसुरी को ढाई लाख की कहता है। मारने पीटने और नैहर भगा देने की धमकी देने के उपरान्त पति अपनी सरहज के पास जाता है और अपनी पत्नी की शिकायत करता है। ननद भाभी मे संघर्ष उत्पन्न करने का उसका प्रयास सफल नही हो पाता, क्योंकि साक्षात्कार होने पर दोनों समझ जाती हैं कि यह सारी आग उसी की लगाई हुई है।

अवधी बोली मे भी इस प्रकार का एक गीत प्राप्त होता है जिसमे पति-पत्नी के कृत्रिम संघर्ष की मधुर झलक प्राप्त होती है—

---

1. झगड़ा।
2. ऊंचा खड़हर।
3. दूर भगा देना।
4. खड़ाऊँ।
5. सोने की।
6. छड़ी।
7. झगड़ा का झोंका।
8. उलाहना।
9. मिथ्या।
10. निन्दा।
11. विश्वास किया।
12. उनका।

मंदिरवा से उतरी राधिका अगनवा मे ठाढ़ी भई।
अगनवा मे ठाढ़ी भई रे।
अरे ओ मोरे रामा, हँसि, हँसि पूछहि जसोदा।
काहे बहु अनमनि रे।
काह कहौं मोरी मातु कहत मोरे लाज लागइ रे।
अरे ए मोरी मातु आजु महल मोरे चोरी भई।
तिलरी चुराय गई रे।
तोरि डारो हाथे क हथेलवा[1] गोडे क गोड़हरा[2]।
अरे ए मोरी बहुआ ओढ़ि लेहु निज का दुपटवा[3]।
त मुरली चुराय लावउ॥
तोरि डारिन हाथे का चुरिया गोड़े का गोड़हरा।
ओढ़ि लिहिन निज का दुपट्टा त मुरली चुराइ लाईन रे॥
महला मे आये कन्हैया अगनवा मे ठाढ़ भये।
अरे ए मोरे रामा, हँसि हँसि पूछहि जसोदा।
काहे बेटा अनमन रे॥
काह कहौं मोरी माता, कहत लाज लागै।
आज वृन्दावन चोरी भई, मुरली चोराय गई रे॥
कम जिन जान जानो राधिका मुरलिया बांस की है रे।
मुरली मे बसे मोर प्रान, मुरलिया हमरी दे देव रे॥
अब जिन जान्यो कन्हैया तिलरिया लाह की है।
अरे ए मोरे कान्हा तिलरी मे लागो हीरा लाल।
तिलरिया हमरे बाप की है॥
(क० कौ०) पृ० २००।

इस गीत मे भोजपुरी गीत की अपेक्षा संघर्ष का मधुर रूप अवतरित हुआ है। इस गीत की नायिका अपेक्षाकृत अधिक सरल है। हार चोरी होने के पश्चात् उसे चोर का ज्ञान नहीं होता और न वह प्रतिकार रूप में मुरली चुराने का चातुर्य ही रखती है। सास के द्वारा उसे बोध होता है कि उसके हार का चोर उसका पति ही है और उसी के द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर वह मुरली चुरा कर लाती है। पति का स्वरूप भी इस गीत मे किसी प्रकार की मधुरता का अतिक्रमण नहीं करता है। भोजपुरी गीत मे पति का जो कठोर, झगड़ालू रूप प्रकट हुआ है, उसका यहाँ अभाव है। दम्पती के प्रेम पूर्ण संघर्ष का उत्तम चित्रण इस गीत मे प्राप्त होता है।

दोनो गीतों मे 'सास' के मधुर स्वरूप की अवतारणा है। प्रायः गीतों में सास का कठोर कष्टदायक स्वरूप ही चित्रित रहता है।

---

1. हाथ का आभूषण।
2. पैर का आभूषण।
3. दुपट्टा।

पति-पत्नी का अटूट अभंग प्रेम लोकगीतों में बड़ी सुन्दरता से वर्णित हुआ है। एक पतिव्रता स्त्री का पावन एवं दृढ़ स्वरूप इस भोजपुरी लोकगीत में चित्रित हुआ है।

एक पिय मोरे मन मानेउ पतिव्रत ठानेउ राम।
अवरि जो इन्द्र समान सो त्रिन करि जानेउँ राम।
जहाँ प्रभु अइसु सिंहासन आसन डासन राम।
तंह तब बेनिया डोलइबउँ बढ़ सुख पइबउँ राम॥
जो प्रभु करिहं तमासन, पउढ़ि करबि उपासन राम।
गोड़ तरियन पगु महरइबउँ हियरा जुड़इबउँ राम।
धरनी प्रभु चरनामिरत नितहिं अचइबउँ राम।
सनमुख रहबइ ठाढ़ी अनत नहिं जइबउ राम॥
(भो० लो० करुण रस) पृ० १७।

पति को परमेश्वर के समकक्ष मान कर उसकी उपासना एवं चरण वन्दना में अपने समस्त जीवन को व्यतीत करने की पवित्र भावना है। अपना पति ही सर्वस्व है एवं अपार वैभवशाली पर पुरुष तृण के समान है। एक पतिव्रता स्त्री के हृदय की कामनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति इस गीत में हुई है। जहाँ-जहाँ मेरे स्वामी बैठेंगे, वहाँ मैं उन पर पंखा डुलाऊँगी, जहाँ लेट जाएँ वे वहाँ उनके बिछाने बैठ कर चरण सहलाऊँगी और अपने हृदय को शीतल करूँगी, नित्यप्रति उनके चरणामृत को ग्रहण करूँगी और सेवा में निरन्तर सम्मुख खड़ी रहूँगी, अन्यत्र कहीं नहीं जाऊँगी। इस प्रकार की कामनाओं से युक्त सती नारी का सम्पूर्ण समर्पण-भाव व्यक्त हो उठा है।

अवधी लोकगीत में भी ऐसी सती-साध्वी स्त्री का स्वरूप प्राप्त होता है जो अपने परदेशी पति के प्रेम में तन्मय है और और अपनी चारित्रिक पवित्रता की रक्षा करती है।

कारिक पियरि बदरिया झिमिक दैव बरसहु।
बदरी जाइ बरसहु उहि देस जहाँ पिया कोड़[1] करें॥१॥
भीजैं आखर बाखर[2] तम्बुआ कनतिया।
भरे भितरा से हुलसें करेज समुझि घर आवहिं॥२॥
बरहे बरिस पर लौटे बरिहो[3] तरे उतरे।
माया लै के उठी चनना पिढ़ंया[4] बहिनि जत गेड़ुवा॥३॥
मोर पिया पनियउ पीयेनि हाथ मुंह धोयेनि।
माई! देखउं कुल परिवार धना[5] कोन देखउं॥४॥

---

1. क्रीड़ा
2. सब समान।
3. बरगद।
4. पीढ़ा
5. स्त्री।

बेटा तोरी धन अगिया के पातरि मुख के सुन्दरि ।
बहुअरि गोड़े मूरे माने सिरौरा[1] मोवइ धोराहरि ॥५॥
मोरी न बहुअरि गइ की केचरिया दुलहर योनायेन ।
दुलहिन देखा न तोर परदेसिया दुआरे तोर ठाढ़ रे ॥६॥
ससुरि के बहुअरि जागइ केवारी लागि देखइ ।
पिया जनल्यो मैं तोरि अवैया त पटना लुटउतेउँ ।
सेंइया नचवतेउँ ॥७॥
जब से तू गया मोरे पियवा सेजरिया नाहीं डासेउँ ।
अपने ससुर के नाव्यो ग्लोइया लुट्यों पगी मोटेउ ॥८॥
जब से गयो मोरी धनिया पनवा नाहीं खायउ ।
निंदिया नाहीं सिनयउँ ॥
धनिय तोहरी दरद मोरी धनिया त जानहि नरायन ॥९॥

(भ० गी०) पृ० १०६

इस गीत की नायिका भोजपुरी गीत की नायिका की भाँति 'सम्पुट रहइ ठाढ़ी अनत नहिं जइहइ राम' का सिद्धान्त ग्रहण नहीं करता है। वह बारह वर्ष से अपने स्वामी का वियोग सहन कर रही है। फिर भी स्वामी के प्रति प्रेम एवं पातिव्रत्य में कोई त्रुटि नहीं है। वियोग-वेदना में तप कर उसका स्नेह कञ्चन सा निखर गया है। उसका पातिव्रत्य और तेजस्विता की झलक अपूर्व है— 'बेटा तोरी धन अगिया की पातरि, मुख कै सुन्दरि' में उसकी सम्पूर्ण वियोग साधना और प्रेम की कान्ति मुखरित हो उठी है। कष्टों की ज्वालाओं ने उसके शरीर को जीर्ण कर दिया है, परन्तु आत्मा की शक्ति को प्रखर बना दिया है। साथ ही इस गीत में एकाङ्गिता का अभाव है। पुरुष की चारित्रिक दृढ़ता का भी इसमें प्रतिपादन किया गया है। दाम्पत्य जीवन की सार्थकता के लिये पति-पत्नी दोनों का चरित्रवान आवश्यक होना है। भोजपुरी गीत में जहाँ बौद्धिक सिद्धान्तवाद की झलक मिलती है, वहाँ इस गीत में सक्रिय भावनाओं का हार्दिक निरूपण है। दम्पती का पारस्परिक प्रेम और दृढ़ चरित्र उल्लासोत्पादक है।

गर्भवती स्त्री की साध का भी अनेक रूपों में वर्णन हुआ है। इस साध को 'दोहद' कहा जाता है। साध सम्बन्धी गीतों को दोहद शीर्षक के अन्तर्गत रक्खा गया है। गर्भवती स्त्री की इच्छाओं को पूर्ण करने का आदेश शास्त्रों में भी दिया गया है। यही कारण है कि गर्भवती स्त्री की साधों को पूर्ण करने की प्रथा चल पड़ी है। परिवार के सभी व्यक्ति गर्भवती स्त्री की इच्छाओं का ध्यान रखते हैं। समस्त इच्छाओं के अन्तर्गत भोजन सम्बन्धी इच्छा का विशेष महत्व है। इसी इच्छा पूर्ति को लेकर कहीं कहीं सधौरी भेजने की प्रथा भी प्रचलित है। सधौरी प्रथा के अन्तर्गत प्रथम बार गर्भवती होने पर स्त्री के मायके से पाँचवे अथवा सातवें महीने में विभिन्न प्रकार के पकवान, मिठाइयाँ, फल तथा वस्त्राभूषण आदि सामान भेजा जाता

1. चादर ।

है। इसी को सधौरी कहते हैं। इस सधौरी प्रथा को एक उत्सव के रूप में मनाया जाता है और इसी अवसर पर के गीत गाये जाते हैं।

भोजपुरी प्रदेश में भी गर्भवती स्त्री की इच्छाओं को पूर्ण करना कर्तव्य समझा जाता है। एक गीत में पति अपनी गर्भवती स्त्री की हार्दिक इच्छाओं को पूछ रहा है और पत्नी शर्माते-सकुचाते हुए अपनी एक-एक इच्छा को व्यक्त कर रही है—

सावन की रवनइया[1] अपन सेज डासी मे हो।
ए पिया फुलवा फुलेला करइलिया[2] गमक मने भावेला हो ॥१॥
अरे-पातरि पातरि सुनर[3] मुख दुरहुरि[4] हो।
कवन-कवन भोजना मन भावे कहिना समुझावहु हो ॥२॥
भोजवा त भावेला धानहि केरा दलिया रहरि[5] केरा हो।
ए प्राभु रेहुआ[6] त भावेला मछरिया, मासु तीतल[7] केरा हो ॥३॥
आरे पातरि पातरि सुनर मुख दुरहुरि हो।
कवन-कवन फलवा भावेला कहिना सुनावहु हो ॥४॥
बोलिया त ए प्राभु बोली ले बोलल लजाइले हो।
ए प्राभु फलवा त भावेला नीबुआ केरवा[8] नरियर[9] भावे हो ॥५॥
आरे पातरि पातरि सुनर मुख दुरहुरि हो।
सुनरी कवन कपाडा मन भावे कहिना समुझावहु हो ॥६॥
ए प्राभु साड़िया त भावे मलमलवा, लहगा साटन केरा हो।
ए प्राभु चोलिया त भावेला कुसुम[10] केरा अवरु ना भावेला हो ॥७॥
आरे पातरि पातरि सुनर मुख दुरहुरि हो।
कवन संगति नीमन[11] लागेला कहिना समुझावहु हो ॥८॥
ए प्राभु नाचवा त भावेला सासु संगे अवरु ननद जी के हो।
ए प्राभु झगड़ा त भावेला गोतीनि संगे गोदिया बालक लेइ हो ॥९॥

(भो० लो०) पृ० १०३

सावन महीने की रात में आँगन में लेटे हुए दम्पती के मध्य वार्त्तालाप चल रहा है। पति द्वारा पूछे जाने पर गर्भवती पत्नी अपनी इच्छाओं को व्यक्त कर रही

1. सावन की रात।
2. करैला।
3. सुन्दर।
4. सुडौल।
5. अरहर।
6. रोहित मछली।
7. तीतर।
8. केला।
9. नारियल।
10. कुसुम्भी रंग।
11. अच्छा

है। करेला की सुगन्ध उसे प्रिय लगती है। भोजन में धान का भात, अरहर की दाल, रोहू मछली और तीतर का मांस अच्छा लगता है। फलों में नीबू, केला और नारियल अच्छा लगता है। वस्त्रों मे मलमल की साड़ी, साटन का लंहगा और कुसुम रंग की चोली पसन्द है। सास-ननद की संगति और जेठानी से झगड़ा करना अच्छा लगता है।

अवधी गीतों मे भी दोहद वर्णन प्राप्त होता है। परिवार के समस्त व्यक्ति गर्भवती स्त्री की अभिलाषाओं को पूर्ण करने की उमंग रखते हैं—

> किला तरे मोरी बहुआ महला उठायो री।
> सासु पूछें मोरी बहुआ तुमका का का भावें री॥
> नीम्बू नारंगी मोरी सासु केला हमका भावें री॥१॥
> जीजी पूछें मोरी छोटी तुमका का का भावें री।
> दाख छुआरा मोरी जीजी किसमिस हमका भावें री॥२॥
> ननद पूछें मोरी भाभी तुमका का का भावें री।
> पूरी कचौरी मोरी ननदी रबड़ी हमका भावें री॥३॥
> देवर पूछें मोरी भाभी तुमका का का भावें री।
> सोने का गिलास मोरे देवरा सरबत हमका भावें री॥४॥
> राजा पूछें मोरी रनिया तुमका का का भावें री।
> राज तो भावें पिया तुम्हारो गोदी मा होरिलवा री॥५॥

(संगृहीत)

गर्भवती बहू को परिवार के समस्त व्यक्तियों की संवेदना प्राप्त रहती है। सास, ननद जेठानी, देवर और पति—सबकी महानुभूति से घिरी स्त्री के लिये यह समय कितनी प्रसन्नता और उल्लास का होता है। इसीलिये संतान को हिन्दू समाज में अत्यधिक महत्व दिया है। *स्त्री-जीवन का तो सम्पूर्ण सम्मान, प्रतिष्ठा एवं महत्व* उसके पुत्रवती होने पर ही निर्भर होता है। इस गीत में सास, जेठानी, ननद और देवर द्वारा पूछे जाने पर गर्भवती स्त्री अपनी इच्छित वस्तुओं का नाम बताती है। नीम्बू, नारंगी केला, दाख-छुआरा, किसमिस, पूड़ी, कचौड़ी, रबड़ी सरबत इत्यादि वस्तुएं गर्भिणी को विशेष प्रिय हैं। गीत की अन्तिम पंक्तियाँ अत्यन्त मधुर हैं। जब पति के द्वारा पूछे जाने पर अपनी आन्तरिक इच्छा को व्यक्त करते हुए स्त्री कहती है कि उसे अपने स्वामी के राज्य मे विचरण करना और गोद मे अपने पुत्र को धारण करना प्रिय है।

कभी-कभी परिवार की आर्थिक कठिनाई के कारण या परिवार के सदस्यों की असहृदयता के कारण गर्भवती की रक्षा पर ध्यान नहीं दिया जाता है और पारस्परिक संघर्ष होने की संभावना बढ़ जाती है। इस प्रकार के गीतों का भी बहुत अधिक प्रचलन है, जिनमे गर्भवती पत्नी से घर के पति की इच्छा-पूर्ति न करने के कारण, झगड़ा हो जाता है—

पलकों[1] की राते माते[2] दुइ जने मतु जो मर्लाट[3] हबै रे।
हे राजा हमरा तिलरी के साथ लिलरी हम लेवें, चुनरी हम लेबै रे ॥१॥
रनिया हो मोरी रनिया तुमहि मोरी रनिया रे।
रनिया तुम घना काली कोयलिया तिलरी नहीं सोहै,
तिलरी कहा करिहो, चुनरी कहा करिहो रे ॥२॥
राजा हो मोरे राजा तुमहि मोरे राजा रे।
राजा कारे की सेज मति आयो कारे परि जइहौं रे ॥३॥
हंकरो में नगर के सोनरा तो हकरि बोलावो तो बेगि बोलाबौ रे।
सोनरा पांच मोहर कै तिलरिया बेगि गढ़ि लावहु रे ॥४॥
हुंकरों मे नगर के बजजा तो हंकरि बोलावो रे।
बजजा पाच रंग चुनरी लै आवहु मैं रानी का मनावहुं रे ॥५॥
एक हाथ लीन्हेन्हि तिलरी दूसरे हाथे चुनरी रे।
तो लपकि कै चढ़ि गे अटरिया तो धना का मनावहि रे ॥६॥
रानी छांडि देव जिया का विरोग पहिन लेओ तिलरी
ओढ़ि लेओ चुनरी रे ॥७॥
तिलरी तो पहिने तुम्हारी माया और बहिनियां रे।
राजा चुनरी तो ओढ़ै भौजइया जहां तुम रीझे रे ॥८॥
हुकरों में नगर के तम्बोली तो हकरि बोलावो रे।
तम्बोली पाँच पान बिरिया लै आवो मैं रजवा मनाओ रे ॥९॥
एकु हाथे लीन्हेन्हि बिरिया दूसरे हाथे ललना रे।
लपकि कै चढ़ि गई महलिया तो रजवा मनावहि रे ॥१०॥
राजा छोड़ि देओ जिया का बिरोग-थामि लेओ बिरिया—
लेमाय लेओ ललना रे ॥११॥
बिरिया तो थामे तेरा भइया और भतीजा रे।
रानी ललना खिलावें बहनोइया जहां तुम रीझिउ रे ॥१२॥
बडेन की हम बेटी बडेन घर ब्याहिनि रे।
राजा अपने भइयन की दुलारो तुरतै बदलु ल लीन्यो रे ॥१३॥

(अ० लो० प०) पृ० २।

स्त्री को साध है तिलरी और चुनरी लेने की, परन्तु पति उसे 'काली' कह कर चिढ़ा देता है। अन्त में वह दोनों वस्तुएं लेकर आता भी है किन्तु रूठी हुई पत्नी उन्हें ग्रहण नहीं करती। इस बात पर पति भी रूठ जाता है। तब पत्नी पानों का बीड़ा लेकर पति को मनाने चलती है और बड़ी चतुराई से कहती है कि मैं बड़े घर की बेटी हूं, बड़े ही घर में ब्याही गई हूं इसलिये मैंने आपसे बदला ले लिया है।

---

1. पलंग।
2. प्रेम में भरा।
3. वाद-विवाद।

दम्पती के पारस्परिक प्रणय, रोष एवं मान का उत्तम चित्र इस गीत में प्राप्त होता है।

अवधी क्षेत्र में इन दोहद गीतों को गाये जाने का अधिक रिवाज है, जितना भोजपुरी क्षेत्र में नहीं है। इसीलिये भोजपुरी की अपेक्षा अवधी क्षेत्र में इस प्रकार के गीत अधिक प्राप्त होते हैं।

अवधी बोली में इस गर्भ सम्बन्धी गीतों में कुछ गीत 'सिधरी' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन गीतों में गर्भवती की समस्त साधों की अभिव्यक्ति रहती है, साथ ही गर्भवती स्त्री द्वारा सिधरी खाने की इच्छा प्रकट की जाती है। संभवतः इसीलिये इन गीतों का नाम सिधरी पड़ गया है। मनोरंजन के लिये इन गीतों को स्त्रियाँ बड़े उत्साह से गाती हैं। विविध वस्तुओं के परिगणन के कारण इन गीतों का आकार अपेक्षाकृत दीर्घ होता है—

अँगने मोरे चनन बड़ा बिरवा तेहि तरे मँचिया बिछायदे।
तेहि पर सोवें बलम राजा रनिया डोलावहिं बेनिया ॥१॥
रनिया तो रजवा पूछन लागे अब काहे के तुम्हें साध रे।
हमका तो रे सलोने राजा खट्टे के साध अब कुछ खट्टा चाहिये ॥२॥
आम का अमचुर यों बना राजा इमिली और नारंग यों बना।
राजा मीठी अचारी यों बनी राजा मीठा मुरब्बा यों बना ॥३॥
खट्टा तो रे सलोनी रानी खट्टे के साथ, बेटा आई खट्टे के साथ।
अब काहे के साध रे ॥४॥

हमका तो रे सलोने राजा मेवा के साध अब कुछ मेवा चाहिये।
गरी तो रे बम्बई से मंगावो, दाख छुहारा यों बना।
बादाम चिरौंजी यों बनी राजा मखाने के लावा यों बने ॥५॥
मेवा तो रे सलोनी रानी मेवा के साथ बेटा आई मेवा के साथ,
अब काहे के साध रे ॥६॥

हमका तो रे सलोने राजा मीठे के साध अब कुछ मीठा चाहिये।
पेड़ा तो रे मथुरा से मंगावो खजूरा भी यहीं यों बनो।
लखनऊ की गुझियाँ यों बनी बरफ बरेली के यों बने।
राजा खाजा और गुलगुला यों बने राजा लाल्हो जलेबी यों बनी।
राजा बताशा [illegible] के यों बने ॥७॥
मीठा तो रे सलोनी रानी मीठा के साथ, बेटा आई मीठा के साथ,
अब काहे के तुम्हें साध रे ॥८॥

हमका तो रे सलोने राजा कड़ुआ के साध अब कुछ कड़ुआ चाहिये।
सोंठि तो रे कलकत्ते से मंगावो, करई पिपरिया मंगावो।
हरदी तो रे अम्बा से मंगावो अजवाइन जमीराबाद की रे।
मूंग तो स्यामागढ़ से मंगावो ॥९॥
कड़ुआ तो रे सलोनी रानी कड़ुआ के साथ बेटा आई कड़ुआ के साथ,
अब काहे के तुम्हें साध रे ॥१०॥

हमका तौ रे सलोने राजा कपड़ा कै साध अब कुछ कपड़ा चाहिये ।
लहगा तौ रे अतलस का मगावो चट मर दुपट्टा यो बना ।
राजा लाल चदरिया यों बनी कुर्ता फतुही यो बनी ।
सारी तौ रे बनारस से मगावो, जम्फर ब्लाउज यो बना ॥११॥
कपड़ा तौ रे सलोनी घना कपड़ा कै साध, बेटा जाई कपड़ा कै साध,
अब काहे कै साध रे ॥१२॥

हमका तौ रे गहना कै साध, अब कुछ गहना चाहिये ।
गहना तौ रे ढाके ते मगावो ऊपर पहिनो यो बनी ।
राजा छल्ला मुदरिया यो बनी हथफूल गलफूल यो बने ।
राजा छुरी परेला यो बने राजा तेल सो आंके यो बने ।
राजा पट्टी धज्जुलना यो बने, दार और बटिया यो बने ।
राजा झुमका औ बाली यो बने राजा माथे कै बेंदिया यो बनी ।
राजा नकबेसरिया यो बनी बोहि पर लटकन यो बना ।
राजा गले है गुलूबन्द यो बना राजा गरे का कंठा यो बना ।
राजा निकलसि हरवा यो बना राजा कमर कै पेटी यो बनी ।
राजा पैर की छागल यो बनी राजा मांझे औ लच्छी यो बनी ।
राजा कड़ा औ छड़ा यो बने राजा पांव के बिछुआ यो बने ॥१३॥
गहना तौ रे सलोनी घना गहना के साध, बेटा जाई गहना के साध,
अब तुम्हे काहे कै साध रे ॥१४॥

हमका तौ रे खिचड़ी कै साध अब कछु खिचड़ी चाहिये ।
चाउर तौ रे बंगाले से मगावो दारि हरेरी मूंग की ।
निमक तौ रे [illegible] ते मंगावो, लाहौर देस ते ।
घिउ तौ रे अरे सुगी का मंगावो एकु बिगर दूजे सोध रे ।
बटुआ तौ रे भारत ते मंगावो कांसन थारी यो बनी ।
राजा ऊपर कटोरा यो बना ऊपर चमचा यो बना ॥१५॥
खिचड़ी तौ रे सलोनी घना खिचड़ी के साध बेटा जाई खिचड़ी के साध,
अब काहे कै तुम्हे साध रे ॥१६॥

हमका तौ रे सलोने राजा ललना कै साध, अब हमे ललना चाहिये ॥१७॥
पलगु तौ रे चन्दनु का मंगावो मंचबन ईंगुर ढराइये ।
चारिउ पाटिन करमी लगाइये राजा रेसम बान बिनाइये ॥१८॥
राजा गद्दा गलीचा यो बना राजा तोसक तकिया यो बनी ।
राजा पनस डिब्बा यो बना राजा झमझन गेड़ुआ यो बना ।
राजा बांके सिपहिया तुम बनो राजा बांकी छबीली मैं बनूं ॥१९॥
ललुआ तौ रे ललुआ कै साध. बेटा जाई ललुआ कै साध,
अब तुम्हे काहे कै साध रे ॥२०॥

हमका तौ रे सलोने राजा अब नहिं चाह हाथ जोरि बिनती करौं ।
होहि जै तौ रे सलोनी घना एतना न होय सो देखिया वह क्या करे ।
जेहि कै तौ रे सलोने राजा इतना न होय,

जाय भुगोरा मां सोय रहे।
जाय सरियाने मां बसि रहे।
आयन पायन सोय रहे॥
जेहि कै तो रे सलोने राजा इतना न होय,
जाय कूकुरि संग सोय रहे॥२४॥
आंगन तो रे सलोने राजा कुइया खदाव,
राजा, दुस्मन और बैरी डूबि मरें॥२५॥ (अ० लो० प०) पृ० ११।

गीत में विविध प्रकार की वस्तुओं के नाम गिनाये गये हैं तथा गर्भवती स्त्री की ओर से उनकी मांग की गई है। जब पति इतनी वस्तुओं को देने की असमर्थता प्रकट करता है तो उसे अपशब्दों द्वारा तिरस्कृत भी किया जाता है। अन्तिम पंक्तियों से सिद्ध होता है कि पति ने अपनी पत्नी की मांगों को पूर्ण कर दिया है और प्रफुल्लित होकर वह कहती है कि आंगन में कुआं बनवाओ जिसमें उसके सौभाग्य से ईर्ष्या करने वाले शत्रु डूब मरें। इस गीत में गर्भवती स्त्री की अधिकार भावना स्पष्ट लक्षित होती है। गर्भ-धारण करने के उपरान्त स्त्री का महत्व बढ़ जाता है और महत्व-वृद्धि के साथ ही उसकी अहं-भावना में भी विस्तार होता है। अहं ही अधिकार का रूप धारण करके सब कुछ कहने की समर्थता रखता है।

गर्भ-धारण के उपरान्त एवं सन्तानोत्पत्ति के पूर्व एक अत्यन्त दारुण कष्ट की बेला आती है जब स्त्री प्रसव-पीड़ा को प्राप्त होती है। प्रसव-पीड़ा का ज्ञान केवल अनुभव से हो सकता है, कल्पना एवं अनुमान की शक्तियों से नहीं। सन्तान रूपी फल की प्राप्ति के लिये स्त्री को गहनतम कष्ट पार करना पड़ता है। प्रसव का कष्ट जितना भयंकर होता है, सन्तान की प्राप्ति उससे अधिक सुन्दर होती है। यही कारण है कि उस कष्ट को स्त्री बड़ी शीघ्रता से विस्मृत कर देती है। प्रसवावस्था की पीड़ा से सम्बन्धित लोकगीतों का गायन भी सोहर के अन्तर्गत होता है।

एक भोजपुरी गीत में गर्भवती स्त्री प्रसव-वेदना से पीड़ित होकर अपनी दासी को स्वामी के पास सूचना देने के लिये भेजती है। पत्नी की पीड़ा का हाल सुनते ही पति दौड़ा हुआ आता है और कुशल-क्षेम पूछता है। तदुपरान्त आवश्यकता जान कर योग्य धाय को बुलाने चल देता है। पत्नी के प्रति पति का व्यवहार सहानुभूति पूर्ण है—

साभावा बइठल राजा दसरथ चेरिया[1] अरज करे ए।
राजा रउरा घरे पत्नी बेयाकुल, रउरा के चाहेले ए॥१॥
पासावा लइबनी[2] बेल सर अवरु बबुर तर ए।
राजा धवरि[3] पइसेले जाजा ओबर कहना धनि कुसल ए॥२॥

---

1. दासी।
2. पासा खेलते हुए।
3. दौड़कर।

कपारा[1] त हमरो टनकेला[2] ओदारा[3] चिली कैला[4] ए ।
राजा दुनिया भइले अनसुन, कवन कही कुसल ए ॥३॥
आसाना वचन राजा सुनलिनि, सुनहि न पवलनि ए ।
राजा चलि गइले मोरंग देसवा, जहाँ बसे धगड़ीनि ए ॥४॥
पूछेले बटइनि बटइनि[5] कुइया पनिहारिनि ए ।
राजा पूछेले सहर के लोग से, कहा बसे धगडीनि ए ॥५॥
पूछेले बटइनि बटइनि कुइया पनिहारिनि ए ।
राजा पूछेला सहरवा के लोग कहा रउरा जइबो ए ॥६॥
उतर मुंहे उतराहत[6] अवरू पछिमाहुत[7] ए ।
ए राजा दुवारा चाननावा[8] के गाछी[9] उहाँ उमे धगडीनि ए ॥७॥
कि मोरा टट्टर खोलेला, रतन पे बारेला[10] ए ॥
ए राजा कवन सुहइया[11] केरा कन्त[12] अधही राति आवेला ॥८॥
हम मोरा टट्टर खोली ते रतन पे बारी ते ए ।
ए धगडीनि हम राजा दशरथ के पुत्र, अधही राति आइले ए ॥९॥
किया रउरी माई बियाले त बहिना आसवति[13] ए ।
राजा किया घरे धरनी बेयाकुल हमरा के चाहेले ए ॥१०॥
ना मोरी माई बियाले त बहिन आसावति ए ।
ए धगडीनि मोरा घरे धरनी बेयाकुल रउरा के चाहेले ए ॥११॥
आपाना के राजा हाथी कस अवरू जे घोड़ा कसू ए ।
हु राजा हमरा लाल ओहार[14] चढ़ी हम आइबि ए ॥१२॥

(भो० लो०) पृ० १०६ ।

---

1. सिर ।
2. दुखना ।
3. पेट ।
4. दर्द उठना ।
5. बटोही ।
6. उत्तर की ओर ।
7. पश्चिम की ओर ।
8. चन्दन ।
9. वृक्ष ।
10. बिखेरना ।
11. स्त्री ।
12. पति ।
13. आशावती ।
14. लाल पर्दायुक्त पालकी ।

इस गीत में गर्भवती स्त्री के पति की सक्रियता का वर्णन है। प्रायः सभी पुरुष सन्तान की लालसा में उपर्युक्त अवसर पर सक्रिय हो उठते हैं। धाय का घर न मालूम होने पर भी घर भी राह यात्रियों तथा पनिहारियों से पूछते-पूछते पहुँचना और धाय को लाल पर्दे की पालकी में सामान के साथ लिवा कर लाना बड़ा स्वाभाविक चित्रण है। ऐसे अवसरों पर कोई भी धाय अधिक से अधिक नखरे दिखलाती ही है।

अवधी सोहरगीत में भी प्रसव-पीड़िता पत्नी के लिये सब कुछ करने के लिये तत्पर पति की सक्रियता का वर्णन किया गया है—

सेन्दुरे के टिकुली दुलहिन देई निज टकटक करै रे।
राजा दुलहवा कवन रामा मुखवा निहारे रे ॥१॥
मुख मा लउके दीपक बरै ओटवा ओनाई[1] चए रे।
निहुरि-निहुरि सारे ओवै[2] तो काहे रानी अनमनि रे ॥२॥
बाबा कुल मोरे करकै दहिन मोर सालै रे।
राजा मारे पंजरवा[3] के पीर काहि का बुलाओ रे ॥३॥
कहो तो जाल डरावों तो मछरी मराओं रे।
कहो तो पिया केरी पुत्रिया दहिया संग भोजन रे ॥४॥
कहो तो चन्दनु कटावों, मैं पलंग जड़ावों रे।
कहो चमेली वन जाओ सुमन भइ आवौं रे ॥५॥
हे राजा मन ते न उतरे चित ते न बिसरैं रे।
उई राजा जइहैं चमेली वन कैसे जिया राखौं,
मैना जिया राखौं रे ॥६॥
होत भोर पौ फाटत लालन उर धरे रे।
ए हो बाजन लागे आनन्द बधाव, गावैं सखी सोहर रे ॥७॥
हे राजा सोनवा गढ़ावं तो रुपवा मढ़ावों रे।
ए हो दई राजा खरचहि दाम नेगिया समझावहि रे ॥८॥
घर मोरे बाजत बधइया, भीतर मोरे सोहर रे।
ए हो मात ससुर महतरिया ससुर टारे बाजी—
बहुत नीक लागे रे ॥९॥

(अ० लो० प०) पृ० ३६

सिन्दूर सुशोभित कान्तिमय मुख युक्त पत्नी प्रसव-पीड़ा ग्रस्त है। पति उसकी आकुलता देख कर दुखी होता है। वह उसके कष्ट-निवारण के लिये हर कार्य करने को तत्पर होता है। पत्नी अपने पति के हृदय की वास्तविक संवेदना और सहानुभूति पाकर अपने कष्ट को बहुत कुछ भूल जाती है। इस गीत में मानवीय संवेदना का महत्व प्रदर्शित होता है। भीषण कष्ट के उस अवसर पर आत्मीय जनों की सहानुभूति

1. रस।
2. पीड़ा होना।
3. बगल।

ही संबल स्वरूप होती है। कोई भी स्त्री अपने स्वामी को कष्ट उठाते नहीं देख सकती, वह सारा कष्ट स्वयं सह लेगी। यहाँ हम मनोवैज्ञानिक भावना का सुन्दर प्रदर्शन हुआ है। पति उसके कष्ट को दूर करने के लिये उत्तम खाद्य पदार्थ, आरामदायक पलंग और चमेली-वन का तप्न लाने के लिये उद्यत होता है तो अपने कष्ट को जैसे वह एक क्षण को भूल जाती है और कह उठती है—

> हे राजा वन ते न उतरे चित ते न बिसरै रे।
> उई राजा जइहे चमेली वन कैसे जियो राखो मैं ना जिया राखौ रे॥

अन्त में अकेली सब कष्ट सह कर वह पुत्र रत्न प्राप्त करती है। सर्वत्र पुलक छा जाता है, बधावे बजने लगते हैं, मंगल गान होने लगता है।

प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक दूसरे के सुख-दुख में सहभागी होते हैं। प्रसव का कष्ट ऐसा है जिसे स्त्री अकेली ही वहन करती है। यद्यपि पुरुष इस कष्ट को बाँट नहीं सकता परन्तु अपने मधुर व्यवहार से, सहानुभूति के मार्मिक शब्दों से वह स्त्री के कष्ट को, एक बड़ी सीमा तक दूर कर सकता है।

एक भोजपुरी गीत में पत्नी के कष्ट से व्याकुल पति की उन्मत्तावस्था का सुन्दर चित्रण किया गया है।

> महल मे दियरा[1] बारि अइलों, सइया के जगाई अइलों रे।
> प्रभुजी के अंगुरी ममोरि अइलो, अबकी बेदनिया अगवौ[2] रे ॥१॥
> उहवा से जे अइलों त मचिया बइठलों, आमा पूछे हो।
> बबुआ ताहार मनवा उदास काहे के मन बेदिल[3] हो ॥२॥
> उहवा से जो अइलों त पासावा खेलत यार पूछमु हों।
> यार काहे राउर मनवा उदास काहे रे मन बेदिल हो ॥३॥
> पानावा अइसन धनिया पातरि हुई हो।
> कुसुमवा अइसन सुन्दरि हुई हो ॥४॥
> यार जी उहे धनिया वेदने बेयाकुल।
> ओहि कारन मनवा बेदिल भइले हो ॥५॥

(भो० लो०) पृ० १५४

कष्ट अनुभव होने पर गर्भवती स्त्री महल में दीपक जला कर, अंगुली मरोड़ कर सोए हुए पति को जगाती है। स्थिति समझ कर पति उसे कष्ट सहन करने का धैर्य बंधाता है। पत्नी के कष्ट का अनुमान लगा कर वह स्वयं भी अत्यधिक दुखी हो उठता है। उसकी माता तथा मित्र जब उदासी का कारण पूछते हैं तो अत्यन्त करुणा से भर कर वह उत्तर देता है कि पान के समान पतली तथा कुसुम के समान सुन्दर पत्नी प्रसव वेदना से व्याकुल है, उसी कारण उसका चित्त उदास है।

---

1. दीपक।
2. सहन करो।
1. उदास।

अवधी लोकगीत में भी पत्नी के कष्ट से त्रस्त पति का चित्रण हुआ है। किन्तु यहाँ पति उतना संवेदनाशील नहीं है। वह गर्भ-वेदना को सहज स्वाभाविक मान कर मात्र ईश्वर का भरोसा करने की सलाह देकर मुक्त हो जाता है—

केकर ऊँच मंदिलवा तो पुरुब दुआरिया हो।
रामा 'कौन' राम परम सुनरिया त बार न बाधइ सिर न सवारइ,
भुंइयां पर लोटइ हो ॥१॥

ससुर ऊंच मंदिलवा त पुरू दुआरिया हो।
'कवन' राम परम सुनरिया त बार न बाधइ सिर न सवारइ-
भुइयां पर लोटइ हो ॥२॥

अगना बटोरत चेरिया औरो लउडियाउ हो।
चेरिया राजा के खबर जनाउ बेदन मोर कहियो हो। ३॥
पसवा जे खेलत 'कवन' रामा रजवा कवन राम हो।
राजा तोरी धना बेरना लेआकुल तुहंके बोलावए हो ॥४॥
पसवा जे फेंके राजा बेल तर औरो बबुर तर हो।
राजा झपटि पइठेगओ बरि वहै रे धन बेदन हो ॥५॥
मुड मोर बहुत घम कं अरे कडिहर[1] सालइ हो।
राजा मुसलिउ[2] कयरिया नी पोर तो दाई बोलावहु हो ॥६॥
तुम राजा बइठो गोडवरिया[3] हम मुडमबरिया[4] हो।
राजा पहर पहर पीर आवं दुनो जन थंगइब[5] हो ॥७॥
छानी[6] जो होन त छवतेउ मरद बोलउतें उ हो।
रानी बेदन की बाधी मोटरिया कले कल छूटिहि—
त छोरहि नरायन हो ॥८॥
आवहु रान्ह परोसनि तुहुँ मोर गोतिन हो।
गोतिन यहि औरहिमा समभावो बेदन कइसे बीटी हो ॥९॥

(क० कौ०) पृ० २४४

कष्ट मे तडपती हुई स्त्री दासी के द्वारा पति को सूचना भेजती है। खेल और बबूल के नीचे पासा फेंक कर पति आता है और कुशल पूछता है। कष्ट का वर्णन करके स्त्री उससे पास मे बैठने का आग्रह करती है और मिल कर वेदना सहना चाहती है। परन्तु, पति का हृदय करुणा और दुःख से नहीं भरता उसका मुख उदास नहीं होता। बल्कि बौद्धिक शुष्कता के साथ वह कहता है कि छप्पर छाने का

1. कमर।
2. मार दिया।
3. पैताने।
4. सिरहाने।
5. सहना।
6 छप्पर।
7. धीरे-धीरे।

कार्य होता तो अभी मैं मर्दों को बुला कर छवा देता परन्तु इस कार्य में तुम्हारी क्या सहायता करूं। यह दुःख की गठरी तो भगवान ही धीरे-धीरे खोलेगा। तत्पश्चात् वह पड़ोसिनों को बुलवाकर कहता है कि इस पगली को समझाओ कि यह पीड़ा कैसे बाँटी जा सकती है।

पति को पत्नी से सहानुभूति तो है पर, अपनी ओर से कष्ट-निवारण की सक्रियता का अभाव है। इसीलिये, यहाँ पति का रूप, अपेक्षाकृत, असहृदय हो उठा है। स्त्री की मनोदशा का स्वाभाविक चित्रण है।

जिस प्रकार तिमिराच्छन्न गृह-प्रांगण में दीपक जलाते ही आलोक बिखर जाता है और सम्पूर्ण अंधकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार शिशु के जन्म लेते ही सम्पूर्ण कष्टों का तिरोभाव हो जाता है। समस्त कठिनाइयों 'चिन्ताओं एवं व्यग्रताओं को भूल कर सारा कुटुम्ब-परिवार आनन्दातिरेक से भर जाता है। हर्ष-सूचक वाद्ययंत्र बज उठते हैं, स्त्रियाँ मंगल गान गाने लगती हैं, वस्त्राभूषणों का दान होने लगता है।

इसी प्रकार के सुख-समारोह का वर्णन भोजपुरी और अवधी—दोनों गीतों में मिलता है। भोजपुरी गीत मे, राजा दशरथ के घर राम का जन्म हुआ है। हर्षातिरेक मे कौशल्या रानी तथा स्वयं राजा वस्त्राभूषणों के दान का आयोजन करते हैं—

> चार खण्ड के हवेलिया चुने चुनवटले[1] रे।
> एजी ताहि चढ़ि सुते राजा दसरथ, कोसिलारानी लाइ[2] लावे रे॥१॥
> का हम देबो बमन[3] जी के अवरु भटन[4] जी को रे।
> का हम देबो धगड़ीनि कन्हैया जी के जनम नु रे॥२॥
> सोनवा मैं देबो बमन जी अवरु रुपवा भटन जी के रे।
> रानी पाचो[5] टुक कपड़ा धगड़ीनिया कन्हैया के जनम नु रे॥३॥
> पहिरि ओढ़ि धगड़ीनि ठाढ़ भइली, अदित[6] मनावेली हो।
> अदीत बढ़सु कवन राम सन्तति, आहीं मोर आदर हो॥४॥

(भो० लो०) पृ० १२६

पुत्र-जन्म के कारण माता एवं पिता दोनों को अपार हर्ष है। वे इस अवसर पर मुक्त हस्त से दान देते हैं। ब्राह्मण को सोना, यश गान करने वाले भाटों को चाँदी तथा पुत्रोत्पत्ति मे सहायता करने वाली धाय को पाँच प्रकार के वस्त्र दिये गये। प्रसन्न होकर धाय सूर्य भगवान से शिशु की दीर्घायु की कामना करती है।

---

1. चूने से पुते हुए।
2. मसरा।
3. ब्राह्मण।
4. भाट।
5. पाँच वस्त्र (धोती, कुरता, गमछा, चादर, पगड़ी) साड़ी, जम्फर या साया, अंगिया, ओढ़नी।
6. सूर्य।

अवधी में भी पुत्र जन्म के अवसर पर राम-जन्म सम्बन्धी अत्यन्त सुन्दर सोहर गाया जाता है—

चैतहि के तिथि नवमी तो नौबति बाजई हो ।
बाजइ दसरथ राज दुआर कौसिल्ला रानी मंदिर हो ॥१॥
मिलहु न सखिया सहेलरि मिलिजुरि चालिन हो ।
जहाँ राजा के जनमे हैं राम करिय नेवछावरि हो ॥२॥
केउ नावै[1] बाजू औ बन्द केउ बजरावट हो ।
केउ नावै दछिनवा क चीर करहि नेवछावरि हो ॥३॥
सिनरा से निकरी कौसिल्ला अननवहि ठाढ़ी भई हो ।
रानी धई धई हिरदै लगावै लगावै करैं नेवछावरि हो ॥४॥
राम नयन रतनारे कजर मन मोहै हो ।
दीनहो रचि रचि फुआ सुभद्रा नउ पतरी अगुरियन हो ॥५॥
राम के मथवा घुंघुरवा- बहुत निक लगाइ हो ।
जैसे फूलन के बिचवा कलिया बहुत निक लागइ हो ॥६॥
राम के गोड़वा घुंघुरवा बहुत निक लागइ हो ।
नान्हे गोड़वन चलत बकैया देखत राजा दसरथ हो ॥७॥
जो यह मंगल गावहि गाइ सुनावइ हो ।
सो हो तुलसी जगत तरि जाय अमर पद पावइ हो ॥८॥

(क० कौ०) पृ० २१४ ।

राम-जन्म के शुभ अवसर पर राजा दसरथ के द्वार तथा कौशल्या के अन्तःकक्ष में नगाड़े बज रहे हैं। नगर की स्त्रियाँ भाँति-भाँति के वस्त्राभूषणों को नवजात शिशु पर न्योछावर कर रही हैं। कोई बाजूबन्द, कोई बजरौटा और कोई दक्षिणी चीर दान कर रही है। कौशल्या रानी भी सबसे आह्लाद पूर्वक भेंट करती हुई विभिन्न वस्तुओं का दान कर रही है। राम का स्वरूप अत्यन्त मनोहर है। सुभद्रा बुआ के द्वारा कज्जल रंजित नेत्र शोभनीय हैं, माथे पर घिरी घुंघराली लटें मनोरम हैं और पैरों में बंधे सुन्दर घुंघरू की शोभा अवर्णनीय है। माता-पिता का हृदय पुलकित हो रहा है। कल्पनानुसार इस गीत में जन्मकाल से लेकर आगे के समय तक का चित्रण हुआ है जब राम घुटनों चलने लगे हैं। सुभद्रा को राम की बुआ मानना भी लोक कल्पना है।

समान भाव संयुक्त अवधी का एक अन्य गीत भी है जिसमें राम-जन्म, दानोत्सव एवं स्वरूप-वर्णन का अधिक प्रभावशाली चित्रण हुआ है। उपर्युक्त गीत की भाँति यह गीत भी जन्म के अवसर पर लोकप्रिय सोहर के रूप में गाया जाता है—

चैतहि की तिथि नउमी कि नौबति बाजइ ।
राजा राम लिहिन अउतार अयोधिया के ठाकुर ॥१॥
दसरथ पटना लुटावै कौसिल्ला रानी अभरन ।
रानी कैकेइ वस्त्र लुटावैं, सुमित्रा रानी सुबरन ॥२॥

1. नावै ।
2. सटें ।

राम के मथवा भलरिया बहुत निक लागै, अधिक छवि लागइ ॥
मानो कमल कर फूल भंवर मिर नुनै[1] करै ॥३॥
राम के पाँय पैजनिया बहुत निक लागइ, अधिक छवि लागइ ।
ए हो चलत मधुरियन चाल त रुनिभुनि बाज्इ ॥४॥
राम के कमर करधनिया बहुत निक लागे अधिक छवि लागइ ।
संवरे बदन पर अंगुलिया दमिन चित चोरउ ॥५॥
राम के नयन कजरवा अधिक निक लागे बहुत छवि लागइ ।
अब दोन्ही है फूफू सहोदर अगुरिया न्याहो डोलइ ॥
ऐसी मूरत जो पउतिउँ हृदया बसउतिउँ ।
पीत पीताम्बर ओढउतिउँ ललन कहि बोलउतिउँ ॥७॥

(क० कौ० पृ० ३०१ ।)

इस गीत में पूर्व गीत की अपेक्षा प्रत्येक तत्व का सबल वर्णन हुआ है। राम के जन्म पर केवल कौशल्या ही प्रसन्न नहीं है, वरन् कैकेयी एवं सुमित्रा भी प्रफुल्लित हैं और वैभव लुटाने में व्यस्त हैं। राम की सुन्दर छवि का वर्णन इस गीत में अधिक विस्तार से हुआ है। सौन्दर्य वर्णन में काव्योचित गुणों का समावेश लक्षित होता है। राम के माथे पर बिखरे बाल ऐसे लगते हैं मानो कमल के फूल पर भौंरे मुग्ध हो रहे हों। मंद-मंद चलते समय पैरों में बधे नुपुरों की ध्वनि अत्यन्त मधुर लगती है। कमर की करधनी बहुत सुहावनी है। श्याम शरीर पर पीले रंग की झगुली से समक्ष विद्युत की शोभा न्यून है। सुभद्रा बुआ के द्वारा काजल सुशोभित नेत्रों की शोभा भी अनुपम है।

पुत्र-जन्म के शुभ अवसर पर पारितोषिक वितरण का विशेष महत्व होता है। ब्राह्मण, नाऊ, बारी, धाय आदि सबको यथायोग्य पुरस्कार प्राप्त होता है, किन्तु इस अवसर पर सबसे अधिक माँग की अधिकारिणी धाय ही समझी जाती है। लड़-झगड़ कर सबसे अधिक पुरस्कार प्राप्त करना उसका अधिकार होता है। इसका कारण है कि शिशु-जन्म के पश्चात् अनेक आवश्यक कार्य उसी के द्वारा सम्पन्न होते हैं। शिशु का नाड़ा काटना, नहलाना, जच्चा को स्वच्छ करना, उसी का कार्य होता है। अतः लोकगीतों में 'धाय' का विशेष महत्व प्रदर्शित है—

नन्द जी के महल बा आनन्द, त मुनि सब हरसेले हो।
आहो ललना धगड़िन पड़ेला हंकार[2] तब बेगि चलि आवहु हो ॥१॥
काहा बाडी अगड़िन विधि बनावल हो।
आहो ललना छिनसु[3] रमइया[4] जी के नान त अवरि[5] सुतावहु हो ॥२॥

1. मुग्ध होना।
2. पुकार।
3. काटना।
4. पुत्र।
5. उबटन लगा कर।

सासु सुपवेलि ल्हैवा, त ननदि मोहरवा रे ।
लला मोतिनि गुटवेलि बनउरवा[1] मोतिनिया फेरिहै पाइब रे ॥३॥
सासु के डार्गानिं पटियवा, ननदी रे मचियवा हू रे ।
ललना मोतिन के पलग रेसमिया, मोतिनिया फेरिहै पाइब रे ॥४॥
सासु के दिहलि चुनरिया ननदी के पियरिया हू रे ।
मोतिनि के लहरा पटोरवा[3] मोतिनिया फेरि[4] पाइब रे ॥५॥

(भो० लो०) पृ० १६१ ।

घर में बहू के पुत्र-जन्म होने पर सास और ननद ने नाइन तथा बारिन को गाँव में सन्देश देने भेजा । सन्देश सुनकर जिठानी ने अपने पति से कहा कि देवरानी का ऋण चुकाने जाना है । गाती हुई और रुपया लुटाती हुई सास, बाजे बजवाती हुई और मोहरें लुटाती हुई ननद आती है । पर जिठानी क्रुद्ध रूप में बिनौले लुटाती हुई आती है । रूप के इस अवसर पर जिठानी की ईर्ष्या का चित्रण किया गया है । बहू अपनी सुशीलता का परिचय देती हुई सास को पलंग, ननद को मचिया और जिठानी को रेशम से बिने हुए पलंग पर बैठाती है । सास को वह चुनरी देती है, ननद को पियरी देती है और जिठानी को लहरदार वस्त्र (साड़ी) देकर विदा करती है । जेठानी की ईर्ष्या को देवरानी अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार से जीत लेती है ।

यहाँ गृह-वधू की कुलीनता एवं सुशीलता का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है ।

अवधी गीत में परिवार के विभिन्न सदस्यों तथा सेवक गणों को पुत्रवती स्त्री द्वारा नेग वितरण का उल्लेख किया गया है—

जचवा तेरा बच्चा जीवे, जीवें हो लाल ॥१॥
सासू का मैं कंगना दीन्हो ननद का तिलरिया ।
जिठानी का जयमाला दीन्हो दीन्हो हो लाल ॥२॥
नाउनि का मैं चुनरी दीन्हो बारिन का पियरिया ।
तेलिनिया का मैं सारा दीन्हो दीन्हा हो लाल ॥३॥
पंडित का मैं हाथी दीन्हो, भाट का मैं घोड़ा ।
देवर का मैं मुंदरी दीन्हो दीन्हो हो लाल ॥४॥
मोंढ़ा चढ़ि के सैंया बोले, सुनि रनिया मोरी बात ।
सबका तो तुम सब कुछ दीन्हो, हमका बेकार ॥५॥
परदे भीतर जच्चा बोली, सुनु राजा मोरी बात ।
तुमका तो मैं सब कुछ दीन्हो, बस उजागर दीन्हो ।
बाबा जी को नाम दीन्हो, दीन्हो हो लाल ॥६॥

(अ० लो० प०) पृ० ५४

4. बिनौला (कपास का बीज) ।
1. बिछाई ।
2. कपड़ा ।

पुत्र प्राप्ति के सुअवसर पर हर्ष-पुलकिता माता सबको वस्त्राभूषण का दान करती है। सास को कंगन, ननद को बिजरी, जिठानी को माला, नाउन को चुनरी, बारिन को पियरी, तेलिन को साड़ी, पंडित और भाट को हाथी-घोड़ा तथा देवर को अगूठी प्रदान की। सब को नेग देते हुए देख कर पति भी विनोद भाव से अपने लिये कुछ माँगता है। इस पर स्त्री बहुत सुन्दर उत्तर देती है कि आपको तो मैंने सब कुछ दे दिया, आपको वंश-वृद्धि करने वाला बालक दिया है।

गीत की अन्तिम पंक्तियों का भावोत्कर्ष मनोहर है। इस गीत में पुत्रवती जच्चा पूर्ण गीत की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक प्रतीत होती है। क्योंकि जो वस्तुयें वहाँ सास-ननद को दी गई हैं, वे यहाँ नाइन बारिन को दी जाती हैं।

इस संसार में सर्वत्र गुण के साथ दोष का भी अस्तित्व है। लोक-जीवन में जहाँ गुण अपने भव्य स्वरूप में प्राप्त होता है वहीं दोष भी अनावृत और नग्न रूप में देखा जा सकता है। इसलिये जहाँ एक ओर शान्त-सुशील कर्तव्यनिष्ठ गृह-वधू का मधुर, आकर्षक रूप अंकित हुआ है, वहीं दूसरी ओर ईर्ष्यालु, झगड़ालू, स्वार्थी और कठोर रूप में भी उसका चित्रण हुआ है।

जन्म-गीतों के अन्तर्गत इस प्रकार के गीतों का भी प्रचलन है जिनमें सास, ननद इत्यादि की उपेक्षा की गई है और आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करने के लिये माता, बहन और भाभी को महत्व दिया गया है—

सासु अइहे ना हमार, आरे का करिहे।
अवटन आपन आमा बोलइबो, हमे रगोले के का केहु करिहें ॥१॥
आरे ननद ना अइहे हमार का करिहे, हमे अइसन सुन्दरि के
का केहु करिहे।
आरे बबुआ खेलावन, बहिना बोलइबो, हमार का करिहें ॥२॥
आरे गोतनी ना अइहें, हमार का करिहे।
हारे हलुवा बनावन आपन भउजी बोलाइबा ॥३॥
हमे रँगीली के का केहु करिहे।
हमरा अइसन सुन्दरि के का केहु करिहे ॥४॥

(भो० को०) पृ० १५८

एक स्त्री की अपने पिता के प्रति उक्ति है कि प्रसव-समय में सास ननद और जिठानी के न आने से किसी प्रकार की क्षति नहीं है। उपटन लगाने के लिये, बबुआ खिलाने के लिये और हलुवा बनाने के लिये अपनी माता, बहन और भाभी को बुला लिया जावेगा। गीत में वधू की गर्व-भावना की स्पष्ट झलक है—'हमे रगीली के का केहु करिहे।' इस प्रकार के गीतों की रचना गर्वीली, मानिनी, कर्तव्य-च्युत स्त्रियों का व्यंग्य-चित्रण करने के लिये ही होती है। समाज में उक्त प्रवृत्तियों से युक्त स्त्रियों का अभाव नहीं है।

अवधी गीतों के अन्तर्गत भी इस प्रकार के चित्रण प्राप्त होते हैं—

तो मइके माँ मुनुआ जनमु-लीन्ह, ससुरे बधइया बाजै रे।
द्वारे से रजवा भीतर आए, रनिया से मन्त्र करै रे ॥१॥

रानी न हो मोरी रानी, तुमहि मोरी रानी रे।
रानी तुम्हारे मे है नन्दलाल, तो कोहिका मे नेउतहुँ रे ॥२॥
तो नेउतहु माया हमारि सासु पिया आपनि रे।
राजा नेउतहु दइसी हमारि ससुर पिया आपनु रे ॥३॥
तो नेउतहु मोसी हमारि, सरहज पिया आधीनि रे॥
राजा नेउतहु भइया हमारि, सार पिया आपनु रे ॥४॥
नेउतहु बहिनी हमारि, नारि पिया आपनि रे।
राजा नेउतहु बहनोइया हमार साढू पिया आपन रे ॥५॥
तो रनिया न हो मोरी रनिया, तुमहि मोरी रनिया रे।
रनिया छोटी सो बहिनी हमारि तो उनहुँ का नेउतब रे ॥६॥
तो राजा हो मोरे राजा तुमहि मोरे राजा रे।
राजा छठिया मे हरिहो उठाय ननद न बुलइहो रे ॥७॥

(अ० लो० प०) पृ० ६६

इस गीत मे पुत्र-जन्म के अवसर पर पति प्रश्न करता है कि किन-किन को आमन्त्रित किया जाय। पत्नी का उत्तर है कि अपनी सास, सरहज, साली तथा ससुर, साले और साढू को ही आमन्त्रित करो। पति अपनी छोटी बहन को भी बुलाना चाहता है। इस प्रस्ताव को सुनकर पत्नी पुत्र की छठी उठा डालने की ही धमकी दे देती है। इस गीत मे ननद के प्रति भीषण ईर्ष्या का भाव व्यक्त किया गया है।

पुत्र-जन्म के अवसर पर पुत्र की बुआ का बधावा लेकर आना प्रसिद्ध है। बधावा सम्बन्धी गीत भोजपुरी और अवधी दोनों क्षेत्रों मे गाए जाते हैं।

एक भोजपुरी गीत मे दो बहनों का बधावा लेकर आने का उल्लेख है जिनमे एक अमीर और एक गरीब है। भाई दोनो बहनों के साथ दो प्रकार का व्यवहार करता है। वर्तमानकाल के स्वार्थी सम्बन्ध का स्पष्ट चित्रण इस प्रकार के गीतों मे मिलता है—

सुखिया दुखिया दूनो बहिनिया।
दूनो बधइया लेइ अइली हरे राजा बीरन ॥१॥
सुखिया जे लाई गुजहरा[1] गोड़हरा[2]
दुखिया त दूब के पोढा[3] हरे राजा बीरन ॥२॥
सुखिया जे पूछेली अपने बीरन से।
विदा करो घर जाई हरे राजा बीरन ॥३॥
लेहु न बहिनी खोइछा भर मोतिया।
सैंया चढन के घोड़वा हरे राजा बीरन ॥४॥

---

1. हाथ का कड़ा।
2. पैरा का कड़ा।
3. लच्छा।

दुखिया जे पूछेले अपना बीरन से।
विदा करहु घर जाईं हरे राजा बीरन ॥५॥
लेहु न बहिनी खोइछ भर कोदो[1]।
उहे दूब के पौडा हरे राजा बीरन ॥६॥
गंउवा[2] गयेडवा[3] लपही ना पवले।
दुखिया झरन लागे मोती हरे राजा बीरन ॥७॥
कोठवा जे चढ़ि के त भऊजी पुकारेनि।
ननदी रूठल घरवा लावहु हरे मोरे बालम ॥८॥

(भो० लो० में करुण रस) पृ० ५३

भाई के यहाँ पुत्र-जन्म का सन्देश पाकर सुखिया-दुखिया दोनो बहने बधावा लेकर आती हैं। सुखिया अपने साथ गुजहुरा और पेरों का कड़ा उपहार स्वरूप लाई और दुखिया केवल दूब का लच्छा ही ला सकी। बहनों की विदाई के अवसर पर सुखिया को उसका भाई अंचल भर के मोती और घोड़ा देता है पर दुखिया को अंचल भर के कोदों और वही दूब का लच्छा देता है। दुखिया इन वस्तुओं को लेकर गाँव की सीमा पार भी नहीं कर पाई थी कि उसके अंचल की दूब से मोती झरने लगे। जब भाभी ने यह चमत्कार देखा तो वह ननद को वापस ले आने का आग्रह करने लगती है।

इस गीत मे भावनाओं की महत्ता दिखाई गई है तथा धन का लोभ करने वाले व्यक्तियों को हीन प्रतिपादित किया गया है। एक भाई का अपनी सगी बहनों के प्रति भेद-भाव का बर्ताव निन्दनीय है।

इस गीत का प्रचलन अवधी क्षेत्र मे भी है। शब्दो का स्वरूप परिवर्तित है, परन्तु भावनाओं मे पूर्ण साम्य है—

सुखिया दुखिया दोनों बहिनिया।
दोनो बधावा लै आईं हरे राजा बीरन ॥१॥
सुखिया जे लाई गुजहरा गोड़हरा।
दुखिया दूब के पौड़ा हरे राजा बीरन ॥२॥
सुखिया जे पूंछइं अपने बीरन से।
बिदा करो घर जाईं हरे राजा बीरन ॥३॥
लेहु न बहिनी कोछ भरि मोतिया।
सैंया चढ़न का घोड़ा हरे राजा बीरन ॥४॥
दुखिया जे पूछइं अपने बीरन से।
बिदा करो घर जाईं हरे राजा बीरन ॥५॥
लेहु न बहिनी कोछ भरि कोदो।
वहै दूब का पौंडा हरे मोरी बहिनी ॥६॥

---

1. एक प्रकार का अनाज।
2. गाँव।
3. गाँव की सीमा।

गउवां गोड़ दवा नसही न पायो।
दुन्या भरय लागो मोती, हरे राजा बीरन ॥७॥
कोठे चढ़ी जे मौजी पुकारें।
मड़ी ननद घर आओ, हरे मोरे राजा ॥८॥

(क० कौ० पृ० २७६)

शुद्ध प्रेम की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यंजना इस गीत में प्राप्त होती है। शुद्ध प्रेम कभी निष्फल नहीं होता। वह दूब में मोती बन कर भरता है। दरिया के अतिरिक्त संत के समस्त पात्र स्वार्थ में लिप्त हैं। आधुनिक पारिवारिक जीवन की स्वार्थी परम्परा का प्रदर्शन इस गीत में हुआ है।

अवधी गीतों में 'बधावा' का जितना उल्लेख प्राप्त होता है उतना भोजपुरी गीतों में नहीं। अवधी क्षेत्र में बधाई सम्बन्धी गीत विभिन्न प्रकार से गाए जाते हैं। पुत्र की बुआ द्वारा 'बधावा' लेकर आने के समय बड़े उत्साह से ये गीत गाये जाते हैं—

देखो ब्रज मा बधाई बजैं ॥१॥
काहे के छुरवा से नार छिनायो, काहे के जल अन्हवायो।
सोने के छुरवा से नार छिनायो, जमुना के जल अन्हवायो ॥२॥
केहि की कोखिया मा जनमु लियो है, केहिके तुम लाल कहायो।
देवकी की कोखिया मा जनमु लियो है, जसुदा के लाल कहायो ॥३॥

(अ० लो० प० पृ० ८४)

बधाई के शुभ-अवसर पर कृष्ण जन्म का आनन्द स्मरण किया जा रहा है। प्रायः गीतों का आरम्भ किसी देव-विषयक गीत से ही किया जाता है। नन्द के यहाँ पुत्र-जन्म के अवसर पर आनन्द के वाद्य बज रहे हैं। कृष्ण ने देवकी के गर्भ से जन्म लिया है पर यशोदा के लाल कहलाते हैं। सोने के छुरा से उनका नारा काटा गया है और यमुना के जल से उन्हें स्नान कराया गया है।

यह गीत भाव की दृष्टि से पूर्ण नहीं प्रतीत होता। इस अवसर पर गाया जाने वाला एक अन्य अवधी गीत इस प्रकार है—

भये नन्द जी के लाल बधावा लाई मालिनिया ॥१॥
कहा लाई मालिनि तो कहा तम्बोलिनिया।
तौ कहा लाई आज सुघर पटवारिनिया ॥२॥
गजरा लाई मालिनि तो बिरिया तम्बोलिनिया।
कोई अच्छे से वन्दनवार सुघर पटवारिनिया ॥३॥
काह मागउ मालिनि तो कहा तम्बोलिनिया।
कोई अच्छा दक्खिनु का चीर मागे पटवारिनिया ॥४॥
मालिनि देति असीस तम्बोलिन उठि हरषी।
जुगु-जुगु जियै तेरा लाल, कहै पटवारिनिया ॥५॥[1]

(अ० लो० प० पृ० ८४)

1. प्रो० इन्दु प्रकाश पाण्डेय के अनुसार पटवारिन शब्द पटवाइन का रूपान्तर हो सकता है। पटवाइन (पटुआ की स्त्री) रेशम का वन्दनवार लाती है।

पुत्र-जन्म के अवसर पर बधावा के रूप में मालिन, तम्बोलिन और पटवारिन क्रमशः फूलों का गजरा पान के बीड़े और रेशम का वन्दनवार लेकर आती हैं। तत्पश्चात् यथायोग्य पुरस्कार पाकर नवजात शिशु को आशीष देती हुई वे चली जाती हैं।

एक अन्य अवधी गीत है जिसमे नन्द का बधावा लेकर आना उल्लिखित है—

मोरे अंगने मा चम्पा का बिरवा फूला फूले आधि राति हो।
वही फूल भाभी हार जो गूथैं हार खूंटनि बिच टाँगिये हो ॥१॥
इतने लहुआ पायन लागल, नन्द बधाव लैके आई हैं हो।
अपनी नन्द का मैं पुरिया बेलाय देहौं ये ही भतीजे के सोहिले हो ॥२॥
अपनी नन्द का मैं खीर रंधाय देहौं, जेवे भतीजा मेरा लाडिला हो।
जेय जूठि नन्द उठि चली हैं, चितु गुटिनि बीचु आइये हो ॥३॥
यह ना हार भाभी हमका दीन्हो यही भतीजे के सोहिले हो।
जोई जोई देखो ननदी सोई सोई मागो, बिनई दीन्हे कैस पाइए हो ॥४॥
भरी सभा मे भाभी ऐसे बैठी जैसे एमल हथिया हो।
द्वारे से आए राजा रामचन्द्र का धना तुम अनमनि हो ॥५॥
बार बार मैं बरजो रे राजा नन्द परोसे ना बसै हो।
आपनि जिमिया कलम करो रनिया, बहिनि परोसिन न कहो हो ॥६॥
अपनी बहिनी का मैं महला उठाय देहौं, ये ही भतीजे के सोहिले हो।
अपनी बहिनी का मैं महसी मगाय देहौं दूधु भनेजा मेरा रोजु पिये।
दूधु दूधु मोरे पियैं लाडिले मादो भनेजा मोरा लाडिला हो ॥७॥

(अ० लो० प० पृ० ८५-८६।)

भाभी ने आगन में लगे चम्पा-वृक्ष से फूल तोड कर माला बनाई और खूंटी पर टाग दी। इतने मे ननद अपने भतीजे के जन्म पर बधावा लेकर आ गई। भाभी ने भतीजे के जन्म के उपलक्ष मे ननद के लिये पूड़ियां बनवा दीं। भोजन के उपरान्त ननद ने चम्पा का हार अपने लिये भाभी से मागा। भाभी नाराज हो गई और अपने पति से, ननद के पड़ोस मे रहने के कारण शिकायत कर उठी। परन्तु भाई अपनी बहिन को बहुत स्नेह करता था अत वह पत्नी को डांट देता है और बहन के लिये महल उठवा देने तथा भान्जे के लिये भैंस खरीद देने का आश्वासन देता है।

इस गीत मे बधावा की प्रथा की ओर संकेत किया गया है। ननद बधावा-स्वरूप जो कुछ लेकर आती है, उससे अधिक ही उर नेग देकर विदा करना होता है। भाभी के द्वारा ननद की निन्दा करने पर भाई को क्रोध आ जाता है और वह स्वयं प्रथा के अनुकूल व्यवहार पालन करता है।

पुत्र-जन्म के अवसर पर कुछ अन्य प्रकार के गीत गाये जाते हैं जिनमे सरिया के गीत, रोचना के गीत, पलंग के गीत, झुनझुना के गीत, पालना के गीत, कठुला के गीत और आशीष के गीत प्रधान हैं।

उपर्युक्त प्रकार के गीत अवधी क्षेत्र में अधिक प्राप्त होते हैं। भोजपुरी प्रदेश में इस प्रकार के गीतों का प्रचलन कम है।

सरिया का गीत तो विशुद्ध अवधी है। जन्म सम्बन्धी गीतों के अन्तर्गत इसका विशेष महत्व है। यह गीत काफी बड़ा होता है और स्त्रियां बड़े उत्साह से इसे गाती हैं। छन्द तथा लय की दृष्टि से सरिया सोहर से भिन्न है। विषय दोनों का एक होने के कारण ही सोहर के अन्तर्गत इसे रखा जाता है। पुत्र-जन्म पर सर्व प्रथम सरिया गाया जाता है तत्पश्चात् विविध प्रकार के सोहरों का गान होता है। सरिया-गीत, जन्म, छठी, पसनी, मुंडन, छेदन तथा वर्ष गांठ के अवसरों पर गाया जाता है। सरिया का वृहत आकार होने के कारण सभी स्त्रियां इसे नहीं गा पाती। कुछ स्त्रियां गाती भी हैं तो पूरा गीत नहीं गाती। यह गीत अत्यन्त लोकप्रिय है। इसके गाने की विधि बहुत ही प्रवाह पूर्ण, सरल, मधुर और प्रभावपूर्ण है। इसके अन्तर्गत विषय को नाटकीय मनोहरता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। वर्णन तथा सवाद चुभते हुए एवं विनोदपूर्ण है। हास्य की सुन्दर परिस्थितियों का विन्यास हुआ है।

सरिया खेलन्ने पवन रामा, रानी के पवन रामा।
कहा सारी खेलिये मोरे लाल?
सरिया तो धरहु उठाय तो भउजी विरिह तरे।
तमोली की हाटिया मोरे लाल।
तुम्हे रानी बोलतो मोरे लाल ॥१॥
एक पार्न घरेनि डेहरिया तो दूसर पलंग पर
लई धना कंठ लगाय।
कहो धना बेदना मोरे लाल ॥२॥
लाज शरम केरी बात सकुच केरी बात
मरद आगे कया कहै मोरे लाल ॥३॥
"मोरा तोरा अन्तर एक कपट जिया नाहि-भेद जिया नाही
कहौ दिल खोलि कै मोरे लाल"।
कहो समुझाइ कै मोरे लाल ॥४॥
"आवा कूल मोरे कसकै दहिन मोर साले।
मारै पजरवा के पीर, चतुर दाई चाहिए मोरे लाल"।
सुघर दाई चाहिए मोरे लाल ॥५॥
"दाई के देस नहिं जान्यो कोस नहिं जान्हो
सुघर दाई कहां बसै मोरे लाल?
चतुर दाई कहां बसै मोरे लाल" ॥६॥
"पूछो न माया बहिनिया, सगी पितिअनिया।
कुआं पनिहरिया सहर के लोग से मोरे लाल।
नगर के लोग से मोरे लाल" ॥७॥
"पूछेनि माया बहिनिया, सगी पितिअनिया।
कुआ पनिहरिया सहर के लोग से मोरे लाल
नगर के लोग से मोरे लाल" ॥८॥
ऊंचा सा नगर अजोध्या हरे बस छावा।
अगर चन्दन का है रुख चम्पे केरी डार।

गुलाब सोहावन मोरे लाल ॥९॥
आगले के घोड़वा रामचन्द्र पछिले लछन लाल
पाछले भरत जी उबल बछेटवा मधु्दन रामा
दाई माई लेन चले मोरे लाल।
मुघर दाई लेन चले मोरे लाल ॥१०॥
टटवा मोरा बिजिआय, कुकुर दुः भूंके
कौन छे ' दुआरे ठाढ़।
सो सोवत जगाइए मोरे लाल ?
सो एता राते आइए मोरे लाल ? ॥११॥
केहि के हो तुम नाति केहि के बेटा।
कौनी महरिया के नाह,
सो सोवत जगाइए मोरे लाल ॥१ ॥
बाबा के हम नाति, 'दशरथ' केरे बेटा।
हम घर रनिया गरभ मन दरद बहुत हवैं मोरे लाल।
तो चलहु बुलवती मोरे लाल ॥१३॥
दाई तो बैठी पलग चढ़ि अंजन मंजन कीन्हे।
सोरहो सिंगार कीन्हे, नैन कजर दीन्हे
माग सिन्दूर भरे मुखहु तम्बोलु खाए।
बोलत गरब भरी मोरे लाल।
सलब नहीं देनि है मोरे लाल ॥१४॥
तेरी घना हंथवा के सांकरि मुंह की फोहरि।
देई नहिं जानति मोरे लाल।
अदब नहिं जानति मोरे लाल ॥१५॥
मेरी धन हथवा के गहवरि मुख मिठ बोलती।
देई भल जानति मोरे लाल ॥ ६॥
म सु तनद के बहुरिया।
अदब भल मानती मोरे लाल।
हुकुम मन मानती मोरे लाल ॥१७॥
कि तोरी माया पिरवानी बहिन दुख पाइए मोरे लाल ॥१८॥
माया के अदब न जान्यो बहिनी रजन घर
पान फूल ऐसी रनिया तो दरद बहुत हवें मोरे लाल।
तो चलहु बुलावनी मोरे लाल ॥१९॥
आवो पलंग पर बइठो करो मीसे बचन।
कहा मोहे देओगे मोरे लाल ॥२०॥
जो होइहैं नन्दलाल मैं बमरू गढ़इहौं।
मैं पाट पुहइहौं मैं घर पहुँचाइहौं मोरे लाल ॥२१॥
जो मोरे लछमिन चेरिया कुसुम रंग चुनरी मोरे लाल ॥२२॥
जेठ बैसाख केरा घाम ऊपर से पर्वं चूक।
चूके मा दाई न चलें मोरे लाल ॥२३॥

"तुम मेरा घोड़ा लेहु बछेड़ा लेहु।
सईसे बनि हम चलें तोरे साथ ॥२४॥
"सावन भादों केरी बीच अँधेरिया राति।
कीचड़ दाई न चलै मोरे लाल ॥२५॥
'सोमन हरम्भौ पेगऊं मसाल जलाऊं।
उजेरे दाई लै चलो मोरे लाल ॥२६॥
मार तुम केहा जाट जाइन दाई ना चलै मोरे लाल ॥२७॥
तुम मेरा माला लेहु दुमाला लेहु।
उघारे दाई हम चलें तोरे साथ।
लंगोटा मारे हम चलैं मोरे साथ ॥२८॥
दाई डोले असवार दसैं जन आगे दसैं जन पाछैं।
माभे री पनघिया पर दाई चवर डुलत आवें मोरे लाल।
हुकुम करन आवैं मोरे लाल ॥२९॥
दाई तो आई दुआरे पंवरि दुआरे।
सगुन रस भले भये मोरे लाल ॥३०॥
घोड़ी तो ब्यानी घोड़सार, भैंसि कुस दामर।
दही की दहेली लाई ग्वालिनि।
धीमर लायो माछिरी मोरे लाल ॥३१॥
धावो पलग पर लेटी भयो रस पेडुरी मोरे लाल ॥३२॥
लावो न कदवा तेलु मलौं तेरा पेट।
हलाई झुलाई मलौं रस पेडुरी मोरे लाल ॥३३॥
भोरे भयो पौ फाटत, लालन उर धरयो मोरे लाल।
लालन जन्म लियो मोरे लाल।
झडुलवा जन्म लियो मोरे लाल ॥३४॥
पूतु दीन्ह करतार, विधाता नाथ।
सासु केरि भाग ससुर केरि भाग, हमरिउ भागि।
लगंडिया दाई क्या कियो मोरे लाल।
टुडुनिया दाई क्या कियो मोरे लाल ॥३५॥
खाइनि गुड़ और सोंठि खवाइनि धाय नई मतवाल।
ललन लइके सोय रही मोरे लाल ॥३६॥
दाई कीन्हि अकवाह उठी सिर पीर।
लंगडिया दाई परदे से बाहर हो ॥३७॥
दाई के बड़े-बड़े दांत ऊपरा ऐसे होठ।
होरिलवा देखि डरें मोरे लाल ॥३८॥
सेर भरि जौ का आंटा टका एकु रोक।
तो गुड़ केरी डेली छिनरिया का करो विदा मोरे लाल ॥३९॥
आवैगी मेरी सासु करें तोरे बासु।
बासु लइकै जाओ घरें मोरे लाल ॥४०॥
आवैगा मेरा जेठ रमैं तेरा पेटु।

पेटु लइके जाओ घरै मोरे लाल ॥४१॥
आवगा मेरा देवर चलावै तेरे तीर।
घाव लइके जायो घरै मोरे लाल ॥४२॥
आवैगा मेरा राजा धरैगा तेरी बांह।
सवति होइके रहो घरै मोरे लाल ॥४३॥
फाटके है मति जायो।
फाटक के रखवाल कैद करै मोरे लाल ॥४४॥
खिड़की हैव मति जायो।
घोड़ा मेरा लात मारै मोरे लाल ॥४५॥
दुआरे ह्वै मति जायो।
कुकुरी मोरी टांग धरै मोरे लाल ॥४६॥
आगन है बड़ी कीच।
लगडिया दाई रपटि पड़ै मोरे लाल ॥४७॥
ऐसे बोल मति बोलो।
सुहागिनि नारि, सपूती नारि।
तो फिरि मोसे काम पड़ै मोरे लाल ॥४८॥
सखिया मा बैठे हैं राजा तो उनका बोलावो।
अलबेलो जच्चा के नौमति करै मोरे लाल ॥४९॥
सुहागिनि बच्चा के नामैति करै मोरे लाल।
दीन्हेहि नथुली औ लवकनु काने केरे बारी पत्ते।
दसहूं मुदरिया अनवट बिछुआ।
गरे गजमोतिन हार तो चौका जड़ाये की मोरे लाल ॥५०॥
दीन्हेन्हि रुपिया पांच अर्वान केरी मोर।
हुरद केरी गांठ मद कै गगरिया सिर पै।
पियाला बोहि के हाथ, पियत झुकत घर जाहु।
दोहाई नन्दलाल की मोरे लाल ॥५१॥
दाई देति असीस बढ़ो जगदीस।
लला का बाबा, लला का बधा।
लला का बप्पा, लला का भैया।
लला का जीजा, फूफा लला का नाना मामा।
तो सुब परिवार से मोरे लाल।
सुहागिनि और जलमियो मोरे लाल।
तो नित उठि आइए मोरे लाल ॥५२॥ (अ० लो० प० पृ० १९-२१)

इस गीत की सीमा में अनेक घटनाओं की अन्तर्निहित है। पुत्र-जन्म के पूर्व जच्चा की पीडा, पति का सवेदना, दाई को लिवाने जाना, दाई का नखरे करना और कठिन चेष्टा के उपरान्त पालकी मे चढ कर आना, नेग न मिलने पर झगड़ना, जच्चा का दाई को धमकियाँ देना और तंग करना था, अन्त में दाई का पुरस्कार लेकर सबको असीष देते हुए जाना—इन परिस्थितियों का बड़ा आकर्षक और स्वाभाविक वर्णन हुआ है।

आवश्यकता पड़ने पर दाई का शीघ्र न चलना और चलने से पूर्व भाँति-भाँति के नखरे करना जितना यथार्थ है उतना ही उच्चा के द्वारा कार्य पूर्ण हो जाने के उपरान्त दाई का निर्धारित पुरस्कार देने में आनाकानी करना भी सत्य है—दोनों स्थितियों का अत्यन्त स्वाभाविक निरूपण इस गीत में हुआ है। स्वार्थ पूर्ति के निमित्त सर्वस्व-त्याग का वादा एक सामान्य क्रिया है जिसका उल्लेख इस गीत में व्यंग्यात्मक ढंग से किया गया है।

अपनी वेदना व्याकुल रानी के लिये दाई को साथ ले जाने के समय राजा को उसकी अनेक प्रकार से खुशामद करनी पड़ती है। उसके लिये आभूषण बनवाने अपना घोड़ा देकर उसके साथ सईस बनकर चलने की मन सरसों के तेल में जली हुई मशाल के प्रकाश में उसे ले जाने और अपने दुशाले को उसे देकर स्वयं नग्न होकर चलने का निश्चय करना होता है। और तब वही मानिनी दाई महारानी की भाँति चलने को तय्यार होती है—

> दाई होले असवार, दसै जन आगे दसै जन पाछे।
> माझे की पलकिया में दाई तो चवर डुलत आवे मोरे लाल।
> हुकुम करत आवै मोरे लाल॥

पुत्र-जन्म होने के उपरान्त पुरस्कार प्राप्ति के समय दाई को अपने मान और नखरे का पूरा-पूरा बदला मिल जाता है। जच्चा रानी स्पष्ट स्वरों में दाई को घर से बाहर निकाल देने का आदेश देती है साथ ही उसका हर प्रकार से अपमान भी करती है। अत्यन्त तंग होकर अन्त में दाई विनम्र निवेदन द्वारा रानी को शान्त कर लेती है और भली-भाँति पुरस्कृत होकर जाती है।

शुभ शकुनों को अभिव्यक्त करने वाली लोक-मान्यताओं का ज्ञान इस गीत में प्राप्त होता है—

> सगुन रम भले भए मोरे लाल।
> घोड़ी तो ब्यानी घोड़सार भैंस कुन डामर।
> दही की दहेड़ी लाई ग्वालिनि धीमर लायो माछिरी मोरे लाल।

सम्पूर्ण गीत में हास्य-विनोद का मनोरञ्जक वातावरण उपस्थित हुआ है। कहीं-कहीं हास्य की परिणति अश्लीलता में हो गई है। लोक-जीवन में मनोरञ्जन के लिये अश्लीलता का प्रचार अभी तक प्राप्त होता है।

'रोचना' के गीतों की लय सोहर-गीतों के समान ही होती है। पुत्र-जन्म के अवसर पर सम्पन्न होने वाली विविध विधियों में से रोचना भी एक महत्वपूर्ण विधि है। पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात् परिवार का नाई रोचना लेकर सम्बन्धियों के यहाँ शुभ-संवाद देने जाता है। पिता के घर में पुत्र-जन्म होने पर सर्व प्रथम रोचना उसके नाना और मामा के यहाँ भेजा जाता है और उसके नाना के घर में जन्म लेने पर यही रोचना सर्व प्रथम उसके बाबा के घर भेजा जाता है।

प्राचीन काल में जब डाक-तार के साधनों का अभाव था, आवागमन के साधन भी स्वल्प थे, तब नाई का रोचना लेकर जाना अनिवार्य आवश्यकता थी। कालान्तर में वही आवश्यकता एक प्रथा रूप में रूढ़ हो गई।

लोकगीतों में पुत्र-जन्म का संवाद सम्बन्धियों तक भेजने का वर्णन प्राप्त होता है। भोजपुरी गीतों में भी रोचना भेजने का उल्लेख मिलता है, परन्तु वहाँ रोचना के गीतों को सोहर के अन्तर्गत ही रक्खा गया है। अवधी लोकगीतों में भी सोहर और रोचना के गीतों में कोई वैभिन्य नहीं है। विषय एवं स्वरूपगत एकता के कारण उन्हें पृथक् न करना ही उचित है। फिर भी कहीं-कहीं इन गीतों को सोहर से पृथक् रखने की चेष्टा संग्रहकर्ताओं ने की है।

भोजपुरी गीतों में रोचना सम्बन्धी प्रसंगों का सुन्दर निरूपण प्राप्त होता है। वनवासिनी सीता के द्वारा, लवकुश का जन्म होने के पश्चात् अयोध्या में रोचना भेजने का प्रसंग अत्यन्त मार्मिक है। परन्तु गीता पुत्र-जन्म की सूचना सबको पहुँचाना चाहती है पर केवल पति को नहीं। नारी का कितना ऊँचा और कितना मार्मिक स्वाभिमान है. यह सीता की असीम विवशता, आन्तरिक वेदना और व्याकुलता का हृदयग्राही प्रवाह इन पंक्तियों में व्यक्त है—

नउआ ! हमरा रोचना लेइ जाउ अयोध्या पहुँचावउ हो।
पहिले दिहो राजा दशरथ दूसरे कोसिला रानी हो।
तीसरे रोचन देवरा लछुमन प्रियाा न जनाइहउ हो ॥
पहिले रोचन देलनि दशरथ दुसरे कोसिला रानी हो।
तिसरे देलनि देवरा लछुमन प राम ना जनवलनि हो ॥
दशरथ देलनि आपन घोड़वा, त कोसिला रानी अभरन हो।
लछुमन देलनि पांचों जोड़वा विहसि नउआ घर चले हो ॥

(भो० लो० में करुण रस पृ० २६)

नाई द्वारा रोचना ले जाना और भली भाँति पुरस्कृत होकर लौटना इस प्रथा की विशेषता है। उपर्युक्त गीत में इसकी पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति है—

अवधी गीतों मे भी रोचना की प्रथा का वर्णन हुआ है—

हंकरों मैं नग्न के नउआ तो हंकरि बोलावों रे।
नउआ हमरे नैहर लगे जाओ रोचन दई आवो रे ॥१॥
न जानो देसु न कोसु कहाँ तुम्हरा नैहर रे।
रानी न जानो भीखम दुआर कहाँ नउआ उतरहि रे ॥२॥
सुरजन मुख दरवजवा तो सोने बाजूबन्द है रे।
नउआ हथिया भुकहि दरवाजा तो भीखम भइया बैठे हैं रे ॥३॥
ए हो भीखम विता बैठे हैं अयइया तो नउए जोहारा रे।
कहना के तुम नउआ अरे किन्हू रे पठावा है रे।
अरे किनके मैं है नन्दलाल रोचनु लइ आयो है रे ॥
एतना सुनि के नउआ विहसि उठि बोलै।
राजा बेटी के भये नन्दलाल रोचनु लई आएन रे ॥
तुम नउआ बइठो तख्त चढ़ि और पलंग चढ़ि।
नउआ दुधवा के पाँव पखारों सुखु जो सुनायो रे ॥

घिया करी पुरिया पकाइनि दूधु केरी जाउरि[1] रे।
ए हो विधि न रचिनि जेवनारि नो नउए जेवंवहि रे ॥७॥
नउआ का टाडर[2] ठावें नउनियाँ का बेसरि रे।
ए हो पान असर्फी लो हंसि कै बिदा भे है रे ॥८॥
धनि रकुमिनि तोरा नैहर धन सोनम ऐसे बापु लो पटन लुटावें रे ॥९॥

(अ० लो० प० पृ० ६६)

इस गीत में पुत्र-जन्म का समाचार नाना के घर भेजा जाना वर्णित है। नैहर के वैभव का वर्णन जिस प्रकार से हुआ है उसी प्रकार का सत्कार नाई को प्राप्त होता है। नाती के जन्म का सन्देश पा कर नाना की प्रसन्नता का पारावार नहीं है। वे नाई के पांवों को दूध से पखारते हैं, घी की पुड़ियां और दूध की खीर आदि उत्तम प्रकार के भोजन की व्यवस्था करते हैं, नाई और उसकी स्त्री दोनों के लिये आभूषण बनवाते हैं और पान में पान असर्फी देकर उसे विदा करते हैं।

सम्पूर्ण गीत में असीमित हर्ष का उन्मुक्त प्रवाह है। 'दुधवा से पांव पखारो'' में हर्ष की पराकाष्ठा लक्षित होती है।

पलंग के गीत भी सोहर गीत के समान ही होते हैं। पुत्र-जन्म के उपरान्त उसके सोने के लिये पलंग की आवश्यकता होती है। इन गीतों में बहू के मायके से पलंग मंगाने की चर्चा रहती है। सास-बहू के पारस्परिक संघर्ष की झलक रहती है जिसमें सास द्वारा बहू को आदेश दिया जाता है कि वह अपने मायके से पलंग मंगाए। प्रत्येक सास अपने पुत्र की ससुराल से प्रत्येक वस्तु मांग लेने का अधिकार रखती है, उसे इस कार्य में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। इन गीतों में सास की इस मनोवृत्ति का सफल प्रदर्शन हुआ है।

भोजपुरी प्रदेश में पलंग के गीतों का प्रचलन नहीं है, अतः इस क्षेत्र में पलंग सम्बन्धी गीत अप्राप्त हैं। अवधी क्षेत्र में पुत्र-जन्म के अवसर पर पलंग के गीत बड़ी सरलता के साथ गाए जाते हैं। सास-बहू के संघर्ष का वर्णन अत्यन्त मनोरंजक होता है—

पलंग तो आवा बिकाई, पलंगु बड़ा सुन्दर रे।
मोरी सासु ! करौ पलंगु केरा मोलु, ललन ताई पहुड़ऊँ[3] रे ॥१॥
अस गरबीली बहुरिया, गरब जनि बोलहु।
बहुआ मइके ते पलंगु मंगावहु, ललन लइ पहुड़ऊ रे ॥२॥
हकरो मैं नउ कै नउआ हकार बोलावो रे।
नउआ हमरे नैहर लगे जावो पलंगु लइ आवो ॥३॥
एकु बन नाघे दूसर बन तिसरे नैहर बन रे।
ए हो तखत बैठ राजा दसरथ नउआ अरज करै रे ॥४॥

---

1. खीर।
2. आभूषण।
3. लेटना।

राजा न हो मोरे राजा तुम्हि मोरे राजा हो।
राजा बेटी के भये हैं नन्दलाल पलंगु उन मांगा रे ॥५॥
बइठो न नउआ तखत चढ़ि, औरु पलगु चढि रे।
नउआ सरजू ते जल भरि लावौ तो चरन पखारौ मुखु जो सुनायौ रे ॥६॥
आसम बनन कटाइ न, पलंगु गढाइनि रे।
ए हो नखपन ईंगुर[1] धरावैं तो पटियन अरसी[2] रे ॥७॥
रेशम बाध[3] बिनाइन ओरदावन[4] मखतून की रे।
नउआ लैके पलंगु तुम जावहु बिटिया मोरी पहुड़े रे ॥८॥
तो नउआ पलंग लई आवा, वरोठे[5] धरि दीन्हेंसि रे।
मोरी सखिया सासु जी का लावो बुलाई पलंगु मोरा चाम्पई रे ॥९॥
बहुअरि ओ मोरी बहुअरि तुम्हि मोरी बहुअरि रे।
मोरी बहुअरि कमरा मा पलग बिछावहु, ललन सइ पहुडउ रे ॥१०॥
(अ० लो० प० पृष्ठ ७१)

पुत्रवती बहू पलग खरीदना चाहती है परन्तु सास व्यंग्यात्मक शब्दो से उसे कष्ट पहुँचाती हुई पलंग खरीदना अस्वीकार कर देती है। स्वाभिमानिनी बहू पलग के लिये अपने पिता के पास सूचना भेज देती है। नाती के जन्म से प्रसन्न होकर बहू का पिता सहर्ष चन्दन की लकडी का बना पलंग, जिसके पाए सिन्दूर से रँगे हैं, पाटियों मे अलसी का तेल लगा है, रेशम की डोरी से जो बिना गया है और मखतून की जिसमे अदवान लगी है, भेज देता है। पलंग देखकर सास प्रसन्न हो जाती है और बहू को अपने पुत्र के साथ सोने का आदेश देती है।

झुनझुना के गीत भी सोहर के समान ही होते हैं। पुत्र-जन्म के अवसर पर ये गाए जाते हैं। इन गीतो मे 'झुनझुना' (एक प्रकार का खिलौना, जिससे बच्चे खेलते हैं) का ही उल्लेख रहता है।

भोजपुरी गीतों में 'खेलवना' के गीत गाए जाते हैं। 'झुनझुना' और 'खेलवना' का अभिप्राय समान होता है परन्तु विषय की दृष्टि से दोनो में अन्तर है। 'खेलवना' के गीतो का विषय सोहर के विषय के समान होता है।[6] गर्भावस्था, प्रसव पीडा, पुत्र-जन्म, नेगाचार आदि का वर्णन उनमे भी रहता है।

अवधी मे झुनझुना के अनेक गीत प्राप्त होते हैं—

सोने का झुनझुना बाजना, रूपे का झुनझुना बाजना ॥१॥
लाल काहे का तेरा झुनझुना काहे के कंकड डारे रे।
सोने का मेरा झुनझुना रे, मोतीचूर के कंकड डारे रे ॥२॥

---

1. सिन्दूर।
2. अलसी का तेल।
3. डोरी।
4. अदवान।
5. दहलीज।
6. कृष्णदेव उपाध्याय—भोजपुरी लोकगीत।

गढ़ा गढ़ाया झुनझुना रे, हाटे धरो है बजार रे।
कै सन लालेगा झुनझुना रे, कै सन बाबा देय रे ॥३॥
नौ लख का मेरा झुनझुना रे, दस लाख बाबा देय रे।
ज्यों-ज्यों झुनझुना बाजन लागे, आजी चमइया लेय रे ॥४॥

(अ० लो० प० पृ० ७७)

इस गीत में 'झुनझुना' को सोने और चाँदी का बताकर उसका विशेष महत्व प्रतिपादित किया गया है। मोती के टुकड़े कारण रूप में उसके अन्दर डाले गए हैं। इस प्रकार के झुनझुने का निर्माण करके बाजार में रखा गया था जहाँ से नवोत्पन्न शिशु के बाबा दस लाख रुपए देकर खरीद लाए हैं। शिशु जब झुनझुना बजाकर खेलता है तो उसकी आजी बलैया लेती है।

बाबा के स्थान पर पिता, चाचा, ताऊ, फूफा, जीजा आदि का उल्लेख करके तथा आजी के स्थान पर क्रमशः माता, चाची, ताई, बुआ, बहन आदि को रख कर इस गीत को गाया जाता है।

पालना सम्बन्धी गीतों का भी पर्याप्त प्रचलन अवधी क्षेत्र में प्राप्त होता है।

मेरो रामचन्द्र झूलैं अजब पालना ॥१॥
उनके बाबा लै आये अजब पालना।
आजी रानी झुलावैं झूलैं पालना ॥२॥

यह गीत भी पिता, चाचा, ताऊ, फूफा, जीजा आदि का नाम लेकर गाया जाता है।

पालना सम्बन्धी एक अन्य गीत है—

सोहै लागे घर तेरा जसोदा ॥
रेशम पाटि का बना है पालना, झूलि रहा सुत तेरा जसोदा।
हाथ कंगन पायँन पैजनिया खेलि रहा सुत तेरा जसोदा ॥२॥
बलिदाऊ की बांह पकरि कै, चाल चलै सुत तेरा जसोदा।
देइकै असीस चली सब सखियाँ, जुगजुग जिये सुत तेरा जसोदा ॥३॥

(अ० लो० गी० पृ० ७५।

इस गीत में पालना झूलते हुए कृष्ण के बालस्वरूप का स्मरण किया गया है।

पालना के गीतों को भी विषयगत एकता के कारण सोहर के अन्तर्गत रखा जा सकता है। वैसे ये गीत सोहरों के गाए जाने के पश्चात् गाए जाते हैं।

कठुला के गीत भी अवधी क्षेत्र में विशेष रूप से प्रचलित हैं, भोजपुरी क्षेत्र में इनका अभाव है। कठुला बच्चों के गले में पहनाने वाला एक प्रकार का हार

होता है जिसमे सोगे के मोटे-मोटे दाने पिरोये होते हैं। स्त्रियाँ इसी में इच्छानुसार कुछ अन्य वस्तुएँ चाकू, पैसा, बघनखा आदि पिरो देती हैं।

कठुला सम्बन्धी एक लोकप्रिय अवधी गीत इस प्रकार है—

बाहु रे लालु तुम्हें कठुला के साध ।।१।।
कठुला का सोना सुरेस मंगावैं,
गढ़ावो वोहि के बाबा, पहिरावैं वोहि की आजी ।।२।।
लालु का बाबा आवैगा, हाथी चढ़ि के आवैगा,
मोहरें खूब लुटावैगा, बाजैं वोहि के घुघरू,
खेलावैं वोहि के आजी ।।३।।
कठुला तो सोहे वोहि के मइया के दरवाज,
कठुला तो सोहे वोहि के बाबू के दरवाज,
लालु का भइया आवैगा लालु का बाबू आवैगा
मोटर चढ़ि के आवैगा, बग्घी चढ़ि के आवैगा
रुपिया खूब लुटावैगा, बाजैं वोहि के घुघरू
खिलावैं वोहि की भउजी,
खिलावैं वोहि की माया ।।४।। (अ० लो० प० पृ० ७६-८०)।

इस गीत मे विभिन्न सम्बन्धियों के नामोल्लेख द्वारा कठुला लाने की बात कही गई है। जीजा, फूफा, नाना, मामा आदि का नाम जोड़ कर गीत को दीर्घ आकार दे दिया जाता है।

जन्म के पश्चात् कुछ अन्य महत्वपूर्ण विधियों को सम्पन्न किया जाता है, जिनमे छठी, बरही, अन्नप्राशन और छेदन मुख्य हैं।

छठी पुत्र जन्म के उपरान्त एक महत्वपूर्ण उत्सव होता है। साधारणतः जन्म के छठे दिन छठी का आयोजन रक्खा जाता है। परन्तु कहीं-कहीं पाँचवें दिन ही छठी मनाई जाती है। छठे दिन शुभ मुहूर्त न होने के कारण भी एक दिन का हेर-फेर हो जाता है।

छठी की प्रथा भोजपुरी एवं अवधी दोनो क्षेत्रों में समान रूप से प्रचलित है। भोजपुरी प्रदेश की स्त्रियां इस अवसर पर मिलजुल कर गीत गाने की उत्कट कामना रखती हैं—

आवहु सखिया सहेलरि, हिलिह मिलि गावहु रे।
आजु हमरा दुलरुआ के छठिया नु रे ॥
मचिया बइठलि सासु बढ़इतिन रे।
से निरखहिं सुन्दर ललना के मुखवा नु रे ॥ (संगृहीत)

अवधी के क्षेत्र मे भी छठी का समारोह गीतों की सुमधुर झंकार के मध्य सम्पन्न होता है—

मोरा अवसर बीता जाय, हरदी चाहिये।
कहाना हरदी ऊपजो है, कवन रामा लादन जांय।

(अमुक स्थान) हरदी उपजी है, बवन रामा लादन जाय।
को यह हरदी बाटिये, अब को धरे छठिया रेग।
लादन हरदी बाटिये, ननदी धरे छठिया रेग॥ (अ० लो० पृ० ६६)।

छठी के अवसर पर ननद की उपस्थिति अनिवार्य होती है। छठी का नेग पाने का अधिकार उसे ही होता है।

अनेक परिवारों में छठी के स्थान पर बरही मनाने की रीति होती है। जन्म के बारहवें दिन बरही मनाई जाती है।

भोजपुरी क्षेत्र में बरही के अवसर पर निम्नांकित गीत गाया जाता है—

हम ना पूछइबो बरहिया, भइया नाहीं अइले हो।
अंगना बहारइत तू चेरिया त सुन न बचन मोरा हे,
चेरिया देखि आव हमरा वीरन भइया कहँ चली आवेले हो।
दूर ही घोड़ा हिहिआइल, पोखरिया घहराइल हे,
गली-गली इतर गमकि गइल भइया मोर अइले हो। (संगृहीत)।

इस गीत में कोई पुत्रवती माता अपने पुत्र की बरही के अवसर पर भाई की प्रतीक्षा कर रही है। भाई की अनुपस्थिति में सम्पूर्ण उत्सव फीका लग रहा है। मन में अतीव व्यग्रता लिए वह भाई की प्रतीक्षा में रत है। सहसा दूर पर घोड़े के हिनहिनाने, सरोवर के घहराने और गाँव की गली-गली में आनन्द की सुगन्ध बिखर जाने का आभास मिलता है। प्रसन्नता में विभोर वह स्त्री समझ जाती है कि उसका भाई आ गया है।

जब शिशु कुछ बड़ा हो जाता है तब उसका 'अन्न प्राशन' किया जाता है। अवधी क्षेत्र में इसे 'पसनी' कहते हैं। अन्नप्राशन या पसनी में शिशु को प्रथम बार अन्न खिलाया जाता है। अन्नप्राशन का उत्सव भी परिवारों में बड़ी धूम धाम से सम्पन्न होता है।

एक अवधी गीत में पसनी के अवसर पर बालक को खीर खिलाने का वर्णन है—

को मोरे चाउर बेसाहे औ गोएं दुहावे।
को मोरे खिरिया बनावैं लालन के पसनिया॥
बाबा मोरे गोएं दुहावैं, औ चाउर बेसा है।
आजी उनके खिरिया बनावें तो आधा बैठावें।
लालन का खियावें लालन के पसनिया॥ (अ० लो० पृ० १०३-४)।

इस गीत में बाबा एवं आजी के स्थान पर अन्य सम्बन्धियों के नाम जोड़ कर गाया जाता है।

बालक का मुण्डन भी एक महत्वपूर्ण संस्कार है जो भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों में धूमधाम के साथ सम्पन्न किया जाता है। मुण्डन-संस्कार जन्म के पश्चात् पहले तीसरे अथवा पाँचवें वर्ष में किया जाता है। प्रायः मुण्डन के लिये कोई तीर्थ-स्थान, देवालय या गंगा-तट ही उपयुक्त समझा जाता है, जहाँ स्त्रियाँ समूह बद्ध

होकर बालक को लेकर जाती हैं और किसी नाई से विधिपूर्वक बालक का मुण्डन कराती हैं। इस अवसर पर अनेक प्रकार के मुण्डन-गीत, मोहर तथा मरिया आदि गाये जाते हैं।

भोजपुरी क्षेत्र मे प्रचलित एक मुण्डन-गीत इस प्रकार है—

> मनवा बइठल राजा दशरथ, कोसिला अरज करे हो।
> राजा राम के कर जग मुंडन ए हो मुख देखबि हो॥
> अरहिल बन केरे खरहिल कठइबो बृन्दावन केरे बास हो।
> से हो पहिले माडो छवइबो गजमोती चउक पुरइबो हो॥ (संगृहीत)।

यहाँ कौशल्या के रूप में एक पुत्रवती माता के हृदय का सहज प्रेमानन्द प्रकट हो रहा है, जो अपने पुत्र के मुण्डन के लिये आतुर है।

अवधी प्रदेश मे उपलब्ध एक लोक-गीत में, मुण्डन के लिये उपस्थित बालक के केशों का वर्णन हो रहा है—

> झलरिया मोरी पाहुनि झलरिया मोरी लाडली।
> तुम्हरी सी झलरी कवन रामा असिकै जोगयो केस॥
> काहे ते पोसे कवन रामा काहे तो पोसे ई केस।
> धिय गुरु पोसे कवन रामा तेलु फुलेलु पोसे केस॥
> मंठवा कुम्हड़वा न खायो मैं असिकै जोगयो।
> कोलिया छड़िया न झावयो असि कै जोगयो॥
> रतुली पलंगिया न सोयों मैं असि कै जोगयो।
> नउआ तौ चलिभा बनारस, बाभन चले है कुसठेंतु।
> को मोरे परछैं केस ?
> लौटी न लौटो नउआ सोने टका देहो तोहि।
> घोड़वा पै नाढ़ो कवन रामा बहिनि चालन तुम जाहु, उइ मोरे परछैं केस॥
> (अ० लो० प० पृ० १०९-११०)

इस गीत मे झालर (बालक के केश) को अतिथि के समान प्रिय माना गया है। माता ने अपने पुत्र के केशों को बड़े यत्न से पोसा है और बड़े चाव से रखा है। उनकी सुरक्षा के लिये किये गये उपक्रमों का वर्णन इस गीत मे बड़ी सुन्दरता से हुआ है। अन्त मे नाई तथा बालक की बुआ बुलाकर मुण्डन-कार्य सम्पन्न कराया जाता है।

गाँवों मे बालकों के कर्ण-छेदन की प्रथा भी पाई जाती है। प्राचीनकाल मे इस प्रथा का जितना महत्व था अब उतना नही है। पहले समस्त परिवारों मे बालकों का कर्ण छेदन अनिवार्य माना जाता था, परन्तु अब यह कार्य इच्छानुसार होने लगा है। इस अवसर पर छेदन सम्बन्धी गीत गाये जाते हैं। कर्ण-छेदन के गीत अधिक संख्या मे नहीं प्राप्त होते हैं।

एक अवधी गीत मे छेदन का उत्साह पूर्ण समारोह वर्णित हुआ है—

जो मोरे छेदनु करावैं सो जाघा बैठारें।
जो मोरे खर्चें दाम लालन केरा छेदनु ॥
बाबा उनकें जाघा बैठारे छेदनु करावैं।
आजी मोरे खर्चें दाम तो छेदनु करावैं ॥
जो मोरे सुजिया गढ़ावैं तो मोतिया पुहावैं।
घरें सोनरवा के हाथ छेदावैं मनुयारें ॥
आजी उनके जाघा बैठारे छेदनु करावैं।
सोने का टकवा उतारें तो मामा तुम्हार, घरें सोनरवा के हाथ ॥

(अ० लो० प० पृ० ११२-११३)

यहाँ बालक के कर्णछेदन के अवसर पर बाबा, आजी तथा अन्य सम्बन्धियों के हास-उल्लास का वर्णन हुआ है। छेदन के उपरान्त बालक के कान में पहनाई जाने वाली सोने की बाली को 'सुजिया' कहते हैं। इस सुजिया से ही कान छेदे जाते हैं।

जन्म-संस्कार सम्बन्धी गीतों की कोई सीमा नहीं है। लोक-जीवन में व्याप्त अगणित गीतों में जन-मन की संवेदनाएँ प्रकट हुई हैं।

यज्ञोपवीत-संस्कार

यज्ञोपवीत का अपभ्रष्ट रूप है—जनेऊ जिसे ब्रह्म सूत्र भी कहते हैं। यज्ञोपवीत-संस्कार हमारे यहाँ एक प्रधान संस्कार है। साधारण बोल-चाल में इसे उपनयन संस्कार या जनेऊ कहते हैं। आर्य जाति में यज्ञोपवीत धारण करने की प्रथा अति प्राचीन-काल से चली आ रही है। यज्ञोपवीत का महत्त्व निम्नांकित श्लोक में प्राप्त होता है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥[1]

यज्ञोपवीत परम पवित्र है जो प्राचीनकाल में प्रजापति के साथ उत्पन्न हुआ था। यह आयु बल और तेज का प्रदान करने वाला है।

यज्ञोपवीत धारण करने का उद्देश्य आयु-बल और तेज की वृद्धि द्वारा मानव धर्म का पालन करना है। बालक की उचित आयु हो जाने पर उसे गुरु के समक्ष ज्ञानार्जन के लिए भेज दिया जाता है। यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न करके ही बालक शिक्षा प्राप्त करने जाता है। विद्यार्थी द्वारा गुरु का सामीप्य प्राप्त करना ही उपनयन कहलाता है।

मनु तथा याज्ञवल्क्य आदि महर्षियों ने अपनी स्मृतियों में उपनयन संस्कार तथा इसकी सम्पूर्ण विधि की सम्यक् विवेचना की है।

---

1. श्री रामनरेश त्रिपाठी, ग्रामसाहित्य (पृ० २३० से उद्धृत)

प्राचीनकाल में यज्ञोपवीत होने के उपरान्त बालक गुरु के आश्रम में भेज दिया जाता था। यज्ञोपवीत धारण करने के समय बालक को कुछ प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थीं, जिनका पालन करना अनिवार्य था। इसीलिए इसे 'व्रत-बंध' भी कहते हैं। मनुष्यों में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए जनेऊ का विधान है। शूद्रों के लिये जनेऊ पहनना अवैध है। इसलिए जनेऊ धारण करने के पूर्व प्रत्येक मनुष्य शूद्रवत् है। जनेऊ धारण करने के पश्चात् ही वह 'द्विज' संज्ञा से अभिभूत होता है।

'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।' —मनुस्मृति

समाज रूपी शरीर में मुख ब्राह्मण का स्थान, क्षत्रिय का स्थान वक्ष और वैश्य का स्थान कमर माना गया है। कमर से नीचे का स्थान शूद्र का है। जनेऊ कमर के ऊपर तक ही पहना जाता है अतः वैश्यों तक ही जनेऊ के अधिकार की सीमा है।

यज्ञोपवीत में तीन धागे होते हैं। तीनों धागे प्रतीकात्मक ज्ञान देते हैं।

प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार यज्ञोपवीत के तीन धागों का अभिप्राय यह है कि बालक ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीनों आश्रमों के नियमों का पालन करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति के साथ जन्म से ही तीन ऋणों का भार है—ऋषि ऋण, देव ऋण, पितृ ऋण। इन ऋणों से उऋण होने के लिए तीनों आश्रमों का नियम पालन आवश्यक है; यथा—

जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान जायते।
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यो प्रजया पितृभ्यः इति॥

(ब्राह्मण ग्रन्थ)

[ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों तीन ऋणों से ऋणी हो उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मचर्य धारण करके ऋषियों के बनाए ग्रन्थों का स्वाध्याय करके ऋषि ऋण से, यज्ञों के द्वारा देवऋण से और सन्तान उत्पन्न करके पितृ ऋण से मुक्ति मिलती है।]

संन्यासी तीनों प्रकार के ऋणों से मुक्त होता है। अतः उसे यज्ञोपवीत धारण करने की आवश्यकता नहीं होती।

द्वितीय दृष्टिकोण के अनुसार यज्ञोपवीत के तीन धागों का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होता है। शूद्रों का वर्णन किया गया है।

यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में कुछ निर्धारित नियम हैं, यथा—

(१) यज्ञोपवीत कमर के ऊपर हृदय पर से होता हुआ वाम स्कन्ध पर पहनाया जाता है।

(२) यज्ञोपवीत कमर से (नाभि-स्थल से) नीचे और स्तन से ऊपर नहीं पहनना चाहिए। ब्रह्मचारी एक और गृहस्थ दो यज्ञोपवीत पहने।

स्तनादूर्ध्वमधो नाभेर्न धार्यं तत्र बन्धन।
ब्रह्मचारिण एक स्यात् स्नातस्य द्वे बहूनि वा ॥[1]

(३) यज्ञोपवीत का सूत हाथ से कता हुआ होना चाहिए।

(४) यज्ञोपवीत ६६ अंगुल लम्बा होना चाहिए। इस नियम के अन्तर्गत निहित तथ्य का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

तिथिर्वारश्च नक्षत्र तत्व वेदा गुणत्रयम्।
काल त्रयञ्च मासाश्च ब्रह्मसूत्रञ्चषण्णव ॥

तिथि १५, वार ७, नक्षत्र २७, तत्व २५, वेद ४, गुण ३, काल ३, मास १२ कुल मिलाकर ६६ हुए। इन सबके साथ नियम निर्वाह की प्रतिज्ञा में बद्ध होने के प्रमाण स्वरूप ६६ अंगुल का सूत्र पहना जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि ६६ अंगुल का यज्ञोपवीत वेद के ६६००० मन्त्रों के अध्ययन का प्रमाण है।[2]

(५) मल-मूत्र त्याग के समय यज्ञोपवीत को कान पर तीन बार लपेट लिया जाता है। इस क्रिया में दो उद्देश्य निहित होते हैं। पहला, यज्ञोपवीत की शुद्धता की रक्षा होती है। दूसरा, यज्ञोपवीत धारण करने के समय की गई ब्रह्मचर्य सम्बन्धी प्रतिज्ञायें निरन्तर स्मृत होती रहती हैं। प्रतिज्ञायें इस प्रकार है—

(क) दिवा मा स्वाप्सी।
दिन में मत सोना।

(ख) आचार्याधीनो वेदमधीष्व।
आचार्य के अधीन रह कर वेद का अध्ययन कर।

(ग) क्रोधानृते वर्जय।
क्रोध और झूठ छोड़ दे।

(घ) मैथुन वर्जय।
मैथुन को छोड़ दे।

(ङ) ऊपरि शय्या वर्जय।
भूमि से ऊपर—पलंग आदि पर सोना छोड़ दे।

(च) कौशीलव गन्धाञ्जनानि वर्जय।
गाना-बजाना, नृत्य आदि तथा इत्र आदि का सूँघना और आँखों में अंजन लगाना छोड़ दे।

(छ) मांस रूक्षाहार मद्यादिपान च वर्जय।
मांस, रूखा-सूखा भोजन, मद आदि नशीली चीजों का सेवन मत कर।

---

1. श्री रामनरेश त्रिपाठी, ग्राम साहित्य (पहला भाग पृ० २३२)
2. वही।

(ज) अन्तर्ग्राम निवासोपान छत्र धारण वर्जय।
गाव के बीच बसना, जूता और छाता धारण करना छोड दे।

(झ) अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलन विहाय वीर्य शरीरे संरक्ष्योर्ध्व रेता सततं भव।

लघुशंका के सिवाय कभी उपस्थ इन्द्रिय का स्पर्श मत कर। न वीर्य स्खलन होने दे। ऊर्ध्वरेता बन।

सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव।

सुशील, थोड़ा बोलने वाला और सभा मे बैठने योग्य गुणो वाला बन।[1]

(६) यज्ञोपवीत मे तीन गाठें देनी चाहिए। इन गाठो को ब्रह्म-गाठ या ब्रह्म ग्रन्थि कहते हैं।

(७) शास्त्र के अनुसार ब्राह्मण-बालक का यज्ञोपवीत ८ वर्ष की अवस्था मे, क्षत्रिय-बालक का यज्ञोपवीत ११ वर्ष की अवस्था मे, वैश्य-बालक का यज्ञोपवीत १२ वर्ष की अवस्था मे होना चाहिए।

(८) ब्राह्मण के लिये वसन्त, क्षत्रिय के लिये ग्रीष्म और वैश्य के लिये शरद ऋतु में यज्ञोपवीत करना श्रेयस्कर है।

'वसन्ते ब्राह्मणामुपनयेत्। ग्रीष्मे राजन्यम्। शरदि वैश्यम्।'

—शतपथ ब्राह्मण।

वर्तमान काल मे यज्ञोपवीत की प्रथा नाममात्र को रह गई है। केवल परम्परा-पालन के हेतु इस प्रथा का निर्वाह किया जाता है। यज्ञोपवीत के वास्तविक अर्थ का ज्ञान किसी को नहीं होता। सामाजिक भय-वश और क्षणिक नियम-निर्वाह की भावना से कुछ काल के लिये यज्ञोपवीत धारण करना और फिर उसे छोड़ देना आजकल के क्षत्रिय और वैश्य परिवार के व्यक्तियो के लिए साधारण बात है। ब्राह्मण-परिवारो मे अवश्य स्थायी रूप से यज्ञोपवीत धारण करने की प्रथा पाई जाती है। किन्तु यज्ञोपवीत के वास्तविक उद्देश्य का वहाँ भी लोप हो गया है। अधिकांश परिवारो मे विवाह के समय ही यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न कर दिया जाता है। पर कुछ परिवार ऐसे भी होते हैं जहाँ पृथक् रूप मे यह उत्सव मनाया जाता है। यज्ञोपवीत के आयोजन मे विवाह के समान ही धूमधाम तथा आनन्द मनाया जाता है। उच्चश्रेणी के सम्पन्न परिवारो मे यह उत्सव अधिक उत्साहपूर्ण रहता है। देहातो मे यज्ञोपवीत-संस्कार का वास्तविक आनन्द और उत्साह दिखाई देता है। वहाँ इस अवसर पर वृहत् समारोह की तय्यारी होती है। समस्त रिश्तेदारों और सम्बन्धियो को आमन्त्रित किया जाता है।

फिर भी आजकल इस अवसर पर बाह्याडम्बरो और वैभव प्रदर्शन को ही अधिक महत्व दिया जाता है, यज्ञोपवीत के मूल सिद्धान्तो को नहीं।

---

1. श्री रामनरेश त्रिपाठी। ग्राम साहित्य (पृ० २३६-३४)

भोजपुरी प्रदेश में यज्ञोपवीत संस्कार के एक दिन पूर्व बालक के अभ्यास के लिए उसे कच्चे सूत का एक धागा पहना देते हैं जिससे वह शौचादि के समय यज्ञोपवीत की रक्षा का ध्यान रख सके। इस कच्चे सूत के धागे को वहाँ 'गोबर जनेऊ' कहा जाता है। दूसरे दिन बालक का यज्ञोपवीत संस्कार करने के लिये पंडित जी आते हैं। धनी तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति इस अवसर पर विद्वान पुरुष को अथवा काशी के 'वेदूआ' (वैदिक) को बुलाते हैं और संस्कार के अन्त में उसे अपूर्व धन-धान्य देकर अपने को कृतकृत्य समझते हैं।

वेदुआ जी आकर सर्वप्रथम बालक का चूडाकर्म संस्कार करते हैं जिसमें बालक के केश काट दिये जाते हैं। तत्पश्चात् स्त्रियाँ बालक को स्नान करवाती हैं। स्नान के उपरान्त वैदिक जी बालक को यज्ञोपवीत धारण कराते हैं। यज्ञोपवीत धारण करके बालक ब्रह्मचारी गुरुकुल में पढ़ने के लिये धन की भिक्षा करता है जिसे भीख मांगना कहते हैं। यह भिक्षा तीन बार सगे-सम्बन्धियों से मांगी जाती है। पहली भिक्षा आचार्य को दूसरी पिता को तथा तीसरी माता को दी जाती है। भिक्षा मांगने के पश्चात् बालक काशी या काश्मीर (प्राचीन काल में संस्कृत विद्या के प्रधान केन्द्र-स्थल यही दो थे जहाँ ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करते थे) विद्याध्ययन के लिये जाता है। पांच छह कदम चलने के बाद ही वह घर वालों के द्वारा वापस लौटा लिया जाता है और ब्रह्मचर्याश्रम का सारा कार्य चन्द क्षणों में ही समाप्त हो जाता है। ब्रह्मचारी के काशी से लौटने के उपरान्त उसका समावर्तन संस्कार किया जाता है जिसमें उसका कोपीन पादुका और मृगचर्म हटाकर उसे नूतन वस्त्र पहनाए जाते हैं। वैदिक जी तथा आचार्य जी उसे सदुपदेश देते हैं और यज्ञोपवीत, संस्कार समाप्त कर दिया जाता है। प्राचीन काल में चूडाकर्म, यज्ञोपवीत वेदारम्भ और समावर्तन ये चार संस्कार भिन्न-भिन्न समय पर सम्पन्न होते थे। पर अब ये एक दिन में ही समाप्त कर दिये जाते हैं।[1]

अवधी क्षेत्र में भी यज्ञोपवीत संस्कार को लगभग उपर्युक्त रीति से ही सम्पन्न किया जाता है। परन्तु वहाँ गोबर जनेऊ नहीं होता और न वेदुआ जी को बुलाने की प्रथा है। पंडित से शुभ मुहूर्त निकलवा कर सर्वप्रथम यज्ञ का आयोजन किया जाता है। यज्ञ-अनुष्ठान की पूर्ति के लिये स्तम्भ की स्थापना होती है उसी दिन चाकी काड़ी होती है। चाकी काडी प्रथा के अन्तर्गत यज्ञोपवीत में लगने वाले अनाजों का छांटना, कूटना पीसना आदि आरम्भ किया जाता है। उस दिन सर्वप्रथम देवियों के गीत गाए जाते है फिर माड़ाव के गीत गाए जाते हैं। मातृ-पूजन के दिन पियरी के गीत गाए जाते हैं तत्पश्चात् यज्ञोपवीत के दिन जनेऊ के गीत गाये जाते हैं।

लोकगीतों में यज्ञोपवीत के अवसर पर सम्पन्न होने वाली समस्त विधियों का वर्णन प्राप्त होता है। क्योंकि प्रत्येक विधि पर स्त्रियों द्वारा मंगल-गान गाए जाते जाते हैं। सर्वप्रथम बालक के चूडाकर्म संस्कार के उपरान्त स्त्रियां उबटन लगाकर उसे स्नान कराती हैं। उस अवसर पर भी उनके कल-कंठों से सुमधुर स्वर की झंकार के साथ गीतों के बोल प्रस्फुटित हो उठते हैं।

---

1. श्री कृष्णदेव उपाध्याय भोजपुरी लोकगीत। (पृ० १६७-६८)

भोजपुरी क्षेत्र में पांच स्त्रियाँ बालक को स्नान कराती हैं और उस समय आनन्द पूर्वक वे गाती जाती हैं—

पाँच सखी आहो मीलि के,
हरदी चढ़ाव हमरा लाल के।
बारहो बाजन बजाइके,
हरदी चढ़ाव हमरा लाल के।

(भो० लो० पृ० १६७)

इसी प्रकार अवधी प्रदेश में भी चूडाकर्म सस्कार के उपरान्त बालक को गीतों के मधुर स्वरों के मध्य उबटन लगाकर स्नान कराने का प्रचलन है। उबटन के समय वहाँ यह गीत गाया जाता है—

उबटनु दलिया मलिया मैलु छुटावै।
बोलावो न बाबा कइहाँ, यह गुरु देखैं आय।
अरे उवटे हैं दुलहे 'कवन' रामा हो।

(अ० लो० प० पृ० १३)

इस गीत मे 'कवन' के स्थान पर यज्ञोपवीत के लिये तय्यार बालक का नाम लिया जाता है तथा बाबा के स्थान पर पिता, चाचा आदि का नाम ले-ले कर इन्ही पक्तियों की आवृत्ति की जाती है।

स्नान कराते समय भी स्त्रियाँ गीत गाती हैं जो इस प्रकार रहता है—

को यह सगर खोदावा, घाटु बंधावा।
केहि के भरै कहार, दुलहै अन्हवावै।
बाबा रामा सगर खोदावा, अरे घाट बधावा।
बाबा के भरै कहार दुलहै अन्हवाएं।

इस गीत मे भी 'बाबा' के स्थान पर पिता, चाचा आदि का नाम ले-ले कर पक्तियों की आवृत्ति की जाती है।

जनेऊ और विवाह एक साथ सम्पन्न होने के कारण तथा जनेऊ में बहुत-सी विधियाँ विवाह के समान होने के कारण गीतों मे जनेऊ पहनने वाले बालक को 'दुलहा' कहा गया है। वैसे भी जनेऊ सम्बन्धी गीतो मे बालक को 'बरुआ' कहा जाता है जो 'बर' का ही रूपान्तर है।

जनेऊ मे कच्चे सूत का धागा व्यवहृत होता है अतः अनेक गीतों में सूत कातने का वर्णन प्राप्त होता है। एक भोजपुरी गीत मे बहन के काते हुए सूत से भाई के पहनने के लिए जनेऊ तय्यार होने का वर्णन है—

कवनी सुहइया[1] सूत कातेली मल ओटेली।
पुरेले[2] कवन राम जनेऊ कवन बरुआ पहिरसु ॥१॥

---

1. स्त्री।
2 पूरना (गाठ देकर तैयार करना)।

जानकी सुहइया सुत कातेली मल ओटेली ।
पुरेले केसव राम जनेऊ बलन बरुआ पहिरसु ॥२॥
सितवन्ती सुहइया सुत कातेली मल ओटेली ।
पुरेले सुरजराम जनेऊ उमा बरुआ पहिरसु ॥३॥
अन्नपूर्णा सुहइया सुत कातेली मल ओटेली ।
पुरेले मगलाप्रसाद जनेऊ सुमन बरुआ पहिरसु ॥४॥

(भो० लो० पृ० १६६)।

इस गीत में सूत कातने वाली और ओटने वाली बहन के सूत से जनेऊ तय्यार करने वाले व्यक्ति और जनेऊ धारण करने वाले 'बरुआ' का उल्लेख हुआ है। इस गीत में नामों की जो काल्पनिक संयोजना है वह केवल यह प्रदर्शित करने के लिये है कि सगे-सम्बन्धियों की नाम-योजना द्वारा गीत को इच्छानुसार लम्बा रूप दिया जा सकता है।

अवधी क्षेत्र में भी हाथ से काते हुए सूत का यज्ञोपवीत पहनने का माहात्म्य है। एक अवधी गीत में बालक के फूफा द्वारा सूत कातने का वर्णन हुआ है—

गंगा जमुन बिच आतर चन्दन एक रुखवा है हो।
तेहि तर ठाढ़े उनरे फूफा काते जनेऊवा हो।।
सात सखी मिलि पूछैं केहि कातैं जनेऊवा हो।
आठ बरिस के अमुक राम उन्हें पंडित करबइ।
हमरे दुलरुवा अमुक राम उन्हें पंडित करबइ हो।।

(क० कौ० पृ० ३२४)

इस गीत में आठ वर्ष की अवस्था में बालक का यज्ञोपवीत करने की शास्त्रीय प्रथा का उल्लेख किया गया है। साथ ही इस तथ्य का भी प्रदर्शन है कि यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त मनुष्य को द्विजत्व प्राप्त होता है।

यज्ञोपवीत के अवसर पर बालक को हाथ में पलाश का दण्ड तथा कमर में मृगछाला दिया जाता है। इन वस्तुओं के प्रयोग का वर्णन गीतों में प्राप्त होता है। भोजपुरी गीत में पुत्र के यज्ञोपवीत संस्कार के लिये पिता के द्वारा पलाश-दण्ड तथा मृगचर्म की व्यवस्था का उल्लेख हुआ है—

ए जाहि बने सिंघियो[1] न टोलेला बघओ[2] ना गरजेला रे।
ए ताहि बने चलले कवन रामा, काटेले पारास डाटा

खोजेले मिरग छाला रे ॥१॥

ए हमरा दुलरुवा के जनेव हवे,
काटिले पारास डाटा, खोजिले मिरिग छाला रे ॥२॥

(भो० लो० पृ० १७१)

---

1. सींह भी।
2. बाघ भी।

जिस वन में कोक भी नहीं होती अर्थात्, जहाँ हवा के आने-जाने का ज्ञान भी नहीं होता और न किसी पशु के सवरण का ही आभास मिलता है, उस पूर्ण एकान्त एवं निस्तब्ध वन में पुत्र के लिये मृग-चर्म और पलाश दण्ड लेने के लिये पिता गए हैं।

वन का वातावरण इस गीत में अत्यन्त स्वाभाविक रूप में चित्रित है।

एक अवधी गीत में इस अवसर पर पलाश-दण्ड तथा मृगछाया लाने का कार्य बाबा के द्वारा सम्पन्न होता है—

को मोरे जइहैं वृन्दावनु लइहैं फरस[1] दण्ड।
को मोरे खेले अहेरिया[2] मृगछाला चाहिअ॥
बाबा मोरे जइहैं वृन्दावनु लइहैं फरस दण्ड औ मृगछाला।
आज मोरे लाली का जनेऊ फरस दण्ड चाहिअ (अ० लो० प० पृ० १३१)

इस गीत में वृन्दावन की अवतारणा है, जहाँ पुत्र के बाबा मृगचर्म और पलाश दण्ड लेने जाते हैं। 'बाबा' के स्थान पर पिता, चाचा आदि का नाम लिया जाता है।

अवधी क्षेत्र में मृग चर्म लाने के सम्बन्ध में एक अत्यन्त करुण गीत गाया जाता है, जिसमें बालक के बाबा के द्वारा एक मृग का वध होता है।

लिली घोड़ी मुख रातुल[3] पूछिया चितकाबरि हो।
वोहि घोड़ी चढ़ि के बाबा उनर हिरना का मारहिं हो॥
हाथ जोड़ि हरिनि खड़ी मोर हिरना न मारहु हो।
तुमका न मरिबै हरिनिया तोरे हिरना का मारब हो॥
हमरे घर बरुआ कवन रामा मृगछाला पहिनहिं हो।
बंसवन घोतिया मुखति हवै, भौरवा चुगत हवै।
बाजनन भई झंकार, बवन रामा बरु भये॥ (अ० लो० प० पृ० १३२)

नीली रंग की घोड़ी है, मुख लाल है और पूछ चितकबरी है—जिस पर बैठ बालक के बाबा हरिण का शिकार करने गए हैं। हरिण को मारते देख कर हरिणी सामने आती है और हाथ जोड़ कर हरिण के प्राणों की भिक्षा माँगती है। परन्तु बाबा को अपने नाती के लिये मृगचर्म की आवश्यकता है। उत्सव की समस्त तय्यारियाँ हो गई हैं—

बंसवन घोतिया मुखति हवै भौरवा चुगत हवै
बाजनन भई झंकार............

(यज्ञोपवीत के उपरान्त नयी धोती तथा मौर पहनाने की प्रथा की ओर यहाँ संकेत है) केवल मृग चर्म लाना शेष है अतः बाबा हिरण को मारने का निश्चय कर लेते हैं।

---

1. पलाश।
2. शिकार।
3. लाल।

आनन्द-वर्द्धन के निमित्त किसी के प्राणों का हनन अत्यधिक दुःखद और करुण घटना है।

यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर पलाश दण्ड तथा मृगचर्म के अतिरिक्त बालक को मूंज की मेखला भी पहनाई जाती है। अनेक गीतों में मूंज-मेखला का उल्लेख किया गया है।

एक भोजपुरी गीत में बालक के द्वारा जनेऊ की विधियों को जानने की उत्सुकता व्यक्त की गई है। प्रत्युत्तर स्वरूप जिन विधियों का वर्णन किया जाता है। उनमें मूंज की करधनी का भी समावेश है—

आरे अइठे कवन बाबा कवन जाघा जोरी।
आरे तहवा कवन बरुआ रोदना[1] पसारे ॥१॥
माई हमारो जनेउवा रे बाबा कवन विधि होइ हे,
आरे पहिले पहिरे मूंज के डाडा[2], तब मिरग छाला,
तब पहिरे बरुआ रतन जनेउवा ॥२॥

(भो० लो० पृ० १७१)

पिता अपने पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार करने के लिये चौक पर जाघे जोड़ कर बैठा हुआ है वहाँ बालक मचल कर जनेऊ की विधियां को पूछता है। उसकी माता उत्तर देती है कि पहले मूंज की करधनी पहनाई जायगी फिर मृगछाला पहनायी जायगी तब जनेऊ दिया जायगा।

अवधी गीतों में भी मूंज की करधनी का वर्णन मिलता है। एक अवधी गीत में जनेऊ के लिए आतुर बालक मूंज के हरे-भरे खेत देख कर मूंज की करधनी के लिये मचलता है। करधनी और जनेऊ की रूपरेखा समान होने के कारण वह उसे 'मूंज का जनेऊ' कहता है—

मुंजवा के खेतवा कवन रामा, मचली करति है।
लेबै बाबा मूंज का जनेऊ, मूंज भली हरी-हरी ॥१॥
सभिया मां बैठे बाबा उनके नाती समुझावै।
देबै नाती सोने का जनेऊ, मूंज का करिहो ॥२॥

(अ० लो० प०) पृ० १३५

गीत में मूंज के जनेऊ का संकेत मूंज-मेखला की ओर ही है। बालक की अज्ञानता का निरूपण स्त्रियों ने गीत के माध्यम से अत्यन्त स्वाभाविक रूप से किया है।

इसी प्रकार का एक अन्य अवधी गीत है, जिसका गायन स्त्री-समुदाय में उत्साह एवं उमंग के साथ किया जाता है—

1. क्रन्दन।
2. करधनी।

राजा दसरथ अंगना मूजि कोसिल्ला रानी मल चीरें।
लपकि झपकि चीरें दूनों हाथे चीरें।
रामचन्द्र बरुआ भुइयाँ लोटि जायँ जनेऊ के कारना ॥१॥
राजा दशरथ झारेनि झूरेनि जाँघ बैठाइनि।
देवै बेटा सोने कै जनेऊ जनेउवा बड़ा उत्तिम ॥२॥
राजा दसरथ अंगना मूजि सुमित्रारानी मल चीरें।
लपकि झपकि चीरें दूनों हाथे चीरें।
रामचन्द्र बरुआ भइवा लोटि जाँघ जनेउवा के कारन ॥३॥
राजा दशरथ झारिनि झूरिन जाँग बैठाइनि।
देवै बेटा सोने कै जनेउ जनेउवा बड़ा उत्तिम।४॥
राजा दसरथ अगना मूंजि केकई रानी मल चीरें।
रामचन्द्र बरुआ भुइयां जाय जनेउवा के कारण ॥५॥
राजा दसरथ झारिनि झूरिनि जाँघ बैठाइनि।
देवै बेटा सोने कै जनेऊ जनेउवा बड़ा उत्तिम ॥६॥
वासिष्ट मुनि अगना मूंजि गुरुआइनि मल चीरें।
रामचन्द्र बरुआ भुइयां लोटि जाय जनेउवा के कारन ॥७॥
वसिष्ठ मुनि झारेनि झूरेनि जाघ बैठाइनि।
देवै बेटा सोने कै जनेऊ जनेउवा बड़ा उत्तिम ॥८॥

(क० कौ० पृ० ३२८)

राम के रूप मे सामान्य बालक का चित्रण हुआ है जो जनेउ पहनने के लिये भूमि मे लोट-लोट कर मचल रहा है। माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी उसे सोने का जनेऊ देने का आश्वासन देते हैं। साथ ही मूंज के द्वारा मेखला निर्माण का उत्साहपूर्ण उल्लेख भी हुआ है।

प्राचीन काल मे यज्ञोपवीत धारण करने के उपरान्त ब्रह्मचारी शिक्षा प्राप्त करने के लिये विद्या के विशेष केन्द्रों मे जाया करते थे जिनमे काशी का महत्वपूर्ण स्थान था। अधिकाश लोकगीतो मे काशी का ही उल्लेख प्राप्त होता है। गुरु के आश्रम मे पहुँच कर विद्यार्थी भिक्षा द्वारा जीवन-निर्वाह करता है। यद्यपि अब इन प्रथाओं का पूर्णत. लोप हो चुका है परन्तु उपनयन संस्कार के अवसर पर विधि रूप मे इन कार्यों का क्षणिक सम्पादन होता है। अत. लोकगीतो मे भी इन प्रथाओ का उल्लेख प्राप्त होता है।

एक भोजपुरी लोकगीत मे यज्ञोपवीत विद्याध्ययन एवं भिक्षा-याचना के लिये उत्साहित बालक की मनोवृत्तियो का स्वाभाविक वर्णन हुआ है।

चइतहीं[1] बरुआ तेजी भयो बइसाखे[2] पहुँचेला रे।
जइबो मे जइवो जाही घरे जाहाँ बाबा कवन बाबा रे ॥१॥

1. चैत्र।
2. बैसाख।

सुनहु धना सुनहु धना लोनी एकु अरज हमारिउ हो।
जो कुछ बारे तें जोगयो[1] सोई नइ खरचौ हो ॥२॥
इतना सुनि कै आजी उनकी रूठी घोर हारे हो।
कुस कासन केरा मड़यो तेहि तरे वेदी रचन लागी हो ॥३॥
वेदी मा वैठे बाबा उनके अपने नाती का बोलावहि हो।
वेदी मां हम नहि जइबै मोरी आजी बिना सूना लागै हो ॥४॥
एतना सुनि कै बाबा उनके अपनी धना का जगावै हो।
सुनहु धना, सुनहु धना लोनी धना, एकु अरज हमारिउ हो ॥५॥
अगिम मेन जोताइ कै वोहिमा गोहुआ ओआउब हो।
गोहुआ कै मैदा पिसाइ कै वोहि कै माठ[2] बनाउब हो ॥६॥
वोहि कै माठ बनाइ कै सातो सूप सजाउब हो।
सातो सूप सजाइ कै भिक्षा लइ डारौ हो ॥७॥
पछहर[3] मेन जोता कै वोहिमा सहिला[4] बोआउब हो।
सहिला के दूल[5] दराय कै वोहि का बेसन पिसाउब हो ॥८॥
बेसने की बूंदी छनाय कै वोहि के लडुआ बनाउब हो।
बड़े-बड़े लडुआ बनाइ कै सातो सूप सजाउब हो ॥९॥
सातो सूप सजाइ कै भिक्षा लइ डारौं हो।
पच रतननि थार सजाइ कै भिक्षा लइ डारौं हो ॥१०॥
पेरी-पेरी मोहरे मंगाय कै दस बरण[6] कराउब हो।
माननि पाय पखारि कै अच्छै के दच्छिना देवाउब हो ॥११॥

(अ० लो० प० पृ० १३६)

ऊँची तिदुआरी (जिस स्थान पर तीन द्वार हों) के नीचे खम्भों पर मोती का दीपक जल रहा है। खम्भे का सहारा लेकर बैठी हुई बालक की आजी अपने पति से विवाद कर रही है। बाबा का परामर्श है कि बालक के यज्ञोपवीत में संचित धन से अधिक व्यय नहीं होना चाहिये। यह सुन कर आजी रूठ कर कोठे पर जाकर सो जाती है। इधर कुश के बने हुए मंडप के नीचे यज्ञोपवीत की वेदी तय्यार की गई और बालक को बुलाया गया। बालक ने आजी के अभाव में वेदी पर जाना अस्वीकार कर दिया। अन्त में दादा आजी को मनाने जाते हैं। आजी अपनी इच्छाओं का उन्मुक्त वर्णन करती है। मैदा के पकवान तथा बेसन के लड्डू से सातों सूप सजा कर तथा पंच रत्नों से थाल भर कर वे ब्रह्मचारी को भिक्षा डालेंगी। पीली-पीली (शुद्ध स्वर्ण की) मोहरें भुनवा कर मान्य जनों के चरण पखार कर दक्षिणा देंगी।

---

1. संचित।
2. विशेष पकवान।
3. बालू का।
4. चना।
5. दाल।
6. मान्यों का पद-प्रक्षालन।

इस गीत में आजी और नानी के गहरे प्रेम सम्बन्ध की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है और साथ ही यज्ञोपवीत सम्बन्धी महत्वपूर्ण विधियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। यज्ञोपवीत के अवसर पर कुटुम्ब सम्बन्धियों के अतिरिक्त प्रजा जनों (ब्राह्मण, बढ़ई, कुम्हार, नाई आदि) में भी हर्ष, उमंग तथा उत्साह का संचार लक्षित होता है।

एक भोजपुरी गीत में इस प्रकार का वर्णन हुआ है—

खोरियनि[1] खोरियनि बढ़इया पुकारे रे।
केकरा दुलरुवा के जनेउ रे॥
के लीहि पीढ़वा[2] हमार रे॥१॥
खोरियनि, खोरियन बमाना[3] पुकारे रे,
केकर दुलरुवा के जनेउ रे।
के लीहि जनेउवा हमार रे॥२॥
घर में से निकली मतारी, हमारा दुलरुवा के जनेव रे।
हम लेब पीढ़वा बढ़इया के, जनेउवा तोहार रे॥३॥

(भो० लो० पृ० १७५)

सभी प्रजा जन यज्ञोपवीत के अवसर पर अपने-अपने कर्तव्य की पूर्ति में सक्रिय हैं। बढ़ई पीढ़ा लेकर आता है और ब्राह्मण जनेऊ लेकर। बालक की माता आनन्द-विभोर होकर उन्हें ले लेती है।

इसी प्रकार के उत्साह एवं उमंग का वर्णन अवधी लोकगीत में भी हुआ है—

गलिन-गलिन पंडितु फिरै हाथ धोतिया लीन्हें बगल पोथिया लीन्हें।
है कोई नगरी मां पंडितु जनेऊ देवावै॥१॥
बाबा त उनके कवन रामा चाची उनकी दुलहिन देई।
उई मेरा जनेओ देवावें, भिच्छा लई डारें॥२॥
दद्दुली म हमरे कवन रामा माया दुलहिन देई।
उई मेरा जनेओ देवावें, भिच्छा लई डारें॥३॥
सातो सूप सजावैं, भिच्छा लइ डारीं,
पंचरतननि धारु भजावैं भिच्छा लई डारें।
मानिनपांय पखारैं तो दच्छिना देवावैं॥४॥ (अ० लो० प० पृ० १३१)

जनेऊ करवाने के लिये उत्सुक पंडित और परिवार के सदस्यों की तत्परता का सुन्दर वर्णन इस लोकगीत में किया गया है। सात सूपों में सजा कर भिक्षा तथा मान्य जनों के पद-प्रक्षालन की प्रथा का उल्लेख इस गीत में भी प्राप्त होता है।

यज्ञोपवीत तथा विवाह के अवसर पर समस्त कार्यों के निर्विघ्न सम्पन्न हो जाने के लिये देवी-देवताओं से प्रार्थना की जाती है। ऐसे अवसरों पर सर्वाधिक बाधा वर्षा से होती है। लोकगीतों में वर्षा से प्रार्थना की जाती है कि वह शुभ-कार्य में

1. गलियों में।
2. पीढ़ा।
3. ब्राह्मण।

विघ्न उपस्थित न करे। एक भोजपुरी गीत में, भाई के यज्ञोपवीत के अवसर पर बहन के द्वारा सूर्य से प्रार्थना की जा रही है—

> मोरा पिछुअरवा वा छहरि पीपर, अरु वा छाहरी पीपरि।
> ताहि तर ठाढ़ भइली बहिनी देई, अदीन मनावेलि हो ॥१॥
> अरे देव गरजहु, जनि देव बरसहु, नेवत हम जाइबि रे।
> अरे हमारी दुलरवा के जनेव, नेवत हम जाइबि रे ॥२॥
>
> (भो० लो० पृ० १७१)

भाई के यज्ञोपवीत में सम्मिलित होने के लिये व्याकुल बहन सूर्य से विनय करती है। वह बादलों का गरजना और बरसना रोक दे, क्योंकि उसे अपने दुलारे भाई के यहाँ निमन्त्रण में जाना है।

इसी प्रकार का एक अवधी लोकगीत है, जिसमें अपने पुत्र के यज्ञोपवीत के अवसर पर माता-पिता वर्षा के देवता इन्द्र से विनय कर रहे हैं—

> इन्द्र घटा घन घेरिये, इन्द्र बरसन आए हैं हो।
> अयध्या ते उठिभे दसरथ राजा, दोनो कर जोरि हो ॥१॥
> हाथ जोरि बिनती करौं, सुनो इन्द्र बिनतिउ हमारि हो।
> आजु दिवस जनि बरसहु, मोरे बरुआ रामचन्द्र होय ॥२॥
> भितरा से निकसी कौसल्या रानी दोनो कर जोरि हो।
> हाथ जोरि बिनती करैं, सुनो इन्द्र बिनती हमारि हो।
> आजु दिवस जिन बरसहु मोरे बरुआ रामचन्द्र होय ॥३॥
>
> (अ० लो० प० पृ० १४५)

इस गीत में राजा दसरथ और रानी कौशल्या सामान्य माता-पिता के प्रतीक हैं। रामचद्र भी सामान्य पुत्र का अर्थ व्यंजित करते हैं।

वर्षा से उत्पन्न कठिनाइयों की आशंका से भयभीत होकर इन्द्र देवता से प्रार्थना की गई है कि आज के दिवस यह पानी न बरसाएँ, क्योंकि पुत्र का जनेऊ होने वाला है।

इन्द्र का घनी घटा घेर कर 'बरसने आना' अत्यन्त सुन्दर एक उक्ति है।

इस प्रकार यज्ञोपवीत संस्कार के गीतों में समाज में प्रचलित रीतियों एवं परिवार के स्त्री-पुरुषों के मनोभावों का सुन्दर समावेश लक्षित होता है।

विवाह-संस्कार

विवाह स्त्री-पुरुष का वह पारस्परिक सम्बन्ध है जो धर्म और नियम से आबद्ध हो। हिन्दू जाति में विवाह एक धार्मिक प्रथा के रूप में प्रचलित है। प्राचीन काल से हमारे यहाँ आश्रम-धर्म की व्यवस्था चली आ रही है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन चार खण्डों में विभक्त होकर क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम के कर्तव्यों का पालन करता हुआ अपने चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिये उन्मुख रहता है। इन चारों आश्रमों की साधना के परिणामस्वरूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष ही मानव-जीवन का अन्तिम

उद्देश्य है। चारों आश्रमों मे गृहस्थाश्रम का विशेष महत्व है। मनु के अनुसार सब आश्रम गृहस्थ पर उसी प्रकार आश्रित हैं जिस प्रकार वायु पर जीव आश्रित होते हैं।[1] हिन्दू धर्म के अनुसार प्रत्येक मनुष्य पर तीन प्रकार के ऋण होते हैं जिनसे उसे उऋण होना है। ये ऋण हैं—ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण। प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मचर्य धारण करके तथा ऋषियों के ग्रन्थों का स्वाध्याय करके ऋषि-ऋण से मुक्त होता है, यज्ञादि कर्मों के द्वारा देव ऋण से मुक्त होता है और अनुकूल वर्ण तथा गुण वाली स्त्री से विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है। इन तीन ऋणों से मुक्त होने के पश्चात ही मनुष्य सन्यासी होता है। सन्यासी होकर यज्ञोपवीत का त्याग कर दिया जाता है, क्योंकि यज्ञोपवीत को इन तीनों ऋणों को स्मरण रखने के लिये ही धारण किया जाता है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम धर्म का पालन मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। विवाह गृहस्थाश्रम-प्रवेश का मूल सोपान है।

विवाह की आवश्यकता केवल वासना-तृप्ति के लिये नहीं होती, बल्कि मनुष्य धर्म का समुचित रूप से पालन करना ही उसका एक मात्र उद्देश्य है। हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक कृत्य है। एक बार पाणि-ग्रहण के पश्चात् स्त्री-पुरुष आजीवन धर्म के बन्धन में बँध जाते हैं। वैवाहिक पवित्रता की रक्षा प्रत्येक स्त्री-पुरुष का कर्तव्य होता है।

मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है—

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान्।
अष्टाविमान्समासेन स्त्री विवाहान्निबोधत ॥१॥
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥२॥
आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥३॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्यसुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥४॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥५॥
सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥६॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥७॥
इच्छयान्योन्य संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्य काम सम्भव ॥८॥
हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्ती रुदती गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधि रुच्यते।

---

1. भारतीय समाज और संस्कृति, कैलाश नाथ शर्मा पृ० १६३

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥१०॥

अर्थात्—

लोक और परलोक मे चारो वर्णों के हित और अहित के साधक इन आठ प्रकार के विवाह होते है—

(१) ब्रह्म (२) दैव (३) आर्ष (४) प्राजापत्य (५) आसुर (६) गांधर्व (७) राक्षस (८) पैशाच ।

अच्छे शीलवान गुणवान वर को स्वयं बुलाकर उसे भूषण वस्त्र से अलंकृत और पूजित करके कन्या देना ब्राह्म विवाह है ।

यज्ञ में सम्यक् प्रकार से कर्म करते हुए ऋत्विज को अलंकारादि से पूजित करके कन्या देना दैव विवाह है ।

वर से एक या दो जोड़े गाय, बैल धर्मार्थ लेकर विधि पूर्वक कन्या देना आर्ष विवाह है ।

"तुम दोनों साथ मिल कर गृह-धर्म का पालन करो" वर से यह कह कर और पूजन करके कन्या-दान करना प्राजापत्य विवाह है ।

कन्या के पिता या चाचा आदि को तथा कन्या को यथाशक्ति धन देकर स्वच्छन्दता-पूर्वक कन्या को ग्रहण करना आसुर विवाह है ।

कन्या और वर की इच्छा से उनका संयोग होना गान्धर्व विवाह है। यह काम तथा भोग की इच्छा से होता है ।

मार कर, घायल कर गृह आदि को तोड़ कर रोती-बिलखती कन्या को बल-पूर्वक हरण कर ले जाना राक्षस विवाह है ।

नींद मे सोई हुई या मदमाती अथवा पागल कन्या के साथ एकान्त मे भोग करना अत्यन्त पापपूर्ण पैशाच विवाह है ।

विवाह के उपर्युक्त प्रकारो मे प्रारम्भिक चार प्रकार के विवाह श्रेष्ठ माने जाते हैं और अन्तिम चार प्रकार के विवाह निकृष्ट माने जाते है ।

हिन्दू समाज मे मान्यता रूप मे ब्राह्म विवाह का प्रचलन है । कन्या के माता-पिता अथवा संरक्षक योग्य वर का चुनाव करते हैं तथा धन और वस्त्राभूषण के साथ अपनी कन्या को उसे दान कर देते हैं ।

इसके अतिरिक्त विवाह के अन्य प्रकारों के रूप भी समाज मे दिखाई देते है । दैव विवाह उस समय अधिक प्रचलित था जब देश मे यज्ञों का महत्व था । इस विवाह में उस यज्ञ कर्ता को सुसज्जित कन्या का दान किया जाता था जो किसी यज्ञशाला मे पुरोहित का कार्य संभालता था । यह विवाह बौद्धिक मैत्री, आर्थिक स्वतन्त्रता और गौरवपूर्ण सामाजिक स्थिति का विधायक समझा जाता था । आजकल

इस विवाह प्रथा का अभाव है। आर्ष विवाह में कन्या का दान किसी ऋषि को किया जाता था। अतः ऋषियों के अभाव में इस वैवाहिक प्रथा का भी लोप हो गया। प्राजापत्य विवाह की हिन्दू समाज में कहीं कहीं एक झलक मिल जाती है। इसमें 'तुम दोनों साथ मिलकर गृह-धर्म का पालन करो' ऐसा कह कर वर को कन्या दान दिया जाता था। आजकल दहेज की समस्या के प्रबल हो जाने से माता-पिता वर को ढूँढ कर कन्या का दान साधारण रीति से कर देते हैं। दहेज निवारण के लिए कन्या-पक्ष तो प्रयत्नशील होता ही है वर पक्ष को भी तद्रूप सहमति देनी होती है। दहेज तथा अन्य आडम्बरों से रहित विवाह एक प्रकार से प्राजापत्य विवाह ही है जिसमें माता पिता तथा अन्य परिजनों की यह शुभकामनायें ही महत्वपूर्ण होती हैं कि वर एवं कन्या का दाम्पत्य जीवन सुखी बने।

आसुर विवाह के उदाहरण भी विशाल संख्या में प्राप्त होते हैं। इसमें कन्या-पक्ष को पर्याप्त दाम देकर कन्या को प्राप्त करने की चेष्टा होती है। अनेक माता-पिता और संरक्षक धन के प्रलोभन में अपनी कन्या को बेच देते हैं।

गान्धर्व विवाह तो आज कल होने वाले समस्त प्रेम-विवाहों के मूल में स्थित है। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में शिक्षित अधिकांश युवक-युवती इसी विवाह-प्रथा के पक्ष में हैं। भारत में गान्धर्व-विवाह का प्रसार आज कल वेग से बढ़ता जा रहा है। राक्षस विवाह का प्रचलन उस समय अधिक था, जब देश पर मुगलों का साम्राज्य स्थापित था। वे हिन्दुओं की कन्याओं का अपहरण करके बलपूर्वक ले जाते थे। क्षत्रिय राजाओं के उस काल में भी जब देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था और उनमें पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का प्रसार था, इस प्रकार के विवाह के उदाहरण प्राप्त होते थे। आजकल भी निम्न वर्गों में इस प्रकार के कुछ उदाहरण पाये जाते हैं।

पैशाच-विवाह समाज के अन्तर्गत अपराध की श्रेणी में आता है। इस अपराध की संख्या भी कम नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दैव एवं आर्ष विवाहों को छोड़ कर अन्य समस्त विवाह वर्तमान हिन्दू समाज के अन्तर्गत किसी न किसी रूप में प्रचलित हैं।

लोकगीतों में जिस विवाह का उल्लेख होता रहा है, वह सामाजिक एवं धार्मिक मान्यता प्राप्त ब्राह्म-विवाह ही है। हिन्दुओं में उच्च जाति के व्यक्तियों में इसी वैवाहिक प्रथा को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ शिक्षा एवं सभ्यता के आधुनिक रूप का पदार्पण नहीं हो सकता है, इस वैवाहिक प्रथा के प्रति एक निष्ठता की भावना मिलती है। फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि दहेज की कुत्सित प्रणाली के फलस्वरूप उपर्युक्त श्रेष्ठ विवाह-प्रथा आज हिन्दू समाज में अभिशाप बन गई है।

इस दृष्टिकोण से भोजपुरी एवं अवधी प्रदेशों की विवाह प्रणालियाँ समान ही हैं। विवाह योग्य कन्या के लिये सुयोग्य वर की खोज की जाती है। प्रायः वर की खोज करने का भार पिता अथवा भाई के ऊपर ही रहता है। वर की यह खोज

एक ऐसी कठिन यात्रा सिद्ध होती है जिसमें अथक परिश्रम, अटूट प्रयास और अनियंमित धन व्यय से उपरान्त निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होती है। यह दहेज प्रथा का कुत्सित परिणाम है। कन्या पक्ष का व्यक्ति जब वर के यहाँ विवाह का प्रस्ताव लेकर जाता है तब वर-पक्ष के व्यक्ति उससे इच्छानुसार धन की माँग करते हैं। वर की योग्यता, कुलीनता तथा भावी आवश्यकता को ध्यान में रखकर माँगे जाने वाले धन की मात्रा का निर्धारण वर पक्ष के व्यक्ति अपने आप कर लेते हैं। यह माँग साधारण व्यक्तियों से भी हजार रुपये से कम नहीं होती। भोजपुरी प्रदेश में यह मुहावरा प्रसिद्ध है—

'बिना हजार के बजार ना लागी।'

वर के चुनाव में कन्या का पिता स्वतन्त्र होता है। कन्या के मत की उसे आवश्यकता नहीं होती। अतः अपनी सुविधानुसार वह किसी भी वर को चुन लेता है। यदा-कदा यह चुनाव अनुचित भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में अवांछनीय वर के साथ ही कन्या की विवाह हो जाता है।

भोजपुरी प्रदेश की विवाह रीतियाँ

सर्व प्रथम कन्या के पिता के द्वारा योग्य वर का चुनाव होता है। वर पसन्द आ जाने पर 'वरीक्षा' होती है जिसमें कन्या का पिता वर के हाथों में कुछ रुपया एवं एक जोड़ा जनेऊ देता है। 'वरीक्षा' का अर्थ है वर की रक्षा अर्थात् कन्या के लिये उक्त वर सुरक्षित हो गया और उसके अन्य विवाह सम्बन्ध की चर्चा नहीं चल सकती। वरीक्षा के पश्चात् तिलक होता है। निश्चित तिथि को कन्या का पिता अथवा भाई अन्य कुटुम्बियों के साथ तिलक चढ़ाने वर के यहाँ आता है। तिलक में निश्चित रुपये, बर्तन तथा वस्त्र लेकर जाया जाता है। वर पक्ष के यहाँ यह अवसर विशेष समारोह का होता है। रात्रि के समय शुभ मुहूर्त में कन्या का पिता या भाई वर को तिलक करके रुपया या सुपारी हाथ में देता है। उसी समय बर्तन तथा वस्त्र भी दिये जाते हैं। तदुपरान्त वर पक्ष के यहाँ आगत अतिथियों तथा अन्य सम्बन्धियों की दावत होती है।

कन्या पक्ष के यहाँ तिलक के दिन से ही सगुन गाया जाने लगता है। इसका अर्थ है कि उस दिन से विवाह का सगुन आरम्भ हो जाता है। विवाह की निश्चित तिथि के पूर्व मड़व की तय्यारी होती है। कच्चे व हरे ८ या ६ बाँसों का मंडप बनता है, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई कन्या के ७ हाथों के बराबर होती है। मड़व पर फूस का छाजन होता है। इसे विविध प्रकार से सजाया जाता है। इस समय 'माटी' के गीत गाए जाते हैं। कन्या के यहाँ 'माटी' कोड़ाई होती है जिसमें किसी कुआँ या तालाब की मिट्टी खोदने के लिये जाया जाता है। 'कलस धराई' में मंडप के नीचे कलस रखे जाते हैं। हल्दी चढ़ाई में कन्या को तेल एवं हल्दी चढ़ायी जाती है। तत्पश्चात लावा भुजाई एवं मातृ-पूजन की विधियाँ सम्पन्न होती हैं। फिर बारात-आगमन की प्रतीक्षा होने लगती है।

बारात जाने के एक दिन पूर्व वर के यहाँ 'भतवानि' होती है जिसमें समस्त कुटुम्बियों की दावत होती है (भात ही खिलाया जाता है)। इस दावत में सम्मिलित

होने वाला प्रत्येक व्यक्ति बारात मे अवश्य जाता है। दूसरे दिन बारात-गमन के कुछ समय पूर्व मातृपूजन होता है जिसमें गाव के श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों की पैर-पूजा वस्त्र एवं रुपयो से की जाती है। मातृपूजा के पश्चात माटी-कोड़ाई, लावाभुजाई और इमली घोटाई आदि अनेक विधियाँ सम्पन्न होती हैं।

इमली घोटाई में मामा का रहना आवश्यक है क्योंकि वह वर की माता को जल पिलाता है। इन समस्त विधियो की समाप्ति के पश्चात् वर पालकी मे बैठता है। उस समय स्त्रियां उसके सिर पर लोढ़ा घुमाती हैं तथा परीछावन करती हैं। वे वर को दधि अक्षत का टीका भी लगाती हैं। प्रतिष्ठित परिवार की बारात मे सर्व प्रथम हाथी चलते हैं, उसके पश्चात् घोड़े रहते हैं, उन पर सुसज्जित सवार होते हैं। उनके पीछे समधी की पालकी रहती है। समधी के पीछे वर की पालकी होती है। उसके साथ हजाम चंवर हिलाता हुआ चलता है। पालकी के पीछे साधारण बारातियों का समूह पैदल चलता है। बारात के साथ-साथ बाजे बजते हैं। बारात के अन्त में भोजपुरी लठैत सुरक्षा के लिये चलते हैं। इस प्रकार बारात कन्या के यहाँ आती है।

घर पर बारात पहुँचने पर द्वार पूजा होती है, जिसमे वर का पूजन तथा स्वागत किया जाता है। इसके बाद कन्या पक्ष की ओर से बारातियों को भोजन का निमन्त्रण भेजा जाता है जिसे 'अड़का मागना' कहते हैं। भोजनोपरान्त वर का बड़ा भाई भावी वधू को मंडप मे आकर आभूषण एवं वस्त्र देता है जिसे 'गुरहत्थी' कहा जाता है। तत्पश्चात् मंडप मे वर को बुलाकर वैवाहिक विधियाँ आरम्भ की जाती हैं। कन्या को गोद में लेकर पिता बैठता है तथा शास्त्रीय पद्धति से कन्यादान करता है। कन्यादान के पश्चात् भांवरें होती हैं, इस विधि के उपरान्त 'सुमङ्गली' होता है जिसमे वर कन्या को सिन्दूर अर्पण करता है। विवाहोपरान्त वर एव वधू को एक सजाये हुए कमरे में, जिसे कोहबर कहते हैं, ले जाया जाता है। यह स्थान विनोद एव परिहास का स्थल होता है। इसके पश्चात् संध्या समय वर का कलेऊ होता है और दूसरे दिन प्रातः विदा की तय्यारी होने लगती है।

वर पक्ष के यहाँ बारात जाने के पश्चात् रात्रि में डोमकछ होता है जिसमें स्त्रियाँ अभिनय पूर्वक गीत गाती हैं। बारात के लौटकर आने पर सर्व प्रथम 'परीछन' होता है। विवाह के चौथे दिन 'चौथारी' होती है जिसमे वर एव वधू किसी नदी किनारे जाकर स्नान करते हैं और अपने कंगन खोलते हैं। फिर देवी-देवताओं के दर्शन करते हुए घर जाते हैं।

विवाह के इस समस्त विधि-विधानो के समय लोकगीत गाये जाते हैं। इस दृष्टि से विवाह सम्बन्धी गीतों को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है। कन्या पक्ष के गीत एवं वर पक्ष के गीत। कन्या पक्षीय गीतो मे करुणा की लहर उद्वेलित रहती है और वर पक्षीय गीतों में हर्ष की सुमधुर झंकार तरंगित होती है। गीतो का स्पष्ट विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

कन्या पक्ष	वर पक्ष
१—तिलक के गीत	१—तिलक के गीत
२—सन्ध्या के गीत	२—सगुन के गीत
३—मांडो के गीत	३—मतवारि के गीत
४—माटी खोदाई के गीत	४—माटी खोदाई के गीत
५—कलश धराई के गीत	५—लावा भुजाई के गीत
६—हरदी के गीत	६—इमली घाटाई के गीत
७—लावा भुजाई के गीत	७—हरदी के गीत
८—मन्दिर पूजा के गीत	८—मन्दिर पूजा के गीत
९—द्वार पूजा के गीत	९—वस्त्र धारण के गीत
१०—गुरहथी के गीत	१०—नहछू के गीत
११—विवाह के गीत	११—परिछावन के गीत
१२—भांवर के गीत	१२—डोमकछ के गीत
१३—घूमने के गीत	१३—परिछावन के गीत
१४—द्वार रोकने के गीत	१४—गोद भराई के गीत
१५—कोहबर के गीत	१५—कोहबर के गीत
१६—परिहास के गीत	१६—कंगन छोड़ाई के गीत
१७—भात के गीत	
१८—वर उबटने के गीत	
१९—माटी खोलाई के गीत	
२०—बारात विदाई के गीत	
२१—कंगन छुड़ाई के गीत	
२२—चौपारी के गीत	

अवधी-प्रदेश की विवाह-रीतियाँ

यहाँ भी कन्या का पिता, भाई अथवा संरक्षक सुयोग्य वर की खोज करता है। वर-प्राप्ति के पश्चात् उसकी वरीक्षा की जाती है। विवाह का यह सबसे पहला सगुन होता है। चाँदी-सोने अथवा फूल के कटोरे में पीले चावल व हल्दी, सुपारी तथा रुपया रख कर वर के हाथ पर दिया जाता है। कन्या के हाथ से स्पर्श करा के यह कटोरा भेजा जाता है। इस विधि के सम्पन्न हो जाने पर दोनों पक्ष विवाह के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो जाते हैं। उसके पश्चात् निर्धारित शुभ तिथि को तिलक या फलदान होता है। कन्या-पक्ष के व्यक्ति तिलक का सामान लेकर वर-पक्ष के यहाँ जाते हैं और वहाँ समारोह का यह सामान वर को सौंप दिया जाता है। मुख्य सामान इस प्रकार होता है—चावल, हल्दी, सुपारी, (प्रायः इन पर चाँदी चढ़ी होती है) फूल-माला, पान के बीड़े, एक जटा नारियल (इन पर भी चाँदी चढ़ी होती है), चन्दन की मूठ, लगन-पत्री, सामानों की सूची इन आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त इच्छानुसार तीन, पाँच, सात अथवा ग्यारह थान कपड़े, रुपये, आभूषण इत्यादि भी रहते हैं। कपड़ों में लंहगे का कपड़ा अवश्य रहता है। वर के यहाँ

तिलक चढ़ने के पश्चात् श्रेष्ठ जनों की नजरें (भेंट) की जाती हैं। जिसमें परिवार के समस्त व्यक्तियों को कन्या का पिता रुपये देता है। वर पक्ष के पंडित और नाई को भी दक्षिणा दी जाती है।

तिलक के पश्चात् किसी शुभ दिन सात सोहागिनें मिल कर अनाज छूती हैं। उस दिन से विवाह के लिये अनाज तैयार करना आरम्भ हो जाता है। इस विधि में सातों सोहागिनें सुसज्जित होकर (जिसे 'मूंड़ महावर करना' कहते हैं) गोद भरवा कर अपने-अपने सूप में सात बार अनाज लेकर पछोरती है। यह अनाज अधिकतर उरद ही होता है। इसी की दाल आगे मातृ-पूजा के दिन पितरों की हांडी में भरी जाती है और सिल पोहनी के दिन पीसने के काम में आती है। बाद में पितरों के लिये इसके बरे बनते हैं।

किसी भी शुभ कार्य में गाँव-पड़ोस की स्त्रियों को सम्मान पूर्वक बुलाया जाता है। सर्व प्रथम नाऊ हल्दी-चावल लेकर बुलाने जाता है। चावल द्वार पर छिड़क कर हल्दी हाथ मे देकर आता है। निश्चित समय के कुछ समय पूर्व ही फिर बुलावा करने जाता है जिसका अर्थ है तत्काल चलने की सूचना। विधि सम्पादन के पश्चात् स्त्रियों की माँग में सिन्दूर पहना कर एवं कोंछा में गुड़ और चने की दाल अथवा बताशे या लड्डू देकर विदा किया जाता है। अनाज की तैयारी के पश्चात् बरी लगाई जाती है। सर्व प्रथम सात सोहागिने शृंगार करके सात-पाँच बरियाँ खुआ देती है। उनकी सिन्दूर से पूजा की जाती है फिर शेष बरिया लगाई जाती हैं। इन समस्त विधियों पर गीत अवश्य होते हैं।

मंडप के दिन शुभ मुहूर्त में, आँगन के बीच मे गड्ढा खोद कर एक पैसा और सुपारी रख देते हैं फिर एक लम्बे हरे बाँस की सहायता से हरिस को खड़ा कर देते हैं। यह कार्य पंडित करता है। बाद मे सात-पाँच बाँस लगा कर इच्छानुसार सुन्दर मंडप तय्यार कर लेते हैं। इस समय मड़वा के गीत होते रहते हैं।

तेल के दिन कन्या वर को तेल चढ़ाया जाता है। उस दिन कन्या के समस्त जेवर उतार लिये जाते हैं। केश खोल दिये जाते हैं। वर की भी अंगूठी आदि उतार ली जाती है। दोनों का स्नान-कार्य बन्द कर दिया जाता है। तेल चढ़ाते समय सात सोहागिन स्त्रियाँ एक-एक करके दूब से तेल चढ़ाती हैं। कहीं-कहीं सात कन्यायें तेल चढ़ाती हैं। उसके पश्चात् हल्दी और उपटन किया जाता है।

मट मंगरा या मृतिकामंगल के दिन समस्त सुहागिनें सुसज्जित होकर गोद भरवा कर ताल या कुआँ के किनारे या खेत मे मिट्टी खोदने जाती हैं। जाने के पहले वे मांगर (वह नगड़िया जो चमार आकर बजाते हैं) की पूजा करती है। आगे सूप मे पूजा की सामग्री लेकर नाइन चलती है, उसके आगे चमार नगाड़ा बजाते हुए चलता है। एक फावड़ा तथा टोकरी साथ में ले जाती है। पहले उस स्थान को सुहागिन स्त्रियाँ पूजती हैं, जहाँ से मिट्टी निकलती है। फिर फावड़े से खोद कर पाँच बार मिट्टी निकाली जाती है। यह पवित्र मिट्टी कलश के नीचे बिछाने, वेदी बनाने तथा चूल्हा बनाने के काम आती है। तत्पश्चात उसी दिन कुल देवता की पूजा होती है। मंडप के नीचे रखे जाने वाले कलश की गोटाई होती है। गोबर तथा

जो की सहायता से यह कलश नेग्द सौंटती है। मोरे में सात कंगने बनवाये जाते हैं, जो शकुन की विभिन्न वस्तुओं में बांधे जाते हैं—(१) कलश में (२) पीढ़े में (३) खम्भे में (४) गेडुआ में (६) कंगन (७) लड़के और लड़की को बंधती हैं। सब धागे में राई-नमक मिले चोकर की छोटी-सी पोटली बनाकर बांध दी जाती है। उसी में मोरे का फुन्ना बांध दिया जाता है। यही कंगन कहलाता है जो लड़की या लड़के की कलाई में बांध दिया जाता है।

एक कोहबर बनाया जाता है जिसे मायन वाला कमरा भी कहते हैं। कन्या पक्ष में, बारात आने के एक दिन पूर्व स्त्रियां माई कचौड़ी और लपसी इत्यादि मटकों में बन्द करके रखती हैं। बारात विदा हो जाने पर इन्हें नाते की स्त्रियों में बांट दिया जाता है। यह माता का प्रसाद समझा जाता है। बारात आने दिन ही कुएं की पूजा होती है। दोनों पक्ष की स्त्रियां कुआं पूजने जाती हैं। वर पक्ष के यहाँ वर की माता कुआं में पैर लटका कर बैठ जाती है तब पुत्र उसे आजन्म आज्ञाकारी बने रहने की प्रतिज्ञा कर निकाल लाता है। लौट कर स्त्रियां घर के द्वार की पूजा करती हैं।

उसी दिन कन्या एवं वर दोनों का कवारापन उतारा जाता है। कन्या पक्ष वाले कन्या को तथा वर पक्ष वाले वर को समस्त अन्य चार कवांरियों तथा कवांरों के साथ भोजन कराते हैं। इस समय उनके सिर पर पत्तल रख कर पूछा जाता है कि 'कवारापन उतरा ?' वे कहते हैं 'हाँ उतरा'। इस समय के पश्चात लड़के या लड़की को अन्न नहीं खाने दिया जाता। पत्तल की बंधी हुई वस्तुएं घूरे में गाड़ दी जाती हैं, इसे घूरा पुजाई कहते हैं। यह क्रिया कन्या के यहाँ नहीं होती, वर के यहां बारात चलने के पहिले होती है।

उसी दिन दोनों पक्षों में कुछ अन्य विधियां भी सम्पन्न होती हैं—अहीर के घर की पूजा, भुर्जी के भाड़ की पूजा आदि।

यहाँ तक की रीतियां दोनों पक्षों में समान रूप से लग्नपत्री के अनुसार होती हैं। कुछ विधियां दोनों के यहाँ पृथक्-पृथक् रूप में होती हैं। विवाह के दिन माता पुत्री को लेकर घर-घर सोहाग मांगने जाती हैं। साथ में स्त्रियों का विशाल समूह होता है। घर-घर सुहागिनें अपने मांग का सिन्दूर कन्या के माथे पर चढ़ाती हैं। सुहाग का यह उमड़ता हुआ रूप अत्यन्त मनोहर होता है।

उधर वर-पक्ष के यहाँ बारात की 'निकरौनी' होती है। पीला जामा पहने, मौर लगाए, पैरों में महावर तथा आंखों में काजल लगाये धीवर की शोभा दर्शनीय होती है। गाँव की स्त्रियों का समूह मंगल-गान गाकर बारात को प्रेषित करता है। निकरौनी में अनेक स्थानों में वर को घोड़े पर बैठाने की रीति है। अपने घर से प्रस्थान होकर बारात कन्या के यहाँ पहुँचती है। कन्या-पक्ष के व्यक्ति उसका स्वागत करते हैं। कन्या का पिता धीवर की पूजा करता है, तब बारात जनवासे में ठहरा दी जाती है।

संध्या समय द्वार-चार होता है। बारात कन्या के दरवाजे पर आती है। वर की पूजा होती है और वहीं पर कन्या का पिता निर्धारित धनराशि, वर्तन,

धन धन बेटी हो तोहरो जनम भइले, देवतन लिहले धमेढ़[1] ए ॥
भइले बिवाह परेला सिर सेनुर, नब लाख मांगे दहेज ए ।
घर में के मोड़ा ऑगन देई पटकवि, सलह[2] के धिया जनि होइ ए ॥
जाहु हम जनितों कि धिया कोखि जनमिहे, पिहितो हम मरिचि झरार[3] ए ।
मरिचि के झारे झुरे धिया मरि जइती, छूटि जइते गरेहुआ[4] संताप ए ॥

(गो॰ ग्रा॰ गी॰) पृ॰ २७ ।

सम्पूर्ण गीत मातृ-हृदय की गहन वेदना से पूर्ण है। बेटी को सम्बोधन करके गये इस गीत मे समाज म व्याप्त कन्या की उपेक्षा का यथार्थ चित्रण प्राप्त होता जन्म काल से ही कन्या दु:ख कष्ट एवं घृणा पूर्ण वातावरण पाती है। एक समस्या के रूप में यहाँ कन्या को प्रस्तुत किया गया है जिसका जन्म भादो की अंधेरी रात में हुआ था। घृणा से भर कर सास-ननद ने दीपक भी नहीं , कुबोलों से उसका स्वागत किया। अपार वेदना और कष्ट से माता की का भी उस दिन से अपहरण हो गया। देवता भी उस दिन से रूठ कर । दिन-रात चिन्ता और कष्ट का आतंक है। पिता की चिन्ता तो उस दिन जब इस कन्या का विवाह हो जायगा। किन्तु विवाह क्या इतना सरल लाख का दहेज मांगा जा रहा है। हे ईश्वर शत्रु के घर मे भी कन्या हो। कन्या उत्पन्न करने की अपेक्षा उसे गर्भ मे ही मार देना उत्तम है। न्तिम पंक्तियाँ माता के हृदय की अथाह चिन्ता से उत्पन्न कठोरता एवं मार्मिक चित्र उपस्थित करती हैं।

तुर के धिया जनि होय ए" मे माता के हृदय की विवशता क्रन्दन कर कड़वी मिर्चों को घोल कर पीने और गर्भस्थ कन्या को मार डालने की :ख, पीड़ा, यातना और आतंक म ग्रसित छटपटाती हुई स्त्री का जो दित उत्तेजक स्वरूप व्यक्त है, वह हिन्दू समाज का वीभत्स उपहास है—

हम जनितीं धिय कोखि जनमिहे, पिहितो हम मरिचि झरार ए ।
र के झारे झुरे धिया मरि जइती, छूटि जइते गरेहुआ संताप ए ॥"

समाज मे कन्या को उपेक्षित एवं घृणित स्थान प्राप्त होने का एक ज की समस्या है। अपने रक्त से सजीव अंग को दान करने के पिता को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति, अपनी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा का भी त्याग तब कहीं कन्या का विवाह सम्पन्न हो पाता है। असहाय और निरीह को [illegible] ना नहीं है। लोकगीतों में समाज की कुरीतियों

[illegible] पण आघात से व्यथित एक

धन धन बेटी हो तोहरो जनम भइले, देवतन लिहले बसेड[1] ए।।
भइले बिआह परेला सिर सेनुर, नव लाख माँगे दहेज ए।
घर में के माड़ा आँगन देई पटकवि, सलह[2] के घिदा जनि होइ ए।।
जाहु हम जनितीं कि धिया कोखि जनमिहे, पिहितीं हम मरिचि झरार[3] ए।
मरिचि के झारे झुरे धिया मरि जइती, छूटि जइते गरेहुआ[4] संताप ए।।
(गो० प्रा० गी०) पृ० २७।

सम्पूर्ण गीत मातृ-हृदय की गहन वेदना से पूर्ण है। बेटी को सम्बोधन करके गाये गये इस गीत मे समाज में व्याप्त कन्या की उपेक्षा का यथार्थ चित्रण प्राप्त होता है। जन्म काल से ही कन्या दुःख कष्ट एवं घृणा का पूर्ण वातावरण पाती है। एक विषम समस्या के रूप में यहाँ कन्या को प्रस्तुत किया गया है जिसका जन्म भादों की काली अँधेरी रात में हुआ था। घृणा से भर कर सास-ननद ने दीपक भी नहीं जलाया, कुबोलों से उसका स्वागत किया। अपार वेदना और कष्ट से माता की भूख-प्यास का भी उस दिन से अपहरण हो गया। देवता भी उस दिन से रूठ कर चले गए। दिन-रात चिन्ता और कष्ट का आतंक है। पिता की चिन्ता तो उस दिन दूर होगी जब इस कन्या का विवाह हो जायगा। किन्तु विवाह क्या इतना सरल है? नौ लाख का दहेज माँगा जा रहा है। हे ईश्वर शत्रु के घर मे भी कन्या उत्पन्न न हो। कन्या उत्पन्न करने की अपेक्षा उसे गर्भ मे ही मार देना उत्तम है। गीत की अन्तिम पंक्तियाँ माता के हृदय की अथाह चिन्ता से उत्पन्न कठोरता एवं नृशंसता का मार्मिक चित्र उपस्थित करती हैं।

"सतुरु के धिया जनि होय ए" में माता के हृदय की विवशता क्रन्दन कर रही है। कड़वी मिर्चों को घोल कर पीने और गर्भस्थ कन्या को मार डालने की कल्पना में दुःख, पीड़ा, यातना और आतंक म ग्रमित छटपटाती हुई स्त्री का जो अधीर, उन्मादित उत्तेजक स्वरूप व्यक्त है, वह हिन्दू समाज का वीभत्स उपहास है—

"जाहु हम जनितीं धिया कोखि जनमिहै, पिहितों हम मरिचि झरार ए।
मरिचि के झारे झुरे धिया मरि जइती, छूटि जइते गरेहुआ संताप ए।।"

हिन्दू समाज मे कन्या को उपेक्षित एवं घृणित स्थान प्राप्त होने का एक मात्र कारण दहेज की समस्या है। अपने रक्त से सजीव अंश को दान करने के साथ-साथ माता-पिता को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति, अपनी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा का भी त्याग करना पड़ता है, तब कहीं कन्या का विवाह सम्पन्न हो पाता है। असहाय और निरीह माता-पिता के कष्ट की कोई सीमा नहीं है। लोकगीतों में समाज की कुरीतियों का नग्न प्रदर्शन हुआ है।

अवधी लोकगीत मे भी कष्ट और दुःख के भीषण आघात से व्यथित एक माता दहेज की समस्या से क्षुब्ध हो उठी है—

---

1. बास।
2. शत्रु।
3. कड़ुआ।
4. अत्यधिक भीषण।

४. मड़वा या माड़व के गीत
५. तेल के गीत
६. मंड मंगरा के गीत
७. कलश गोठाई के गीत
८. मोर यानी नेवताने के गीत
९. सिल पोहनो या मातृपूजन के गीत
१०. अगवानी के गीत
११. द्वार पूजा के गीत
१२ चढ़ाव के गीत
१३. विवाह के गीत
१४. भावर के गीत
१५. द्वार रोकाई के गीत
१६. कोहबर के गीत
   (क) हास परिहास
   (ख) बातें
   (ग) जूता चुराई
१७. डेरी या मालुके के गीत
१८ कलेवा के गीत
१९. ज्योनार के गीत
२०. गूंथ खोलाई के गीत
२१. खूंट धराई के गीत
२२. कंगन छोड़ाई के गीत
२३. चतुर्थी के गीत
२४. बतौनी या विदाई के गीत

४. तेल के गीत
५. मंड मंगरा के गीत
६. नहुर या नहछू-नहान तथा उबटन के गीत
७ वर मड़वा के गीत
८. बनरा के गीत
९ घोड़ी के गीत
१० मौर के गीत
११. सेहरा के गीत
१२. टोना के गीत
१३ बर यात्रा के गीत या निकरोसी
१४. परछोन या गोड़धा के गीत
१५. परछन के गीत
१६. कोहबर के गीत
१७. कंगन छोड़ाई के गीत

कन्या का विवाह एक भीषण समस्या के रूप में हमारे समाज की दुरवस्था का प्रतीक है। विवाह योग्य कन्या माता पिता की आंखों में जीवन की असाध्य चिन्ता बन कर छाई रहती है। यही कारण है कि पुत्री का जन्म होते ही माता-पिता का हृदय विषाद और वेदना से आच्छन्न हो जाता है। आंखों की नींद, मन की शान्ति, जीवन का सुख और हृदय का आनन्द सब कुछ नष्ट हो जाता है। विवशता और विकलता के भीषण ज्वारों में उद्वेलित माता-पिता का अन्तःकरण निरन्तर दुःख से पीड़ित रहता है। इस व्याकुल पीड़ा की अभिव्यंजना में लोक-कंठों से अनेक करुण गीतों के सजल स्वर निकल पड़े हैं—

जाहि दिन बेटी हो तोहार जनम भइले, पेडुरी मोर घहराइ ए।
माय मड़रिया बेटी मन ही न भावेला, पेडुरी मोर घहराइ ए॥
जाहि दिन बेटी हो तोहरो जनम भइले, भइली भदउआ के रात ए।
सासु ननद घरे दियरो न बारेली, उहो प्रभु बोले से कुबोल ए।
जाहि दिन बेटी हो तोहरो विवाह होइहैं, बाबा के हिरदया जुड़ाई[1] ए।

1. हृदय शान्त होना।

धन धन बेटी हो तोहरो जनम भइले, देवतन लिहले बसेरु[1] ए ॥
भइले बिआह परेला सिर सेनुर, नव लाख मांगे दहेज ए ।
घर में के माड़ा आँगन देई पटकवि, सलहु[2] के धिया जनि होइ ए ॥
जाहु हम जनितीं कि धिया कोखि जनमिहे, पिहितीं हम मरिचि झरार[3] ए ।
मरिचि के झारे झुरे धिया मरि जइती, छूटि जइते गरेहुआ[4] सताप ए ॥

(भो० ग्रा० गी०) पृ० २७ ।

सम्पूर्ण गीत मातृ-हृदय की गहन वेदना से पूर्ण है। बेटी को सम्बोधन करके गाये गये इस गीत में समाज में व्याप्त कन्या की उपेक्षा का यथार्थ चित्रण प्राप्त होता है। जन्म काल से ही कन्या दुःख कष्ट एवं घृणा से पूर्ण वातावरण पाती है। एक विषम समस्या के रूप में यहाँ कन्या को प्रस्तुत किया गया है जिसका जन्म भादों की काली अंधेरी रात में हुआ था। घृणा से भर कर सास-ननद ने दीपक भी नहीं जलाया, कुबोलों से उसका स्वागत किया। अपार वेदना और कष्ट से माता की भूख-प्यास का भी उस दिन से अपहरण हो गया। देवता भी उस दिन से रूठ कर चले गए। दिन-रात चिन्ता और कष्ट का आतंक है। पिता की चिन्ता तो उस दिन दूर होगी जब इस कन्या का विवाह हो जायगा। किन्तु विवाह क्या इतना सरल है? नौ लाख का दहेज मांगा जा रहा है। हे ईश्वर शत्रु के घर में भी कन्या उत्पन्न न हो। कन्या उत्पन्न करने की अपेक्षा उसे गर्भ में ही मार देना उत्तम है। गीत की अन्तिम पंक्तियाँ माता के हृदय की अथाह चिन्ता से उत्पन्न कठोरता एवं नृशंसता का मार्मिक चित्र उपस्थित करती हैं।

"सतुरु के धिया जनि होय ए" में माता के हृदय की विवशता क्रन्दन कर रही है। कड़वी मिर्चों को घोल कर पीने और गर्भस्थ कन्या को मार डालने की कल्पना में दुःख, पीड़ा, यातना और आतंक से भ्रमित छटपटाती हुई स्त्री का जो अधीर, उन्मादित उत्तेजक स्वरूप व्यक्त है, वह हिन्दू समाज का वीभत्स उपहास है—

"जाहु हम जनितीं धिय कोखि जनमिहे, पिहितीं हम मरिचि झराह ए ।
मरिचि के झारे झुरे धिया मरि जइती, छूटि जइते गरेहुआ सताप ए ॥"

हिन्दू समाज में कन्या को उपेक्षित एवं घृणित स्थान प्राप्त होने का एक मात्र कारण दहेज की समस्या है। अपने रक्त से सजीव अंश को दान करने के साथ-साथ माता-पिता को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति, अपनी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा का भी त्याग करना पड़ता है, तब कहीं कन्या का विवाह सम्पन्न हो पाता है। असहाय और निरीह माता-पिता के कष्ट की कोई सीमा नहीं है। लोकगीतों में समाज की कुरीतियों का नग्न प्रदर्शन हुआ है।

अवधी लोकगीत में भी कष्ट और दुःख के भीषण आघात से व्यथित एक माता दहेज की समस्या से क्षुब्ध हो उठी है—

---

1. वास।
2. शत्रु।
3. कड़ुआ।
4. अत्यधिक भीषण।

धाजी बरात मडए तर आई, नौ लाख-दायज होय।
भितरा के बामन अंगन भरि दीन्हेन्हि, धिया दायज नहि होय॥
जो मैं जन्त्यां धिया कोखि होइहै, मरिचि मैं धन रो मकोय।
डाको सेज उहाय मैं डरलिउ, प्रभु सा ते रहतिउ कोहाय[1]॥

(अ०लो० प० पृ० १८६।)

बारात आ गई, फिर भी विवाह नहीं हुआ। नौ लाख दहेज का माँगा जा रहा है। कहाँ से लाएँ इतना धन? घर के बर्तन रोते पड़े हैं, इतना दहेज नहीं दिया जा सकता। चिन्ता-ग्रस्त, वेदना-पीड़ित माता के सम्मुख भीषण विवशता छाई हुई है। संताप और दुःख की मर्मान्तक यातना से क्षुब्ध हो कर वह कहती है कि अगर की विषाक्त मकोय खा कर मैं गर्भ को नष्ट कर देती, पति के लिये बिछी शय्या उठा देती, पति से कभी नहीं बोलती यदि यह ज्ञात होता कि कन्या का जन्म होगा।

कन्या के लिए उचित वर की खोज करना, कितना कठिन और कष्टप्रद कार्य है यह कन्या का पिता ही जानता है। चार-पाँच वर्षों के अथक परिश्रम के उपरान्त भी, कभी-कभी उचित वर की प्राप्ति नहीं होती।

एक भोजपुरी गीत में कन्या के लिये उचित वर की खोज करने में व्याकुल और क्षुब्ध पिता के मन की करुणा छलक उठी है—

बेटी जाहि दिन जनम तोहार, मड़उआ के राति परौवा।
राम जी काहे जनमेली मोर बिटिया॥
हमुआ खोजी त बेटी पछवी ना मीले।
सिलुहे छिलउगी तोरे नारे बिटिया॥ राम जी०॥
पुरुब खोजलो बेटी पछीमो खोजलो।
खोजलो शहर गुजरात बिटिया॥ राम जी०॥
तोरे जोग बेटी वर नाहीं मिलले।
कइसे करबि कन्यादान बिटिया॥ राम जी०॥
पुरुब गइलो बेटी पछीमो त गइलो।
गईलो ओरीसा जगरनाथ बिटिया॥ राम जी०॥
तोरे जोग बेटी हो वर एक मिलले।
मीलले राजकुमार बिटिया॥
राम जी एही लागी जनमेलो मोर बिटिया॥
अछल कांपेला चन्नन कांपेला।
कांपेला कुसवा के डाढि बिटिया॥ राम जी०॥
बीच मडउवा बाबा मोरे कांपीलें।
जाघ बइठउवते आपन बिटिया॥रामजी०॥

---

1. अप्रसन्न।
2. लकड़ी का कुन्दा जो प्रसूति-गृह में बाहर धीरे-धीरे जलता रहता है।

जनि काँपहु अक्षत जनि काँपहु चनन।
जनि काँपहु कुसवा के डाढ़ि बिटिया ॥रामजी०॥
जनि काँपहु बाबा हो जाँघे ले ते धिअवा।
भले करब कन्यादान बिटिया ॥रामजी०॥

(भो० लो० ६० २० पृ० ३७१)

इस गीत मे कन्या के जन्म से लेकर विवाह तक एक असहाय पिता की कठिनाइयो का वर्णन है। वह निर्धन पिता जो कन्या के जन्म के समय नाड़ा काटने को हँसिया के स्थान पर सीपी पाता है, विवाह के समय दहेज की व्यवस्था कैसे कर सकता है? धनाभाव होने के कारण उसकी कन्या के लिये सरलता से वर नही प्राप्त होता है। चारो दिशाओ मे वर की खोज मे वह भटकता रहता है। अन्त मे एक वर की प्राप्ति होती है। मंडप के नीचे कन्यादान के लिये पिता अपनी पुत्री के साथ उपस्थित है। आतंक और भय से वह थर-थर काँप रहा है। उसे विश्वास नही है कि उसकी कन्या का विवाह निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो सकेगा। असहाय, दरिद्र और निरीह पिता की भयभीत मनःस्थिति का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन हुआ है। कन्या का विवाह इतनी कठिन समस्या का रूप धारण कर चुका है कि उसकी निर्विघ्न सम्पन्नता स्वयं कन्या के पिता के लिये ही नहीं, सम्पूर्ण प्रकृति के लिये अविश्वसनीय है। इसीलिये भीषण विघ्न की आशंका मे मंडप मे अवस्थित अक्षत, चदन और कुश भी काँप रहे हैं।

समाज की कुरीतियो के विनाशकारी परिणाम का प्रकृति-व्यापी प्रभाव मनुष्य की घोर अनैतिकता का सूचक है। योग्य वर की समस्या का करुण चित्रण अवधी लोकगीतो मे भी प्राप्त होता है। दहेज देने मे असमर्थ पिता के लिये अपनी कन्या के अनुरूप वर प्राप्त करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। दहेज की बलिवेदी पर कन्या का निरीह पशु के समान बलिदान हो जाता है और असहाय पिता आँखो मे आँसू लिये सब कुछ देखता है, सब कुछ सहन करता है।

घुँघचनि ऐसी बेटी सुन्दरि, दादुल घामु देखे कुम्हिलाय।
अरु बर देख्यो फुलगेंदवा की नाईं नग्र बलि-बलि जाय॥
ढूंढ्यो मैं आटनु ढूंढ्यो मैं पाटनु, ढूंढ्यो मैं गढ़ गुजरात।
तुम्हरी जोगि बर नहिं पायो अब बेटी रहो कुंआरि॥
कहाँ ढूंढ्यो आटनि पाटनि, कहाँ ढूंढ्यो देस सब झारि।
नग्र अयोध्या मा दुई बर सुन्दर, एकु लछिमन एकु राम॥
उइदुन्हो बर बेटी अचहड़ पचहड़ हाथिन दुआरे की चार।
उइदुन्हो बर बेटी लंका का दायजु, मोरे बूते दीनह न जाय॥
जेहि के न होय दादुलि अचहैड़ि पचहड़ि, हाथिन दुआरे की चार।
जेहि के न होइ दादुलि लंका का दायज, वह बरु ढूंढ़ें घरबाडु॥

(अ० लो० प० पृ० १९८)

घुंघची के समान रक्तिम वर्ण युक्त सुन्दर कन्या है जो धूप देखते ही कुम्हला जाती है, उसके लिये गेंदा के फूल के समान सुन्दर वर की खोज है जिस पर समस्त नगर बलि-बलि जाय। पिता ने बहुत खोज की पर सुयोग्य वर नही मिल सका।

अन्त मे दीन, दुःखी और असमर्थ पिता ने क्षुब्ध होकर बेटी से कह दिया कि उसे कुँवारी ही रहना होगा। तब बेटी ने स्वयं ही पिता को दो श्रेष्ठ कुलोत्पन्न वर बताये—राम और लक्ष्मण। पिता अपार दुःख के साथ कहता है कि ये दोनों श्रेष्ठ वर असीम दहेज मांगते हैं। गीत में 'अवहड पचहड' दुआरे की चार 'हाथिन और लक्षा कर दायजु' कह कर वर पक्ष की ओर से मांगी गई विशाल धन राशि को स्पष्ट किया गया है। यह सुनकर कन्या दुःख से क्लान्त हो जाती है। पिता की विवशता वह समझती है। एक भारतीय बाला अविवाहिता भी नहीं रह सकती है। अतः वेदना व्यथित, करुण शब्दों में वह इतना ही कहती है कि किसी चरवाहे से ही विवाह कर दो।

धनाभाव से ग्रसित कितने ही पिता अपनी कन्या को अनुचित वर के हाथों में समर्पित कर देते हैं। दहेज-प्रधान हिन्दू-समाज के दोषों का लोकगीतों में स्पष्ट अंकन हुआ है।

दहेज की समस्या दिनो दिन भयंकर रूप धारण करती हुई समाज को आतंकित कर रही है। इसके विशाल व्यापक प्रभाव में अनेक पिता नष्ट हो चुके हैं अनेक कन्याओं का जीवन मिट चुका है। इसीलिये कन्या का विवाह एक भयंकर 'ग्रहण' कहा गया है जिससे उग्रह होने के लिये पिता को भीषण कष्टों का सामना करना पड़ता है। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र शाप वश राहु के द्वारा ग्रसित किये जाते हैं, उसी प्रकार कन्या का पिता भी जामाता रूपी राहु से ग्रसित होता है। दहेज ही इस भीषण संकट-स्थिति से मुक्ति दिलाता है। जामाता के द्वारा कन्या का ग्रहण वास्तव में यही 'कन्या-ग्रहण' है जिसमें कन्या तथा कन्या के पिता—दोनों पर ग्रहण लगता है। दोनों ही वर रूपी राहु का मुखग्रास बनते हैं।

भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित एक गीत में इस साम्य-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है—

कवन गरहनवा[1] बाबा सामही[2] लागे हो, कवन गरहनवा भिनुसार[3] ए।
कवन गरहनवा बाबा मडवनि[4] लागेला, कब दोनों उगरह[5] होई ए॥
चान गरहनवा बेटी सामही लागेला, सुरुज गरहनवा भिनुसार ए।
धियवा गरहनवा बेटी मडवनि लागेला, कब दोनों उगरह होई ए॥
हमरा ही बाबा के सोने के थरियवा, छुवत भानानलि होई ए।
उह थरिया बाबा दामादे के दीहिन, तब रउरा उगरह होई ए॥
हमरा ही भइया का मुनर गइया हो, सोनवे मडावल चारो खुर ए।
मुनर गइया दामादे के दीहित हो, तब राउर उगरह होई हो॥

(भो० लो० पृ० २२२)

---

1. ग्रहण
2. सध्या को
3. प्रातःकाल मे
4. मडप मे
5. उग्रह, मुक्ति।

इस गीत मे अत्यन्त सुन्दरता से उपर्युक्त तथ्य को निरूपित किया गया है। कन्या का अपने-पिता से प्रश्न है कि प्रातःकाल मे कौन-सा ग्रहण लगता है, संध्या मे कौन-सा ग्रहण लगता है और मंडप के नीचे कौन-सा ग्रहण लगता है ? उस तीसरे ग्रहण से उग्रह होने का उपाय क्या है ? पिता का उत्तर है कि प्रातःकाल मे सूर्य-ग्रहण सध्या मे चंद्र-ग्रहण तथा मडप मे कन्या-ग्रहण लगता है। पता नही इस तीसरे ग्रहण से उग्रह होने का क्या उपाय है। इस पर कन्या अपने पिता से, सोने की थाली और स्वर्ण के खुर वाली गाय जामाता को दान मे करने का अनुरोध करती है, क्योंकि तीसरे ग्रहण से उग्रह होने का एकमात्र यही उपाय है।

इसी प्रकार की भावनाओ से सयुक्त एक गीत अवधी मे प्राप्त होता है—

कौन गरहनवा बाबा साझे जो लागै कवन गरहन भिनुसार।
कवन गरहनवा बाबा ओघट लागै कव धौं उगरह होइ॥
चद्र गरहनवा बेटी साझे जो लागै सुरज गरहनवा भिनुसार।
धेरिया गरहनवा बेटी ओघट लागै कब सौं उगरह होइ॥
कापइ हाथी रे कापइ घोड़ा कापइ नगरा के लोग।
हाथ मे कुस लइ कापे बाबा कब धो उगरह होइ॥
बिहसइ हाथी रे बिहसइ घोड़ा, बिहसइ सकल बारात।
भइये मुदित मन समधो रे बिहसइ भले घर भयउ बिआह।
गगा पैठि बाबा सूरज बिनवै ओर धूते धिया जनि होय।
धेरिया जनम तब देउ विधाता जब घर सम्पत्ति होइ॥

(क० कौ० पृ० ३५५)

सध्या को कौन-सा ग्रहण लगता है और प्रातः कौन-सा ग्रहण लगता है तथा असमय मे कौन-सा ग्रहण लगता है ? पिता का उत्तर है कि संध्या को चद्र ग्रहण, प्रातः सूर्य ग्रहण और असमय मे कन्या-ग्रहण लगता है।

कन्या-ग्रहण के लगने का कोई समय नही है और न उसके छूटने का ही कोई निश्चित समय है। मंडप के नीचे इस ग्रहण से मुक्ति पाने के लिये तत्पर पिता हाथ कुश लिये काप रहे हैं, द्वार पर खड़े हाथी-घोड़े और नगर के समस्त व्यक्ति भी काप रहे हैं। सबके मन मे अथाह चिन्ता है कि कन्या का विवाह निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो पायगा या नही। वर पक्ष संतुष्ट हो गया और विवाह कार्य मे कोई विघ्न नही आया। समस्त बाराती और हाथी-घोड़े भी प्रसन्न हो गए। अपना सर्वस्व देकर कन्या के पिता ने सबको संतुष्ट एव प्रसन्न कर लिया पर, स्वय कगाल हो गया। गंगा मे प्रविष्ट होकर वह सूर्य से प्रार्थना करता है कि अब किसी अन्य कन्या को संभालने की शक्ति उसमे नहीं है। विधाता कन्या का जन्म, उसी समय मे दे जब घर मे वैभव हो, सम्पत्ति हो। दीन-हीन अकिंचन पिता का विवश हृदय कराह उठा है इस एक पक्ति मे—

"धेरिया जनम तब देव विधाता जब घर सम्पत्ति होइ।"

दहेज-व्यवस्था के कारण हिन्दू-समाज मे कन्या का पिता होना ही एक घोर अपमान, लज्जा एवं ग्लानि का विषय हो जाता है। जिस दिन से कन्या का घर मे

पदार्पण होता है, माता-पिता पर चिन्ताओं का बोझ लद जाता है। उसके विवाह के योग्य होने पर तो माता-पिता का दिन का खाना और रात का सोना कठिन हो जाता है। भूखा-प्यासा, दर-दर की ठोकरें खाता हुआ निरीह पिता वर की खोज करता है। वर प्राप्त हो जाने पर भी विवाह कार्य में पग-पग पर अपमान की आशंका से वह आतंकित रहता है। वर पक्ष को प्रसन्न करने के लिये उसे प्रतिपल अवनत रहना होता है। विवाहोपरान्त भी वर पक्ष के समक्ष उसे आजीवन झुका हुआ व छोटा बन कर रहना होता है।

प्रत्येक कन्या अपने लिये रूपवान वर की कल्पना करती है। उसके मन में उसके सपनों में एक सुन्दर सुकुमार की छवि विराजमान होती है। परन्तु पिता अपनी कन्या के हृदय-भावों को प्रायः समझने की चेष्टा नहीं करता और कभी-कभी समझ कर भी अपनी विवशताओं के समक्ष उसे महत्व नहीं दे पाता। लोकगीतों में कन्या के हृदयोद्गारों का अत्यन्त वास्तविक निरूपण हुआ है। विवाह-योग्य कन्या अपने पिता से आग्रह करती है—

> आरे आरे बाबा सुघर वर हेरिह हम बेटी तोहरी दुलारि।
> तीन लोक में हम भइलीं सुन्दरि, हेमां ना करइह हमारि॥
>
> (भो० लो० क० पृ० ३८२)

किन्तु पिता ने अपनी कन्या के लिये जिस वर को ढूंढा है वह श्याम वर्ण का है। काले वर की सूचना कन्या के सुनहले स्वप्नों पर मार्मिक आघात करती है। इस दुःख को वह सहन नहीं कर पाती और पिता से शिकायत करती है—

> बाबा न देखो बाग बगइचा, बाबा न देखो फुलवारी ए।
> काहां दल उतरी ए बेटी बरियाति टिकाइबि फुलवारी ए॥
> रउरा चुकली ए बाबा हमरी बेरिया, हमरा कोरइचा वर आवे हो।
> सावर सावर जनि कहु बेटी, सावर कृष्ण कन्हाई हो॥
> बदन मलिन देखि पूछेले बाबा काहे बेटी मन मलीन हो।
> बाराबा के मइया बड़ि फूहड़ि बेटी, तिसिया के तेलवा लगावे हो॥
> तोहरा मइया बड़ि गिहिथिनि बेटी, करुवा तेल अवटेलें हो।
> ए ही सेबर भइले सावर बेटो तू भइलू धपधप गोरी हो॥
>
> (भो० लो० गी० पृ० २२८)

पिता बारात के निवास की व्यवस्था में लगे हैं, उसी समय कन्या काले वर खोज करने की शिकायत करती है। पिता अपनी दुःखी कन्या को आश्वासन देते हुए कहते हैं कि कृष्ण भी सांवले थे अतः श्याम वर्ण का वर पाना गौरव की बात है, दुःख की नहीं। इस तर्क से भी कन्या के मुख की मलीनता दूर नहीं होती, तब पिता कहता है कि वर की माता बड़ी फूहड़ थी जिसने ने तीसी के तेल को लगा-लगा कर उसे काला कर दिया और कन्या की माता ने सरसों के तेल का प्रयोग किया था। जिससे उसका गोरा रंग हो गया। पिता का आशय है कि वर का रंग वास्तव में काला नहीं था, बल्कि उसकी माता की असावधानी से काला हो गया है।

एक अवधी लोकगीत में भी काले वर को प्राप्त करने से कन्या की भावनाओं का चित्रण प्राप्त होता है—

ऊँची अटरिया पर चढ़ि गई लाड़िली, अरे बाबा नजरिया परि गई हो ।।
बाटन हेर्‌यो बेटी, घाटन हेर्‌यो हेर्‌यो गढ़ गुजरात हो ।
तुमही जोग वर कतहू न पावा अब बेटी रहहु कुंवार हो ।।
चित्रसार से निकरी हैं बेटी की दादी रानी काहे बेटी बदन मलीन हो ।
काहे बेटी अनमन काहे बेटी धनमन काहे है बेटी बदन मलीन हो ।।
की बेटी लोट पाटा है कलेउना की भौजी बोले बिरस बोल हो ।
काहे बेटी अनमन काहे बेटी धनमन काहे गुन बदन मलीन हो ।
ना दादी गोरा घटा है कलेउना भौजी बोले बिरस बोल हो ।
हमरे जोग दादी वर ना मिले रे एही गुन बदन मलीन हो ।
शुभ्र बदन दादी मैं हूं जो बेटी गोरा बदन वर चाहिये ।
इतना वचन सुनि बोली है दादी रानी सुनो बेटी वचन हमार रे ।
बेटी दादी गोरी है बाबा सावरे, बेटी माता गोरी है पिता सांवरे ।
बेटी चाची गोरी है चाचा सावरे, बेटी बुआ गोरी है फूफा सावरे ।।
बेटी सीता गोरी है राम सांवरे बेटी राधा गोरी है कृष्ण सांवरे ।
कृष्ण कन्हैया मुख मुरली बजावैं, मोहै सब संसार रे ।।

(सु० गी० पृ० ५१)

इस गीत में शुभ्र-वर्ण-युक्त कन्या अपने लिये गौर वर्ण के वर की कामना करती है। सर्वत्र खोज करने के उपरान्त पिता को कहीं गौर वर्ण का वर नहीं मिलता और वह पुत्री के समक्ष असमर्थता व्यक्त कर देता है। आजीवन कुंवारी रहने की आशंका कन्या को दु:खाभिभूत कर देती है। एक दिन उसका उदास मुख देख कर दादी दु:ख का कारण पूछती है। सम्पूर्ण कारण ज्ञात होने पर अपने अनुभवों के आधार पर वह कन्या को उपदेश देती है कि स्त्री का गोरा रंग और पुरुष का श्याम रंग ही श्रेष्ठ होता है। व्यावहारिक तर्कों के द्वारा कन्या का हृदय परिवर्तन करना इस गीत की विशेषता है।

सब दृष्टिकोणों से विचार करने के उपरान्त जब कन्या के पिता को वर पसंद आ जाता है तब वर की 'वरीक्षा' कर ली जाती है। वर के हाथ में कुछ धन रख कर इस क्रिया को सम्पन्न किया जाता है और वर उस विशेष कन्या के लिये सुरक्षित हो जाता है। उसके उपरान्त पंडित द्वारा निर्धारित शुभ मुहूर्त में तिलक चढ़ाया जाता है।

तिलक का समारोह वर पक्ष में अधिक धूमधाम से होता है और स्त्रियां खूब गीत गाती हैं। कन्या के हाथ से तिलक का सामान स्पर्श कराने के समय कन्या के घर में भी गीत गाए जाते हैं। किसी मुख्य विधि को आरम्भ करने के पूर्व कुछ शुभ शगुन और मंगल गाये जाते हैं।

भोजपुरी प्रदेश में कन्या पक्ष में इस प्रकार मंगल गाया जाता है—

आजु सिया जी के विवाह के सगुनियाँ, ए सखि घर घर मंगल ।
बाजनु बाजे घनघोर, ए सखि घर घर मंगल ।

सब देवता मिलि जै जै बोलो,
आरे सब गुफल भइले मनका का मन मीतली आजु रे बिग्रहव ॥
(भो० लो० सा० पृ० ११४)

पक्के हरे बाँसों का मंडप हो उस पर पानों का छाजन हो। गोबर से लिपी धरती पर आँगन में मोतियों से चौक पूरा गया हो और पहिल में स्वर्ण-कलश की स्थापना की हो। इस कलश पर मणि-निर्मित दीपक जल रहा हो—तत्पश्चात् सुन्दर वर राम मोतियों से अंजुल भर कर बैठेंगे और सुन्दरी कन्या सीता सिन्दूर से अपनी माग भरायगी। इस प्रकार से राम-सीता के परिणयोत्सव पर देव गण जय जयकार करते हैं और सबकी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

लोकगीतों में प्रत्येक वर 'दशरथ पुत्र राम' होता है और प्रत्येक कन्या 'जनक-नन्दिनी सीता' होती है।

अवधी प्रदेश में भी मंडप के गीतों में समान भाव धारा का प्रवाह है—

धाउ रे नउआ धाउरे बरनिया, हमरी अजोध्या लगे जाहु रे।
हमरी अजोध्या में पान बहुत हवें पानन माडव छवाव ॥१॥
काहे राम जी बिनती करति हो, लछिमन विरिया हमारि।
मानुस देहे पान कहाँ पावौ तिनवन मांडव छवावों ॥२॥
धाउ रे नउआ धाउरे बरिया हमरी अजोध्या लगे जाहु रे।
हमरी अजोध्या मां मोतिया बहुत हवें, मोतियन चौक पुराव ॥
काहे राम जी बिनती करति हो लछिमन बिरिया हमारि।
मानुस देह मोती कहाँ पावो, कनिकहि चौक पुरावो ॥४॥
धाउरे न आ धाउरे बरिया हमरी अजोध्या लगे जाहु रे।
हमरी अजोध्या में सोनवा बहुत हवें सोने कलसा धराव ॥५॥
काहे रामजी बिनती करति हो लछमन बेरिया हमारि।
मानुस देह सोनु कहाँ पइहों माटी का कलसु धरावो ॥६॥
धाउरे नउआ धाउरे बरिया हमरी अजोध्या लगे जाहु रे।
हमरी अजोध्या मे चननु बहुत हवें चनन का खम्भ गड़ाव ॥७॥
काहे रामजी बिनती करति है, काहे लछिमन बेरिया हमारि।
मानसु देहि चननु कहाँ पइहों, बाँसुनि खंभ गड़ावो ॥८॥
(अ० लो० प० पृ० १२६)

इस गीत में सामान्य व्यक्ति के सामर्थ्य का अत्यन्त मनोहर रूप में वर्णन हुआ है। राम के रूप में वैभवशाली वर का चित्रण किया गया है जो अपनी ससुराल के नाई और बारी से चन्दन के खम्भों पर, पानों का छाजन बना कर मडप-रचना का आग्रह करता है। उस मण्डप के नीचे मोतियों से चौक पूरा गया हो और सोने का कलश रक्खा गया हो। परन्तु कन्या-पक्ष की क्षमता से परिचित नाई और बारी वर महोदय को नीति-कुशलता से प्रत्युत्तर देकर शान्त कर देते हैं। उनका कथन है कि मण्डप-रचना के निमित्त उपर्युक्त बहुमूल्य पदार्थ साधारण

मनुष्य ही बाँस के खम्भों पर फूस का छाजन देकर मण्डप का निर्माण करता है। मण्डप के नीचे आटा से चौक पूर कर मिट्टी का कलश रखता है। प्रायः वर-पक्ष के व्यक्ति कन्या- पक्ष को झुका हुआ एवं हीनता से युक्त देखकर प्रसन्न होते हैं। यहाँ नाई और बारी के द्वारा वर को प्रसन्न करने के लिये आयासपूर्वक दीनता को ग्रहण करने का भाव अभिव्यंजित है। उनके कथन से वर को आश्वासन मिलता है कि उसकी अयोध्या में समस्त वस्तुएँ इसलिये प्राप्त हैं कि वह देव पुरुषों की भूमि है, और यहाँ (जनकपुर में) सामान्य मनुष्यों का वास है, इसलिये समस्त वस्तुएँ अप्राप्य हैं।

मण्डप के नीचे वेदी बनाते समय एक अन्य गीत गाया जाता है जिसमें देवताओं का आवाहन करते हुए कन्या के विवाह की सकुशल सम्पन्नता की कामना की जाती है—

कुरुखेत मटिया खोदाइब, वेदिया बँधाइब हो।
ताहि वेदी चढ़ि भूप लोग बइठइं,
रामा होय लाग मंगल झनकार, जनकपुर माडव।
गया जी के नेवतब, गजाधर नेवतब,
काशी विश्वनाथ जनकपुर माडव।
झारी औ खण्ड बैरीनाथ जी के नेवतब,
नेवतब वीर हनुमान जनकपुर माडव।
गया जी आएनि, गजाधर आएनि,
आएनि वीर हनुमान जनकपुर मांडव।
बाबा जनक रिषि एक छत कीन्हेनि,
रामा सोय मन कै धनुष विरिछ ओठावाइनि,
जे वर भाई धनुष ओहि तोरिहै,
रामा उनही से सीता वियाहि जनकपुर माडव।
चुटकी सबद रामजी धनुष उठाइनि, हो,
रामजी धनुष गई है चकचूरि, जनकपुर माडव।
चुटकी सबद रामजी सेंदुरा उठाएनि हो,
राम धुमे-घुमे सीता का विवाह जनकपुर माडव।

(लो० गी०) पृ० ८७

इस गीत में कुरुक्षेत्र की मिट्टी मंगा कर वेदी का निर्माण किया जा रहा है। मण्डप के अवसर पर समस्त तीर्थों तथा देवताओं को आमन्त्रित किया गया है जो कन्या के विवाह में विघ्नों का शमन करेंगे। सीता-स्वयम्बर और सीता-राम विवाह का सुन्दर चित्रण हुआ है।

मण्डप की रचना परिवार के सदस्यों में विशेष उत्साह का विषय होता है। पूर्ण तल्लीनता एवम् मनोयोग से सुन्दर सामग्रियों के आधार पर मण्डप का साज-सवार किया जाता है। परिवार के पुरुष उमंग के साथ मण्डप-निर्माण के कार्य में रत होते हैं और स्त्रियाँ सुमधुर कंठ स्वरों से गीतों का अमृत-वर्षण करती हैं—

माढो तो बडा सुन्दर न जान्यो कौने गुन रे।
ए हो न जान्यो तम्बोलो के छइवें न जान्यो, पानन गुन रे ॥१॥
खम्भ तो प्रभु सुन्दर न जान्यो कौने गुनु रे।
न जान्यो बढई के गढिवे, ना जान्यो चनन गुनु रे ॥२॥
चौक तो भलि सुन्दर न जान्यो कौने गुनु रे।
ना जान्यो पण्डित पुरिवे, ना जान्यो मोतिन गुनु रे ॥३॥
कलसु तो भल सुन्दर न जान्यो कौने गुनु रे।
न जान्यो बुआ क गोठिबे, न जान्यो ऐपन गुनु रे ॥४॥
दीपकु तो बड़ा सुन्दर, न जान्यो कौने गुनु रे।
न जाने कुम्हरवा के भइवें, न जान्यो माटी गुनु रे ॥५॥
बरुओ तो भल सुन्दर न जान्यो कौने गुनु रे।
न जान्यो माया क जइबे, न जान्यो बाबा गुनु रे ॥६॥

(अ० लो० प० पृ० १२८)

मण्डप के अपूर्व सौन्दर्य से विस्मित-चकित मन की मुग्ध भावनाओं की अत्यन्त सरस अभिव्यञ्जना इस गीत में हुई है। मण्डप की अद्भुत शोभा को निरख कर बुद्धि भी स्तब्ध रह जाती है। किस पदार्थ के गुण से इतनी चमत्कार पूर्ण रचना हो सकी है, यह निर्धारित करना अत्यन्त कठिन हो गया है। मुग्ध मन की सन्देह-संकुल भावनाओं का लोक-वाणी द्वारा बहुत सुन्दर निरूपण हुआ है।

मण्डप के निर्माण के पश्चात् कलश-स्थापना होती है। मंगल कलश की स्थापना का श्रेय कन्या की बुआ को मिलता है। इस अवसर पर भी गीत गाए जाते हैं।

भोजपुरी क्षेत्र में मंगल कलश की स्थापना पर यह मंगल गीत प्रचलित है—

सोहावना, सोहावना, मनभावना ए जनकपुर लागत सोहावना।
गाइ के गोबर अंगना लिपाइला ए गजमोती चौका पुरावना,
ए जनकपुर लागत सोहावना।
सुबरन कलस पुरोहित ले धरावत मानिक दीप बरावना,
ए जनकपुर लागत सोहावना।
राम-सीय दूनो दुलह दुलहिन ले चौके बैठावना,
ए जनकपुर लागत सोहावना।
मिथिला नगर की भामिन मिलि जुलि मंगल चार मनावना,
ए जनकपुर लागत सोहावना।

(भो० लो० सा० पृ० ११७)

जनकपुर में गोबर से आँगन लिपाकर, मोतियों से चौक पूरा गया है जो अत्यन्त सुहावना लगता है। उस चौक में पुरोहित ने स्वर्ण-कलश की स्थापना की है और उसके ऊपर मणियों का दीपक जलाया है। तदुपरान्त राम और सीता वर-वधू के सुन्दर वेष में मण्डप के नीचे बैठे हैं। स्त्रियाँ मंगलाचार गा रही हैं। इस समय की शोभा अवर्णनीय है।

भोजपुरी क्षेत्र में कलश-स्थापना का कार्य पुरोहित भी करता है। किन्तु अवधी क्षेत्र में कन्या की बुआ की उपस्थिति अनिवार्य है—

आधे तलवा नाग बइठे आधे नागिन बइठे।
तबहूँ न तलवा सुहावन तौ एकरे पुरइन बिन।
आधे मड़वा गोत बइठे आधे गोतिन बइठे।
तबहूँ न मड़वा सुहावन एक रे ननद बिन।
सोने के खरउआँ कवन मिहँ बहिना बहिनी करैं।
आओ न बहिनी रानी त कलस मोरे गोठव।

(लो० क० पृ० ६४)

आधे तालाब में नाग बैठे हैं और आधे में नागिन बैठी हैं; फिर भी तालाब सुन्दर नहीं लगता, क्योंकि उसमें एक कमल की कमी है। इसी प्रकार आधे मंडप में गोत्र के पुरुष बैठे हैं और आधे में गोत्र की स्त्रियाँ बैठी हैं फिर भी मंडप सुन्दर नहीं लग रहा है, क्योंकि उसमें एक 'ननद' की कमी है। कन्या की माता कलश-स्थापना के लिये ननद की प्रतीक्षा कर रही है। कन्या के पिता सोने के खड़ाऊ पहन कर बहन को बुलाने जाते है और उससे कलश गोठने का अनुरोध करते है।

लोक-रीतियों में व्यक्ति-प्रतिष्ठा के अनुपम उदाहरण प्राप्त होते हैं—

मंडप के नीचे वर या कन्या को बैठाकर 'तेल' या 'हरदी' की विधि सम्पन्न की जाती है। परिवार की स्त्रियाँ वर या कन्या पर बारी-बारी से आकर तेल और हल्दी चढ़ाती हैं। गीतों की सुमधुर ध्वनि से वातावरण गूँजता रहता है।

भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित 'हरदी' का एक गीत इस प्रकार है—

सोने का कटोरवा में कवन हरदिया।
सोने का कटोरवा में कौन हरदिया।
हजमा मडउआ पइसे ठाढ़ ए॥
हरदी चढ़ावेली बेटी क बाबा।
हरदी चढ़ावेले बेटी के बाबा।
जैं जैं बोली मम लोग ए॥

(भो० लो० सा० पृ० ११६)

अवधी प्रदेश में घर की स्त्रियाँ ही तेल और हल्दी चढ़ाती हैं। कहीं कुँआरी कन्यायें दूब से तेल चढ़ाती हैं परन्तु उपर्युक्त गीत में स्पष्ट होता है कि भोजपुरी लोक-रीति में घर के पुरुष भी तेल व हल्दी चढ़ाते हैं।

अवधी क्षेत्र में इस अवसर पर तेल और हल्दी के गीत गाये जाते हैं एवं *आवश्यकतानुसार वर या कन्या का नाम लिया जाता है*—

के मोरे हरदी उपाजेनि कौन मइया आनेनि।
कौन बाबू क सिरहे चढाइनि मोहे जनावइ।
कोइरिनि हरदी उपाजेनि 'कवन' मइया आनेनि।
दुलरैते बाबू क सिरहे चढ़ाइनि मोहे जनाइत।

कहीं-कहीं यही गीत दूसरे रूप में प्राप्त होता है—

सिल चटकत हैं सिल मटकत हैं।
समधी के देखि बिरावत हैं।
पठै देउ सब आजा बाबा हथिनियाँ।
चढ़ के आवें सब गोलिनियाँ।

दरवजवा मे क्षटकी है हथिनिया।
अंगनवा में सब गिरि हैं गोलिनियाँ।

सिल चटकत है सिल मटकत हैं।
समधी के देखि बिरावनि हैं।

सिल पोहो दुलहन देई आपनि।
माफ़ मड़वना बैठे हैं कौन रामा।

लोढ़वा पकड़े घूमा-फेरी करें।
तम्बुआ ताने सिल पोहत हैं।

हेलिन बेरिया सिल पोहत हैं।
राजा बेटा सिल पोहत हैं।

(संस्कार गीत पृ० १५६,६०)

मिलपोहनी के गीतो में हास-परिहास, विनोद एवं मनोरंजन का पुट रहता है।

भोजपुरी प्रदेश मे इस रीति का प्रचलन नहीं है।

वर पक्ष के यहाँ बारात-गमन के अवसर पर 'निकरौसी' के गीत गाए जाते हैं। भोजपुरी बोली मे इस अवसर पर गाये जाने वाले अनेक मधुर गीत उपलब्ध हैं। सुन्दर भावो से युक्त एक गीत इस प्रकार है—

बेइली बिरिछिया[1] तर कोइलरि ब ले ले, बाबू तू धूप गँवऊ[3] ए।
कइसे मे धूप गवांऊ ए कोइलरि, मुहवा लगनि या समतूल[4] ए ।।१।।
रचे[5] एक हाथी बेलमाव[6] मोरे बाबा हो, घोड़ा बेलमाव जेठ भाई ए।
रेशम डोरिया सजन बेलमाइबि, आमा के पइयाँ परि लेबि ए ।।२।।
अइसन असीसिया[7] ए हमरा के दीह, जाते ही होला बियाह ए।
दान दहेज ए बबुआ बरधी[8] लदवह मुहवा लिह डहिया चढ़ाई ए ।।३।।

---

1. वृक्ष
2. कोयल
3. बिताओ
4. जल्दी।
5. थोड़ी देर के लिए।
6. रोक लो।
7. आशीर्वाद।
8. बैल।

जाहु तुहु जउब ए बबुआ नुहवा का देसवा दुअरा के निमि[1] मोहि देहु ए।
दुधवा के निमिया ए आमा दिहलो' न जा ना जनम के निखि माहि
मोहिसे लेहुए ॥४॥
हम त होइबो ए आमा बाप के सेवइत धनि होइहे दामी
तोहार ए ॥५॥

इस गीत मे पुत्र की आदर्श भावना व्यक्त हुई है। माता-पिता की सेवा म रत रहने का निश्चय करके वह विवाह करने जा रहा है और अपने कार्य मे सफल होने के लिये अपनी माता से आशीर्वाद चाहता है।

अवधी क्षेत्र मे भी निकरोसी के अनेक गीत प्रचलित हैं। एक अवधी गीत मे विवाह हेतु जाने वाले वर के हृदय मे उत्पन्न अपनी माता के प्रति मोह एव आदर का भाव व्यक्त हो रहा है—

नगर अजोधिया कइ सांकरि गलिया, दुबिया छिछिड़ गइ बाट।
हरियरि दुबिया मइ दुधवा पिचावउ नहि बाट जाइ बरात।
दुबिया कचरि राम चले ससुरिया, नयना चुवत दोनउ आंसु।
अंचरा पसारि माया दुबिया सिचावउ, मोरे कुले चलि नहि जाइ।
सेहि बाट नगरी बाहनी कवनि देई, बिरना जोहत ठाढ़ बाट।
घमवा नेवारि मइया जाउ ससुरिया, भुभरि जरत तोर पाउ।
कइसे क घमवा नेवारउ मोर बहिनी, जानो अहइ बडी दूरि।
हरियरि दुबिया कचरि भेइ आयेउ जरत नाहि पाउ।
की तोरी दूलभ बहिनी रे दुलहे की दूलभ तोरि ससुरारि।
कवने दुखन दुलहे चलेस दुबरिया, भुभरि जरत दूनउ पाउ।
नाहि नाही दुलभ मोरि बाहनी कवनि देई, नाही दुलभ मोरि ससुरारि।
दूलभ अहइ मोरि माया कइ कोखिया, जे न मोहि दिहेनि अवतार।

(मल्हार गीत पृ० १६६)

प्राय. विवाह के पश्चात पुत्र का प्रेम एव व्यवहार माता-पिता के प्रति कम हो जाता है और पत्नी की ओर खिंच जाता है, इसलिये 'निकरोसी' के समय ऐसे गीतों का गायन अभिप्राय होता है जिनमे पुत्र का माता-पिता के प्रति अटूट प्रेम वर्णित हुआ है।

भोजपुरी गीत का 'वर' अपूर्व सेवा एव सम्मान की भावना प्रकट करते हुए कहता है—

"हम त होइबो ए आमा बाप के सेवइत।
धनि होइहें दासी तोहार ए।"

---

1. प्रत्युपकार (मूल्य)
2. दिया नहीं जा सकता।
3. नौकर।

उसी प्रकार अवधी गीत का 'वर' मां की महत्ता को सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हुए कहता है—

नाही दुलभ मोरि बहिनि कवनि देई, नाही दूलभ मोरि ससुरारि।
दूलभ अहइमोरि माया कइ कोखिया, जे न मोहि दिहिनि अवतार।

निकरौसी केसमय वर के सिर पर 'मौर' धारण करने की प्रथा भोजपुरी एवं अवधी—दोनों ही क्षेत्रों में है। वर-यात्रा के समय मौर के गीत भी गाए जाते हैं।

भोजपुरी प्रदेश के एक गीत मे 'मउरी' के लिये उत्सुक वर का मालिन के पास जाकर सुन्दर मउरी मांगने की कथा का निर्देश हुआ है—

मांहहि बाट मालिन कुंइयाँ रे खनावेली।
कुइयाँ के पीयर माटी ए।
ताहि ऊपर मालिन केवड़ा लगावेली।
केवड़ा के सीतल बतास[1] ए ॥१॥
मलिया जे सूतेले घर घवराह।
मालिन सूतेली फुलवारि ए।
धावल धूपल अउले कवन दुलहा।
ठाढ़ भइले केवड़ा के छाह ए ॥२॥
मलिया जे पइठेला मालिनि जगावेला।
उठु मलिनि भइल भिनुसार ए।
मुंहवा उघारि जब देखेले मलिनिया।
दुअरा कवन दूलहा ठाढ़ ए ॥३॥
किया तोरा बावू दे काज परोजन।
किया तोरा भइया के बिआह ए।
ाही मोरा मालिन काज परोजन[2]।
नाही मोरा भइया के बिआह ए ॥४॥
अपना बाबा जी के हमही दुलरुआ।
हमरो लगनिया अगुताई[3] ए।
मारे आज बात सुनु कवन मलिनिया।
नीमन[4] मउरिया गूंथ देहु ए ॥५॥
नीमन ही नीमन जन कर बावू।
नीमन मउरिया कइसन होई ए।

1. हवा।
2. प्रयोजन
3. शीघ्रता
4. सुन्दर।

अवढी पवढी[1] गुथिहे ए मालिनि।
दवना मरुआ[2] चारो चिड़िया जोड़ा हंस ए ॥६॥
अइसन मउरी उगेहु ए मलिनि।
मउरि देखि हंस लोभाई ए ॥७॥
(भो० ग्रा० गी० पृ० ३६-३७)

विवाह के लिये व्यग्र वर अपनी ससुराल में ऐसे मौर को धारण करके जाना चाहता है जिसे देख कर सब प्रसन्न एवं लुब्ध हो उठें। इसलिये वह मालिनि से ऐसा मौर बना देने का आग्रह करता है जिसमें दवने के वृक्ष के ऊपर चार चिड़िया एव दो हंस चित्रित हो तथा देखने में जो अत्यधिक सुन्दर हो।

अवधी गीतों में भी मौर के प्रति वर की समान उत्कंठा एवं व्यग्रता का वर्णन प्राप्त होता है। एक अवधी गीत में 'वर' मौर लेने के लिये माली के पास जाता है और माली सोने का मौर बनाकर देने का वादा करता है—

माली सोवैं लाली चौतरिया, मालिन जगावन जाय।
उठहु न मलिया भोर भयो है अगने श्रीवर ठाढ़ि ॥१॥
मैंनि बोलि जब देखैं मलिया अगने श्रीवरि ठाढ़ि।
कौन गरज तुम्हे लागि रे दुलहे, आयहु बड़ भिनसार ॥२॥
एतना बचनु सुनि बोलैं श्रीवर, सुनु मलिया वचनु हमार।
मोरे गरज हमैं लागि रे मलिया, आयेन बड़े भिनसार ॥३॥
लागे देखो हटिया, जागे देखो बजरिया, बसैं देखो सुघर सोनार।
सोने का मौरु गढ़ावहु रे दुलहे, ससुर गलिया फहराय ॥४॥
(अ० लो० प० पृ० ११६)

विवाह-रीतियों में मौर धारण करने की प्रथा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। किन्तु पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित शिक्षित समुदाय में अब इसका प्रचलन नहीं है। 'सूट-बूट' के साथ मौर की कोई संगति भी नहीं है। फिर भी ग्रामाण अचलों में जहाँ पाश्चात्य प्रभाव की पहुँच नहीं है, विवाह के अवसर पर 'मौर' की अनिवार्य महत्ता है। मौर सम्बन्धी गीतों में स्त्री-पुरुषों के सहज उत्साह एवं उल्लास की अभिव्यक्ति हुई है।

वर पक्ष के यहाँ बारात का प्रस्थान हो जाने पर स्त्रियों द्वारा विशेष आनन्द उत्सव मनाया जाता है। घर के समस्त पुरुष बारात में गए होते हैं और स्त्रियों का निर्भीक साम्राज्य स्थापित रहता है। बारात वापस आने तक प्रति रात में स्त्रियों द्वारा विभिन्न मनोरंजक कार्यक्रम उपस्थित किये जाते है जिसे भोजपुरी में 'डोमकछ' तथा अवधी में 'नकटौरा' कहते है। पारस्परिक मनोरंजन के लिये इस अवसर पर विभिन्न प्रकार के अभिनय किये जाते हैं। कहीं-कहीं इन अभिनयों एवं उनसे सम्बन्धित गीतों में अश्लीलता का समावेश भी हो जाता है। परन्तु ऐसे भी अनेक गीत हैं जिनमें स्वस्थ मनोरंजन की ध्वनि है।

---

1. किनारे पर।
2. वृक्ष विशेष।

अवधी क्षेत्र में 'नकटौरे' के गीत विशाल संख्या में पाये जाते हैं। एक गीत में पति के प्रति पत्नी का आक्षेप अत्यधिक मनोरंजक शैली में वर्णित हुआ है —

> हाय जिया अरि काहे न जाय राजा गये पटना का।
> सासू को लाये सारी, ननद को लाये धोता, हमको लै आये चुनरिया।
> सासू ने पहिरी मांगे ननद ने पहिरी धोती, खूंटी पै टांगी चुनरिया।
> सासू को लाये पूरी, ननद को लाये लड्डू, हमको लै आये कनौडिया।
> सासू ने खाई पूरी, ननद ने खाये लड्डू, छीके पै रखी कचौडिया।
> सासू के भया लडका, ननद के भई लड़की सैंया के भई बंदरिया।
> सासू का लडका खेले, ननद की लडकी खेले, छज्जों से कूदे बदरिया।
>
> (अ० लो० प० पृ० २६०)

इन गीतों में सभ्यता एवं शिष्टता का किंचित् भी ध्यान न रखकर अधिक से अधिक मनोरंजन का प्रयोग सिद्ध किया जाता है।

वर पक्ष के यहाँ कुछ अन्य विशेष प्रकार के गीत गाये जाते हैं। भोजपुरी प्रदेश में वर के अनुपम शृंगार से सम्बन्धित 'वस्त्र धारण के गीत' गाये जाते हैं जिनमें वर की वेष-भूषा का वर्णन रहता है—

> दुलहा के सिरे पगिया भला सोभे, दुलहिन के सोभे अनारकलिया।
> फुलवरिया में डेरा गिरा दे, भला बगिया में डेरा गिरा दे रे।
> दुलहा के मुख में बीड़ा सोभे, दुलहिन के दांते मिसिया रे।
> दुलहा के अंगे जोड़ा भी सोभे, दुलहिन का सोभे चोलिया रे।
> बगिया में दुलहा के सेजे दुलहिन सोभे, दुलहिन संगे जोन्हनिया रे।
>
> (भो० लो० सा० पृ० ११८)

वर के रूप-वर्णन एवं वेश-भूषा-वर्णन के साथ वधू की शोभा का उल्लेख भी किया गया है। इस प्रकार के गीत बड़ी संख्या में प्रचलित रहते हैं।

अवधी क्षेत्र में वर पक्ष के यहाँ पाये जाने वाले 'घोड़ी' और 'बनरा' गीतों को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। 'निकरौसी' के समय वर घोड़ी पर बैठता है। इसलिये वर एवं घोड़े से सम्बन्धित समस्त गीतों का नाम ही 'घोड़ी' हो गया है। 'घोड़ी' गीतों की प्रचुर संख्या अवधी प्रदेश में उपलब्ध होती है।

एक अवधी गीत में एक नयी एवं विचित्र घोड़ी का उल्लेख है जो राजद्वार पर बधी है परन्तु न तृण खाती है न बैठती है बल्कि कटोरों से दूध पीती है और नागर पान चबाती है। उसकी सोने की जीन है और मखतूल की चाबुक है। सुन्दर वर उस पर बैठकर ससुराल जाते हैं। ससुराल में सभी उनसे प्रभावित होते हैं और उनका पारिवारिक परिचय पूछते हैं—

> घोड़ी एकु नमेसरि रे बना।
> सो बना वह तो बाँधी है राजदुआर। वारिउ रे बना ॥१॥
> हो बना प्यारे बाँधी वह राजदुआर।

न घोड़ा बह बह खाय रे बना,
हो बना प्यारे न घोड़ी वह आमनु लेय ॥२॥
दूध कटोरवन वह पिय रे बना।
हो बना प्यारे चाब रे वह तो नागर पान ॥३॥
जीन जड़ाऊ सोने केरा रे बना।
हो बना प्यारे चाबुक रे ओहि के है मखतूल ॥४॥
सो घोड़ी चढ़िगे हैं दुलहे कवन रामा रे बना।
बना प्यारे चढ़िकै रे ससुरारी जाय ॥५॥
सकरी गलियन होइ के निकरे रे बना।
थैरिख रे वह के ढलमल जाय ॥६॥
कौनो आजिन केरे उर धर्यो रे बना।
हो बना प्यारे कौनिउ बुअन के हो रे भतीज ॥७॥
अजी दुलहिन देई के उर धर्यो रे बना।
हो बना प्यारे बुआ कवन देई के इन हम भतीज ॥८॥
कौनी भैयन के उर धर्या रे बना।
हो बना प्यारे कौनो बहिन क हो राजा बीर ॥९॥
माया दुलहिन देई के उर धर्यो रे बना।
हो बना प्यारे बहिनी कवन देई के इन राजा बीर ॥१०॥

(अ० लो० प० पृ० २६२-६३)

इसी प्रकार 'बनरा' या 'बन्ना' गीत भी अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। इन गीतों में 'श्रीवर' की रूप-शोभा का वर्णन, वेश-भूषा का वर्णन, ऐश्वर्य-वैभव का वर्णन एवं पारिवारिक उच्चता का वर्णन रहता है।

अवधी का एक बनरा गीत इस प्रकार है—
जग मों तिलकु लिलार स्याम सहजादे बनरे ॥१॥
चीरा तो तुम्हरा खूब बना, सुन्दर प्यारे बनरे।
कलगी लहरें लेइ स्याम सहजादे बनरे ॥२॥
मोती तो तुम्हरे खूब बना सुन्दर प्यारे बनरे।
कुण्डल लहरें लेइ, स्याम सहजादे बनरे ॥३॥
सुरमा तो तुम्हारो खूब बना, सुन्दर प्यारे बनरे।
बिरिया लहरें लेइ, स्याम सहजादे बनरे ॥४॥
जामा तो तुम्हारो खूब बना, सुन्दर प्यारे बनरे।
पटुका लहरें लेइ स्याम सहजादे बनरे ॥५॥
मोजा तो तुम्हरे खूब बने स्याम सुन्दर प्यारे बनरे।
[illegible] लहरें लेइ स्याम सहजादे बनरे ॥६॥
घोड़ा तो तुम्हरे खूब बना सुन्दर सहजादे बनरे।
[illegible] लहरें लेइ स्याम सहजादे बनरे ॥७॥
[illegible]या तो तुम्हरे खूब बने, सुन्दर प्यारे बनरे।
महफिल लहरें लेइ, स्याम सहजादे बनरे ॥८॥

डोना तो तुम्हरा खूब बना, मुन्दर प्यारे बनरे।
परदा लहरें लेइ, स्याम सहजादे बनरे।
नाजो लहरें लेइ, स्याम सहजादे बनरे ॥६॥ (अ० लो० प० पृ० २५६)

इस गीत में वर की वेशभूषा का विस्तृत वर्णन हुआ है। विवाह के पुण्य अवसर पर सुन्दर सुसज्जित वर की रूप छवि का वर्णन इन गीतों के द्वारा स्त्रियां बड़े उल्लास के साथ करती हैं। ढोलक और मंजीरों के बीच स्त्रियों के कल-कंठ से विस्तृत 'बनरा' की झंकार वातावरण को मुग्ध कर देती है। विविध प्रकार के प्रसाधनों से सुसज्जित 'वर' को कुदृष्टि (नजर लगना) से बचाने के लिये 'टोना' गीतों की भी रचना की गई है। सुन्दर वर की माता बहन, आजी आदि अपनी-अपनी योग्यतानुसार 'टोना' कर रही हैं जिससे किसी की कुदृष्टि वर पर प्रभाव न डाल सके।

अवधी के एक 'टोना' गीत में अनेक उपक्रमों द्वारा 'जन्त्र' बनवाने और वर महोदय के अंग विशेष में बांधने का उल्लेख हुआ है—

लाओ न चक कै माटी, झूमरिया का पानी ना।
कारे कौआ केरि चोंच मगाइनि औ मिरगा की आंखी ना ॥१॥
तीस रूख कै पाती मंगाइनि, बत्तीस कुंअन का पानी ना।
इन सबहिन कै जन्त्र बनाइनि बंधे दुलहे के हाथे ना ॥२॥
हाथे के बांधे जुआरी होइ हैं, बांधौ दुलहे के पाये ना।
पाये के बांधे बिदेसी होइ हैं, बांधे दुलहे की पीठी ना ॥३॥
पीठी के बांधे सेजन सोइहैं, बनरी के अंग लागैं ना।
बांधो दुलहे की छाती ना ॥४॥
छाती के बांधी सेज पै सोइ है, जनमु सुफल होइ जाई ना।
टोना पठावन गई हैं कवन देई एकवार मयरु की राती ना।
टोना पठाय घरैं जब लौटी, माया बहिनि घर जाये ना ॥५॥
पौलाबो न उन आजी दुलहिन देई, उई कुछ अधिक सयानी ना।
उनके हैं 'मैके' के टोना अगरु भये परिवाना ना ॥६॥
औरे के टोना ऐसे तैसे-आजी के जपत बखाने ना।
औरे के टोना हालें डोलें, उनके घरि धमकावैं ना ॥७॥

(अ० लो० प० पृ० २१')

इन गीतों में ग्रामीण जन-समुदाय में प्रचलित अंधविश्वास, रूढ़ियां, संस्कारगत मान्यताओं का स्पष्ट चित्रण प्राप्त होता है। वर पक्ष के यहाँ समस्त विधि-विधानों के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् बारात प्रस्थान होती है और कन्या-पक्ष के यहाँ आती है। बारात के आते ही सब लोगों में व्यस्तता की लहर दौड़ जाती है। निर्धारित नियमों के अनुसार कार्य आरम्भ हो जाते हैं। वैवाहिक विधियां एक-एक कर सम्पन्न होने लगती हैं।

सर्व प्रथम बारात के ठहरने की व्यवस्था की जाती है। कन्या का पिता बारात ठहराने के लिये समस्त सुख-सुविधा युक्त स्थान निश्चित करता है, जिसे

'जनवासा' कहते हैं। यदि बारात के लिए उपयुक्त स्थान की व्यवस्था न की जाय तो वर का पिता तथा अन्य बराती क्रुद्ध होकर वापस लौट जाने की धमकी भी देने लगते हैं। लोकगीतों में इस स्थिति का निरूपण बड़ी सुन्दरता से हुआ है।

एक भोजपुरी गीत में सुन्दर साज-समारोह के साथ आती हुई बारात का वर्णन है जिसके आवास की समुचित व्यवस्था न हो पाने पर वर का पिता कन्या के पिता पर क्रोध प्रकट करता है और कन्या का पिता विनीत भाव से उसे प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहा है—

काहावां के हथिया सींगारिल[1] आवेले, कांहावां के भीन[2] लाहास[3] ।
काहावां के राजा बियहन[4] आवेले, माथे मुकुट, मुंहे पान ॥१॥
गोरखपुर के हथिया सींगारलि आवेले, पटना के भीन लाहास ।
कासी का राजा रे बियहन आवेले, माथे मुकुट मुंहे पान ॥२॥
तड़पि[5] के बोलेले समधी नयन समधी, सुनु बचन हमार ।
कहीलीत ए समधी उलटी घवरबो[6] नाहीं त बसोंही[7] तर ठाड़ ॥३॥
मिनती[8] करि बोलले समधी सुनु बचन हमार ।
कवन दुलहा के ऊंच छवाइबि[9] ठाढ़[10] ही हथिया समाई[11] ॥४॥

(भो० लो० गी० पृ० २१८)

भारतीय समाज नीति के अनुसार प्रत्येक क्षेत्र में कन्या के पिता को वर के पिता के समक्ष विनीत एवं अनुशासित हो कर रहना पड़ता है। किसी प्रकार की क्षोभपूर्ण स्थिति उत्पन्न न होने देने के लिये वह यथाशक्ति चेष्टारत रहता है।

अवधी क्षेत्र में प्रचलित एक गीत में ऐसे ही एक चतुर एवं सतर्क पिता का उल्लेख है जो समस्त बारातियों, समधी एवं दामाद को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है—

---

1. श्रृंगार करके।
2. पतला।
3. झूल।
4. विवाह।
5. जोर से।
6. उलटा लौट जाऊंगा।
7. वृक्ष।
8. विनती, प्रार्थना।
9. बनाऊंगा।
10. खड़े-खड़े।
11. घुस जाय, प्रवेश कर जाय।

बाजते आवइ करइली क बाजा, हुमकत आवइ निसान रे।
बिहंसत आवइ पतरंग[1] समधी, कुलकत[2] दुलरू[3] दमाद ॥
कहवां बैठावऊं अजनिया-बजनिया, कहवां गड़ावऊं निसान।
कहवां बैठावउ पतरंग समधी, कहवई दुलरु दमाद रे।
बगिया बैठावउ अजनिया-बजनिया, दुवारे गड़ावउ निसान रे।
सभवइ बैठावउ पतरंग समधी, मंडए मे दुलरु दमाद।
का ले समझावउं अजनिया-बजनिया, का दै हुनावऊं निसान रे।
का दै समझावउं पतरंग समधी, का दै दुलरु दमाद।
भात दै समझावउ अजनिया बजनिया घिउ गुर हुनावउ निसान।
दैजा दई समझावउ पतरंग समधी, धिया दै दुलरु दमाद।

(संस्कार गीत पृ० २१६-२०)

इस गीत में बारात में आए समस्त व्यक्तियों का यथायोग्य सम्मान किया गया है। बगीचे में बाजे वालों को, द्वार पर नगाड़े वालों को, सभा में समधी को और मंडप में दूल्हे को बैठाया गया है। इसी प्रकार बाजे वालों को भात खिला कर, नगाड़े वालों को घी-गुड़ देकर, समधी को दहेज देकर और दमाद को कन्या देकर प्रसन्न करने की सूझ प्रदर्शित की गई है। 'पतरंग समधी' (पतले समधी) शब्द में सहज विनोद का भाव अंकित है।

बारात-आगमन के पश्चात् प्रथम महत्वपूर्ण विधि द्वारचार है, जिसमें कन्या गृह के द्वार पर सम्पूर्ण बारात आती है और वहां वर की आरती कर उपहार स्वरूप कुछ धन राशि उसे भेंट की जाती है। स्त्रियों का विशाल समूह घर के अन्दर से सुमधुर गीतों की बौछार करता रहता है। 'द्वारचार' की रीति भोजपुरी एवं अवधी दोनों क्षेत्रों में प्रचलित है। उस अवसर से सम्बन्धित गीत भी दोनों क्षेत्रों में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

एक भोजपुरी लोकगीत में 'द्वारचार' के समय की सम्पूर्ण शोभा का उल्लेख हुआ है—

अगीली नलकिया[4] रे दुल्हा के बाबा, पछिला दुलह जी के चाचा जी।
बीचिली नलकिया रे दुलहा जी सोभेले, बावे[5] दहिने पांचो भाई जी ॥१॥
जब बरिमनिया गयेण[6] भीरि[7] गइलि, भयेणिनि धूम मचाया जी।

1. पतले।
2. किलकते हुए।
3. दुलारे।
4. पालकी।
5. बायां।
6. गांव।
7. पास, नजदीक।

जब बरियतिया दुआरे भीरि गइली, चेरिया कलस ले ले ठाढ़[1] जी ॥२॥
जब बरियतिया मड़वा[2] भीरि अइली, मड़वनि धूम मचायो जी ।
गद्दी दरी अवरु मसनदवा, जाजिम[3] झारि डसायो[4] जी ॥३॥
थारीनि धारि मसाला[5] उड़ायो, अवरू मगहिया पान जी ।
जेवहि बइठेले समधी कवन मनवो कवन राम बेनिया डोलाईं जी ॥४॥
जवहि समधी सकोच मतो मानी, आजु हम राउर गुलाम[6] जी ।
राउरा के समधी हम कुछउ ना दिहलीं, दिहलीं चेरिया तुम्हार जी ॥५॥
अइसन बोली जनि बोलो ए समधी, राउर वचन पियार[7] जी ।
राउर बेटी के हमार लछिमी[8] जाके अपना हम पाईं जी ॥६॥

(भो० लो० गी० पृ० २२३-२४)

कन्या के गांव में बाराती पहुंचते ही स्वाभाविक आनन्द की एक हिलोर उमड़ पड़ती है। आगे-आगे वर का पिता, पीछे चाचा और बीच में वर तथा उसके पांच भाई पालकी में बैठे हुए हैं। द्वार पूजा के अवसर पर दासी कलश लिये खड़ी है। बारातियों को बैठने के लिये दरी जाजिम, गलीचा आदि बिछाये गये हैं। साथ ही उनके स्वागत में गरी, सुपारी, इलायची तथा मगहिया पान की व्यवस्था भी की गई है। गीत की अन्तिम पंक्ति में कन्या के पिता की विनम्रता अंकित है जब वह भोजन करते हुए समधी पर पंखा झलता है।

गीत में समस्त स्थितियों का स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

अवधी लोकगीतों में भी 'द्वारचार' के आनन्दोल्लास का पूरा उल्लेख हुआ है। अवधी क्षेत्र में प्रचलित एक गीत इस प्रकार है—

जब रघुवर गलियन आइये।
उनके ससुरन गलियां झराइये ॥१॥
जब रघुवर गोंड़ें मा आइये।
उनके सारेन घोड़वा लोटाइये।
उनके सारे तीन अगवनियां ॥२॥
जब रघुबर द्वारे मा आइये।
उनके ससुरन आरती उतारिये।
उनकी चेरिया कलसु लीन्हें ठाढ़ि हैं ॥३॥

---

1. खड़ी।
2. मंडप।
3. बिछौना।
4. बिछाया गया।
5. गरी इलायची।
6. नौकर।
7. प्यारी सुन्दर।
8. लक्ष्मी।

जब रघुवर मँडए मा आइये।
तब कन्या तेधोरा लीन्हे ठाढि हैं ॥४॥
जब रघुवर ज्यूतिनि आइये।
उनकी सरहज खेलावैं पंसासारिया ॥५॥
धन्नि-धन्नि सुसुर रामा भागि है।
धन्नि मइया रामा भागी है।
जिनके द्वारे पे रघुवर आइये ॥६॥ (अ० लो० ग० पृ० ११५)

'वर' महोदय के आगमन पर कन्या का पिता विशेष प्रकार के नवीन आयोजन करता है। गलियों को स्वच्छ किया जाता है, साले अगवानी करने जाते हैं द्वार पर ससुर आरती उतारते हैं, दासी कलश लिये खड़ी है। मण्डप में कन्या सिन्धोरा लिये अपने स्वामी की प्रतीक्षा में रत है। सिन्दूर दान के उपरान्त 'ज्यूति' के अवसर पर विधि के अनुकूल सरहज पसासारी खेलाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण विवाह का चित्रण इस गीत में प्राप्त होता है। द्वारचार के समय स्त्रियों की मधुर कल्पना विवाह के समस्त विधि-विधानों को पार करके वर-कन्या के मिलन पर जाकर समाप्त होती है।

द्वारचार के पश्चात् बारातियों को जनवासे भेज दिया जाता है एवं उनके भोजन आदि की व्यवस्था की जाती है। इसी समय वर पक्ष की ओर से कन्या के लिये 'चढ़ावा' आता है। इसमें कन्या के वस्त्राभूषण रहते हैं। घर की स्त्रियाँ 'चढ़ावा' आने की प्रतीक्षा बड़ी व्यग्रता एवं उत्सुकता से करती रहती हैं। प्रायः वर पक्ष की प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा इस 'चढ़ावा' पर ही निर्भर रहती है। कन्या पक्ष की हैसियत से अधिक उत्तम 'चढ़ावा' आने पर सबमें प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है।

भोजपुरी के एक गीत में कन्या का निर्धन पिता कन्या को दामाद के द्वारा लाये हुए मोतियों के आभूषण एवं बहुमूल्य साड़ी पहने देखकर अत्यधिक प्रसन्न हो रहा है—

मोती सारी पेन्हेली कवन बेटी, देख बाबा मोती मागी हो।
भुगतहु हो बेटी। भुगतहु, भुगतहु, मागी भुगतहु हो।
हम तोरा भाई बाप निर्धन, तोर सुख देखि 'बहुरंग' हो॥

(भो० लो० क० रस० पृ० ३७६)

अवधी क्षेत्र में 'चढ़ावा' के गीत बड़े आनन्द के साथ गाये जाते हैं। चढ़ावा वर पक्ष की ओर से आता है। अतः उससे सम्बन्धित गीत वर पक्ष को इंगित करके ही गाये जाते हैं।

अवधी बोली का एक चढ़ावा इस प्रकार है—

जाजमऊ केरी हाटिया चुनरीऊ अजब बिकाय रे।
उठि कै बाबा उनके मोलु करैं मोरी बहुआ का चढा है चढाव ॥
जाजमऊ केरी हाटिया सेन्दुरा अजब बिकाय रे।
उठिकै दुलहे रामा मोलु करैं, मोरी रनिया का चढा है चढाव ॥२॥

आजमऊ केरी हाटिया जहाँ गहना अजब बिकाय रे।
उठिके चाचा उनके मोलु करें, मोरी बहुआ का चढ़ा है चढ़ाव ॥६॥
आजमऊ केरी हाटिया, जहाँ मतपुर अजब बिकाय रे।
उठिके दादुलि उनके मोल करें, मोरी बहुआ का चढ़ा है चढ़ाव ॥४॥
आजमऊ केरी हाटिया, चुरिऊ अजब बिकाय रे।
उठिके भइया उनकमोलु करें मोरी लहुरी का चढ़ा है चढ़ाव ।५॥
आजमऊ केरी हाटिया, जहाँ लहुगा अजब बिकाय रे।
जीजा फूफा मोलु करें मोरी मरहज का चढ़ा है चढ़ाव ॥६॥
आजमऊ केरी हाटिया जहाँ चोलिउ अजब बिकाय रे।
उठिके भइया उनके मोलु करें मोरी भौजी का चढ़ा है चढ़ाव ॥७॥
आजमऊ केरी हाटिया जहाँ तरकिउ अजब बिकाय रे।
उठिके नाना मामा मोलु करें मोरी बहुआ का चढ़ा है चढ़ाव ॥८॥

(ब० लो० ग० पृ० २४५)

प्राचीन संयुक्त परिवार की व्यवस्था में विवाह आदि अवसरों पर विभिन्न सामग्रियों को सम्मिलित रूप से जुटाना पड़ता था। इस गीत में इसी सामूहिक सहयोग का निरूपण किया गया है। दूल्हे के बाबा चुनरी लाते हैं, दूल्हा सिन्दूर लाता है, चाचा गहने लाते हैं पिता मतपुर (मान वस्तु) का प्रबन्ध करते हैं बड़े भाई चूड़ियाँ लाते हैं फूफा लहगा लेकर आते हैं, देवर चोली और मामा तर्की (कान का आभूषण) लाते हैं। इस प्रकार सब दायित्वपूर्ण सहयोग से विवाह कार्य सम्पन्न होता है। यद्यपि अब उस प्रकार की व्यवस्था नहीं है, परन्तु गीतों में उन्हीं आदर्श भावों की अभिव्यक्ति होती आ रही है।

चढ़ावा चढ़ जाने के पश्चात् वर को विवाह मंडप में मुहूर्त के अनुसार बुलाया जाता है और विवाह की महत्वपूर्ण विधियाँ आरम्भ हो जाती हैं। इस समय परिवार की स्त्रियों में विवाह सम्बन्धी विविध भाँति के गाने होते रहते हैं। वर एवं कन्या को मंडप के नीचे बैठा कर पंडित के द्वारा विभिन्न विधियों की पूर्ति की जाती है। वातावरण का उल्लास धीरे-धीरे करुणा में परिवर्तित होता चला जाता है। जैसे-जैसे विवाह की लग्न निकट आती जाती है स्त्रियों के कंठ बोझिल होने लगते हैं और करुणा-सिक्त गानों की काँपती हुई स्वर लहरियाँ वातावरण में बिखर जाती हैं। कन्या-दान के समय यह करुणा अधिक गहरी हो जाती है।

एक भोजपुरी गीत में बेटी का कन्यादान करते हुए पिता की अत्यधिक करुण स्थिति का चित्रण हुआ है- -

अछत काँपेला चनन काँपेला,
काँपेला कुसवा के डाढि बिटिया ॥राम०॥
बीच मडउआ बाबा मोर काँपी ले,
जाघ बइठवले आपन बिटिया ॥राम०॥
जनि काँपहु अच्छत जनि काँपहु चनन,
जनि काँपु कुसवा के डाढि बिटिया ॥राम०॥

जनि कांपु बाबा हो जाँघे लै लै धियवा,
भले करब कन्यादान बिटिया।
रामजी एहीरे लागी जनमेली तोरि बिटिया॥

(भो० लो० क० रस० पृ० १७२)

कन्यादान की वेला में मंडप का वातावरण अथाह करुणा एवं वेदना से विह्वल है। अनेक लाड़-दुलारों में पली अपनी बेटी को पराये व्यक्ति के हाथ में दान करते हुए पिता का हृदय फटा जा रहा है। मडप में स्थित निर्जीव तत्व-अक्षत, चन्दन, कुश आदि भी शोकवश काँप रहे हैं। जाँघ पर अपनी कन्या को बैठाये पिता काँप रहा है। सम्पूर्ण वायुमडल वेदना-प्रमित है।

अवधी बोली में भी 'कन्यादान' के गीतों में असीम करुणा की व्याप्ति है, यह वही जान सकता है जिसे इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ हो। उपर्युक्त गीत में प्राप्त कारुणिक अनुभूति इस अवधी गीत में और भी अधिक गहरी हो उठी है।

हरियर बंसवा कइ हरियरि डंड़िया, कास-कुस मांडउ छवाउ,
नउवा बोलइ के अंगना लिपावउ, आजु मोरी बेटी क बियाहु।
मड़ये के नीचे बइठे बपवा कवन रामा, बगले मे माया महरानि,
कोछवा मे बइठी बेटी कवनि देई, चउके में दुलह दमाद।
पण्डित बोलाइ के बद पढ़ावउ, समधी क अगने लिआउ,
अगिनि पवन कइ साखी देवावउ, करउ बेटी कर दान।
सोने कइ थार, थार भरी पानी, कुस पल्लउ लेउ हाथ,
ऐपन गदोरिया, तिलक सवारउ, आजु धरम कइ जून।
नील गगन पर कापत सुरुज रे नरे कापत धरती मातु,
बिचवा मे कापत थर-थर पवन देउ, कांपत सभवा के लोग।
थर-थर कापत माई कइ कोखिया, कापइ बाप कर हाथ,
थर-थर कापइ झारी क पानी, भैया क कापइ हाथ॥

(संस्कार गीत पृ० २११)

हरे-हरे बांसों से बने सुन्दर मडप में माता, पिता, कन्या और दामाद बैठे हैं। कन्यादान की बेला है। समस्त वस्तुयें—कुश, पल्लव, जल, ऐपन आदि तय्यार हैं। कन्यादान करते समय सम्पूर्ण वातावरण स्तब्ध हो जाता है। दुःख से अभिभूत होकर आकाश में सूर्य कांप उठता है। नीचे पृथ्वी कांप रही है, दोनों के मध्य स्थित पवन कांप रहा है और सभा के समस्त व्यक्ति कांप रहे हैं। मां की कोख शोकाकुल होकर कांप रही है, जहां से कन्या का जन्म हुआ और पिता हाथ कांप रहा है जिसके द्वारा उसकी लाडली बेटी का दान होगा। झारी से पानी डालते हुए कन्या के भाई का हाथ कांप रहा है और झारी में स्थित जल भी वेदना से आतंकित हो उठा है। दुःख की गहनता एवं व्यापकता का मर्मस्पर्शी चित्रण कन्यादान से सम्बन्धित गीतों में प्राप्त होता है।

भोजपुरी एवं अवधी दोनों लोकगीतों में दुःख की समान स्थितियों का निरूपण हुआ है। दोनों में ही कन्यादान की करुणा केवल सजीव प्राणियों तक सीमित न रह कर प्रकृति-व्यापी हो उठी है।

कन्यादान के पश्चात् कन्या पराई हो जाती है। वर के द्वारा उसकी मांग में सिन्दूर भरा दिया जाता है। अवधी क्षेत्र में पहले धोबिन कन्या की मांग में सिन्दूर भरती है, उसके बाद वर के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है। इस समय भी गीत होते रहते हैं।

सिन्दूर दान के समय का एक भोजपुरी गीत है, जिसमें भाभी के द्वारा ननद को सुहाग देने का उल्लेख है—

> हटिया सेनुरा महग भइले बाबा चुनरी भइले अनमोल।
> यहि सेनुरा के कारन रे बाबा छोडली मैं देस तोहार ॥१॥
> बाबा देर बेटी देसे कौन बिअहवाँ भउजी कहे कौन पाव।
> माई कहें बेटी नगर अजोध्या निति उठि प्रात नहइहे ॥२॥
> बाबा देतनि अयधन सोनवा मैया देली लहरा पटोर।
> भैया देले चढ़न के, हा, घोड़वा भउजी देली आपन सोहाग ॥३॥
> बाबा के सोनवा नवे दिन लइलों फाटि गइले लहरा पटोर।
> भैया के घ ड़वा नगरे गवकनो भउजी के बाढ़े अहिवात ॥४॥
> माया कहे बेटी नित उठि अइह बाबा कहे छठे मास।
> भैया केह बहिनी काज परोजन भउजी कहे कम वास ॥५॥

(भो० लो० में करुण रस पृ० ४००)

इस गीत में भाभी के द्वारा प्रदत्त सुहाग के अमरत्व की प्रशंसा के साथ-साथ किंचित् दुखद भावों का भी समावेश हो गया है। विवाहोपरान्त सुन्दर कामिनी कन्या अपने माता-पिता, भाई-बहन एवं भाभी को स्मरण करती हुई अपने प्रति उनके व्यवहार की मीमांसा कर रही है। पिता ने धन-सम्पत्ति दी थी, और माता ने रेशमी वस्त्र दिये थे, भाई ने घोड़ा दिया था और भाभी ने सर्वाधिक बहुमूल्य सुहाग दिया था। परन्तु पिता ने नित्य-प्रति आने का वादा किया, माता ने छह महीने पर मिलने का वचन दिया भाई ने केवल काज-प्रयोजन पर मिलने का आश्वासन दिया और भाभी ने कभी भी मिलने की आवश्यकता ही नहीं समझी। इसलिये महान दान देकर भी भाभी सकुचित-हृदय ही बनी रही।

अवधी में सिन्दूरदान के गीत 'सुहाग गीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कन्या की मांग में सिन्दूर पड़ते समय, उमंग एवं उल्लास से युक्त गीतों की स्वर-लहरियां वातावरण को मुग्ध बना देती हैं। स्त्री के लिये यह अवसर सबसे अधिक संवेदनात्मक होता है, जब वह सुहागिन बनती है। यही कारण है कि इस अवसर के गीत भावनाओं की विशाल गहनता से युक्त हैं।

एक अवधी गीत में भावनाओं का प्रवाह उन्मुक्त रूप से बह चला है—

> सोहाग के बादर ओनये, सोहाग की नन्हीं नन्हीं बुंदिया
> सोहागु न्हिमिक न्हरि नामिरे ॥१॥
> सोहाग ओरोनिन बहि चला, सोहाग पनारन बहि चला।
> सोहाग लहनटो की मांगिया, सोहाग दुलारी की मांगिया ॥

(अ० लो० प० पृ० २०६)

सुहाग की कोई सीमा नहीं होती। वह अमर है, असीम है, अजस्र है। मंडप के नीचे, 'सोहग के बादल' उमड़ पड़े हैं और सुहाग की झड़ी लग गई है। सुहाग रूपी जल विशाल मात्रा में लहराता हुआ प्रवाहित हो रहा है। लाड़िली कन्या की माँग उस असीम अमर सुहाग से सुशोभित हो रही है। 'पनारन बहि चला' में बाहुल्यता की ध्वनि है।

सुहाग का ग्रहण जितना महान है, उसका दान भी उतना ही महान है। जो अमर है, अखण्ड है असीम है वह बाटने से घटता नहीं है—

भइया कवन रामा यह जसु लेहु।
सोहाग के बाग सींचि हमें देहु ॥१॥
भैया भरे भौजी सींचन जाय।
सींचि बढावें सोहाग केरी बाग ॥२॥
एतना सोहाग बँटो करिहो का।
टोला परोसिनि बाटनु देब ॥३॥ (अ० लो० प० पृ० २१)

इस छोटे-से गीत में काव्य-सुलभ आलंकारिकता के दर्शन होते हैं। सुहाग रूपी बाग है जिसे सींचने और विकसित करने के लिये कन्या की भाभी आती है। सुहागिन स्त्रियाँ कन्या को अपने सुहाग का दान करती हैं। इसी प्रकार विशाल मात्रा में संचित सुहाग को 'टोला परोस' में बाटने की अभिलाषा कन्या में भी है।

विवाह की प्रमुख विधि 'सप्तपदी' है जिसे भावरें भी कहते हैं। विवाह वेदी की सात बार वर एवं वधू परिक्रमा करते हैं। छठी परिक्रमा तक कन्या आगे एवं वर पीछे होता है, उस समय तक कन्या पर पिता का अधिकार समझा जाता है। सातवीं भाँवर में वर आगे एवं कन्या पीछे हो जाती है, इस परिक्रमा के पश्चात् कन्या पर वर का एकमात्र अधिकार हो जाता है।

भोजपुरी प्रदेश का एक गीत है, जिसमें सप्तपद चल कर, कन्या को पराई हो जाने का मर्मान्तिक दुःख है।

ऊंच ऊंच बखरी उठावें मोरे बाबा ऊंचे ऊंचे राख मोहार।
चान सुरुज दूनो किरनी बसत है निहुरे न कन्त हमार ॥१॥
अम्भर मेंनुरा मगाव मोरे बाबा पिया से भराव मोरी माग।
सूपर बमना से मंडिया ओराव्हु जनम जनम अहिवात ॥२॥
अम्भर डंडिया फनाव मोरे बाबा विदवा कराव हमार।
सात परगवें संग चलि के हो बाबा अब हम भइलीं पराइ ॥३॥

(भो० लो० में क० रस० पृ० ३६०)

इस गीत में एक कन्या अपने जनम-जनम के अहिवात के प्राप्त करके पति-गृह जाने की कामना करती है। वह अपने पिता से आग्रह करती है कि ऊंचे-ऊंचे दरवाजों से युक्त ऊंचे-ऊंचे मकान बनावो जिसमें सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणें प्रविष्ट हो सकें। वहीं सुन्दर वर को बुला कर सिन्दूरदान करवाओ, और उत्तम ब्राह्मण द्वारा ग्रन्थि-बंधन हो। इसके बाद सुन्दर पालकी सजवा कर मेरी विदा कर दो, क्योंकि सात पग चल कर मैं अब पराई हो गई हूँ।

अवधी क्षेत्र के एक गीत में छह भावर तक कन्या पर पिता का अधिकार एवं सातवीं भांवर में पति का अधिकार वर्णित हुआ है—

साई बारी मइया लाई बारी, मैं तो बहिनी तुम्हारि।
पाहुली भंवरिया क घुमते, मइया अबहु तुम्हारि।
दुसरी भंवरिया के पैंठत दादुलि अबहु तुम्हारि।
तिसरी भंवरिया के पैंठत, मइया अबहु तुम्हारि।
चौथी भंवरिया के पैंठत, मइया अबहु तुम्हारि।
पांचवीं भंवरिया के पैंठत, दादुलि अबहु तुम्हारि।
छठी भंवरिया के पैंठत, दादुलि अबहु तुम्हारि।
सातवीं भंवरिया के पैंठत, दादुलि भइलि परारि।

(अ० लो० ५० पृ० २१६)

भोजपुरी गीत की यह पंक्ति—

'सात गरमवे संगे चलि के हो बाबा अब हम भइलि पराइ।' और अवधी गीत की निम्नांकित पंक्ति—

'सतवीं भवरिया के पैंठत दादूलि भइनि परारि।'

दोनों ही कन्या को समान भाव धारा की अभिव्यक्ति करती हैं। सप्तपदी के पश्चात् वर एवं कन्या को उस कक्ष में ले जाया जाता है जिसे भोजपुरी में 'कोहबर' एवं अवधी में 'मांयन' कहते हैं। वर पर कहीं-कहीं सरहज के द्वारा और कहीं सालो के द्वारा 'द्वार छेंकाई' होती है।

एक भोजपुरी गीत में सरहज द्वारा द्वार छेंकने का उल्लेख है—

'भइलें बिआह चलेले राम कोहबर
सरहज छेंकेलीं दुआरि जी।
हमरा नेग जोग दीहीं वर सुन्नर,
तब जइहा कोहबर जाई जी।'

(भो० लो० न० रस० पृ० ३७०)

अवधी में भी सालियों द्वारा द्वार रोकने एवं नेग प्राप्त करने की प्रथा है—

दुआर की छेकाई नेग दीजै प्यारे नेग दीजै।
सोच न कीजै प्यारे सोच न कीजै,
गारी न दीजै प्यारे गारी न दीजै।
हमारे बाबा को अपनी आजी दीजै,
प्यारे अच्छा नैन सुनि लीजै प्यारे।
हमारे बाबू जी को अपनी माई दीजै। (सोहाग गीत पृ० ६४)

वर को कक्ष के अन्दर जाने का अधिकार तभी मिलता है, जब वह नेग चुका देता है। भोजपुरी प्रदेश में 'कोहबर' की रीति विशेष प्रकार सम्पन्न की जाती है। वर एवं कन्या को पारस्परिक मिलन के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाती है और

वही सर्व प्रथम दोनो एक दूसरे को देखते हैं। इस अवसर पर प्रचलित गीतों मे पति पत्नी के प्रेम एव उल्लास सम्बन्धी भावों की व्यंजना ही अधिक है।

भोजपुरी के एक गीत में पत्नी के द्वारा अपने पति के प्रति शृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति हो रही है—

अलवेला दुलहा निदिया घुरमे रे।
हम बोले बिहसि बोले कवन मुहवा रे।
देखि प्रभु दतवा के मोति रे।
कइसे देखावो सुहना दतवा के जोतिया रे।
आरे मडवन सासु बहुत रे।
मड़वा के मोग प्रभु अंचरा छिपाइव।
हम रउरा जोरबो सनेह रे।
हम रउरा जाइबि कोहबरवा मे रे।
अलबेला दुलहा निदिया घुरमे रे। (भो० ग्रा० गी० पृ० ४२)

विवाहोपरान्त वधू का मन मिलन की स्वर्णिम कामनाओं से पूर्ण होकर प्रेमालाप के लिये व्यग्र हो रहा है परन्तु वर को नीद आ रही है। वधू हँस हँस कर उससे अपने दाँतो की ज्योति दिखाने का आग्रह कर रही है जो सम्भवतः हँसने-मुस्कुराने का सकेत करता है। सकोचो वर सास के सम्मुख हँसने-मुस्कुराने मे झिझकता है। प्रेमोत्कंठिता वधू कोहबर में जाकर स्नेह-प्रदर्शन की चेष्टा करती है।

एक अन्य भोजपुरी गीत मे, कोहबर के अन्दर सोते हुए पति से पत्नी के रूठ जाने का वर्णन है। पति इस मधुर अवसर पर भी नीद में डूबा हुआ है यह देख कर वह जमीन पर जाकर लेट जाती है। तब उनकी भाभी उसे मनाने आती है।

उठु उठु ननदी रे उठु रे दुलारी, उठि के आपन सेज जाहु ए।
आरे आपना छयल सगे बिरना सगाऊ, आजु सोहाग के राति ए।

परन्तु ननद का क्रोध और अधिक बढ आता है और वह अपनी भाभी को झिडक देती है—

जाहु जाहु भउजी रे जाहु दुलारी, उठि के आपन सेज जाहु ए।
आरे आपन ललन सगे काम संवारहु, आजु सोहाग के राति ए।
(भो० लो० गी० पृ० २३१)

अवधी क्षेत्र मे कक्ष के अन्दर जाकर, साली एवं सरहजो के हास-परिहास से पूर्ण वातावरण मे, वर एव वधू द्वारा कुछ विधियाँ सम्पन्न कराई जाती हैं—(१) बाती मिलाई (२) लहकौर (३) पमासारी (४) जूता पुजाई।

कक्ष के अन्दर, जिस स्थान पर घर की देवी की स्थापना रहती है, वहा वर एवं कन्या को ले जाया जाता है। वहां पर एक जलता हुआ दीपक रहता है जिसमे पृथक्-पृथक् दो बत्तियों को मिला कर एक कर एक करवाया जाता है। यह दो भिन्न हृदय को आजीवन एका करने का प्रतीक है। बहुधा इस अवसर पर अधिक नेग पाने के लिये वर महोदय रूठ जाते हैं।

इस अवसर पर निम्नलिखित गीत का प्रचलन है—

बैठे बीत गई सारी रातों, लालु तुम काहे न टारो पातो।
कठिन धनुष शिवशंकर जी को तोरयो मारयो ताड़का घातो ॥१॥
बाती देखि जिय सभा मई हैं, लिख्यो मातु जी का पाती।
की जलनी भगिनी सिखलावा की बातों लागें तातो ॥२॥
की बातो लै जइहो अयोध्ये, मातु कौसिल्या कातो।
न जलनी भगनी सिखलवा, न बाता लागे तातो ॥३॥
माता हमरी कतनै न जानें, रघुबंसिनि को जाती।
चारि सखी ऐसे उठि बोलों यह हमरे कुल रीती ॥४॥
बाली टारो नेगु चुकावो, लेओ बीद मोर मोती।
ऐसो हठी कौसिल्या जायो, सब सखियाँ अलसातो ॥५॥
द्वारे से आये राजा जनक जो, दियो हाथ पहिराई।
बाती टारो नेगु चुकावो, लोग कुटुम्ब सब साखी ॥६॥
यह बाती न उनहीं का सोहतो जो हमरे सब जाती।
तुलसीदास भजो भगवानें, सीता बियाह घर जाती ॥७॥

(अ० लो० प० पृ० २२०)

स्त्रियों का सहज हास-परिहास उपर्युक्त गीत में अभिव्यक्त होता है। वर के रूठने पर वातावरण और अधिक मनोरञ्जक बन जाता है। कभी-कभी अनुचित माँग उपस्थित होने पर कटुता भी उत्पन्न हो जाती है।

इसके पश्चात् वर एवं वधू एक दूसरे को अपने हाथों से मिठाई खिलाते हैं, इसे लहकौर खिलाना कहते हैं। इस समय भी हास-विनोद की तरंगें उठती रहती हैं।

इसी समय द्यूत-क्रीड़ा की व्यवस्था की जाती है जिसे पसासारी कहते हैं। सरहजें कपड़े की एक गेंद बनाती हैं जिसमें जेवर रख दिए जाते हैं। गेंद सात बार उछाली जाती है और वर-वधू उसे रोकते हैं। जो अधिक बार रोक लेता है, वही जीत जाता है।

'जूता पुजाई' की प्रथा केवल मनोरंजन के लिये ही है। छोटी सालियाँ जूतों को किसी सुन्दर रेशमी वस्त्र में लपेट कर रख देती हैं और उन्हें कुल देवी बता कर वर से उनके पैर छूने का आग्रह करती हैं। भोला-भाला वर उनका आग्रह मान लेता है और सदा के लिये मनोरंजन का साधन बन जाता है। इस अवसर का एक गीत इस प्रकार है—

लालु देवी के लागो पाव ॥१॥
ई देवी कुल पूज्य तुम्हारी, हिया उचित है भाई।
ई देवी हैं साधु संत की, कलयुग पूजा पाई ॥२॥
प्रभु मुसुकाय, कैसी देवी बैठी हैं बदन छिपाई।
क्रोध प्रसन्न जानि कैसे पावे, बिना सरूप दिखाई ॥३॥

कोई सखी मुख मोर हँसी है, कोई सरमुख आई।
आओ लालु तुम खेलो मिया सग, तुम हो पढ़े पढ़ाये ॥४॥
इन देवी चुनरी का छोरि राम जी ने पकड़ो, तुम मेरी पनही चुराई।
तुलसीदास भजो भगवानै, रघुबंसिनि केरो जाती ॥५॥

(अ० लो० प० पृ० २२२)

स्त्रियाँ वर महोदय से तथाकथित कुल देवो के चरण स्पर्श का आग्रह करती है। परन्तु इस रहस्य का पूर्ण ज्ञाता वर स्त्रियों को अपने तर्कों द्वारा परास्त कर देता है।

उपर्युक्त क्रियाओं के सम्पन्न हो जाने पर वर को जनवासे मे भेज दिया जाता है। विवाह के पश्चात् सबका ध्यान बारातियों के सम्मान एवं सुव्यवस्था पर चला जाता है सर्वाधिक ध्यान उनके भोजन पर दिया जाता है, क्योंकि बारातियों मे प्रायः भोजन की आलोचना करने की प्रवृत्ति अधिक सक्रिय दिखाई देती है। इस अवसर की गीत गाने वाली स्त्रियाँ उत्सुकता से प्रतीक्षा करती रहती हैं। इसका कारण यह है कि स्त्रियाँ इस अवसर पर भले-बुरे का विचार छोड़ कर, समधी तथा अन्य बारातियो के नाम ले ले कर उन्हें हर प्रकार से नीचा दिखाने की मनोरंजक चेष्टा करती हैं। बारातियो को भी इस अवसर पर सब कुछ सुनने मे आनन्द आता है। इस अवसर पर गाये जाने वाले गीत 'गालियाँ' कहलाते है, क्योंकि उनमे गालियो के समस्त तत्व सन्निहित रहते हैं। कहीं-कहीं ये गालिया, अश्लीलता की चरम सीमा को पार कर जाती हैं।

भोजपुरी क्षेत्र मे प्रचलित एक ऐसे ही गीत मे वर के पिता द्वारा कन्या के भाई से किया गया विनोद प्रस्तुत किया जाता है—

नदिया के तीरे कवन बाबू, बछरू चरावे ना।
आपन मइया ए बबुआ हमरा के दना।
कुलटा के हमरो के दना ॥१॥
हमारी मइया ए पाडे जी, लरिका से बारी।
ए पाडे जी लरिका से बारी ॥२॥
सिखवो मैं बनारस से लहुआ हो, हो जइहें सयान।
सुतइबो मैं आपन कोरवा हो, हो जइहें सयान ॥३॥
कुलटा हो, हो जइहें सयान ॥

(भो० लो० पृ० २५६)

इस गीत मे समधी-समधिन के पारस्परिक विनोद पूर्ण सम्बन्ध की अभिव्यक्ति हुई है। वर के पिता को व्यभिचारिणी के रूप मे चित्रित किया गया है।

इसी प्रकार एक अवधी गीत मे वर की बहन पर सीधा आक्षेप करते हुए उसे भ्रष्ट सिद्ध किया जा रहा है—

नन्ही नन्ही बुंदियन मेह बरसिगयो, आँगन परिगै काई जी।
तहाँ ना कवन बहिनी रपटि परी हैं, मैं जान्यो नजरानी जी ॥१॥

है कोऊ रसिया बैठवा देखें रसुरिया रस लागे जी ।
हमरे कवन रामा मेहरो के दुखिया उड़ मन देखें लागे जी ॥२॥
नारी देखन पहुँचा घरि लीन्हिनि, घनो घना सेज हराये जी ।
जब घरि दीन्हिनि एकु ठई कोठा कुकुरि ऐसी कुंकुआनी जी ॥३॥
जब घरि दीन्हेनि भोजन का टटुआ, भोज खायो मेरो प्यारी जी ।
जब घरि दीन्हेनि पानन का डिब्बा, पान खाओ मेरो प्यारी जी ॥४॥
जब घरि दीन्हेनि मोहरन कै थैली रहस गरे लपिटानी जी ।

(अ० लो० प० पृ० २२७)

बारातियों के भोजन ग्रहण के अवसर पर 'जेवनार' के गीत भी गाये जाते हैं जिनमें विभिन्न पकवानों का उल्लेख किया जाता है । कहीं-कहीं बारातियों के लिये 'कच्चे खाने' की व्यवस्था की जाती है और कहीं 'पक्के खाने' की ।

एक भोजपुरी गीत में कन्या का पिता, बारात में आने वाले बड़े-बड़े पंडितों के लिये कच्चे खाने की व्यवस्था कर रहा है—

पाख[1] बराबरि बेटी भात भीरावेलि, दलिया चलइबो पवनार[2] ए ।
हपहर[3] के होटी ए बेटी घीव ढरकाइबि, बाराबा[4] के नेवता देबि ए ।
बाढा बाढा पंडित बेटी बियहन आवेला भोजन घूमिल नाहि होइ ए ।
जेवहि बइठेले समधी कवन समधी कवन राम बेनवा डोलावे ए ।
जेवहि समधी सकुच जनि मानी हो, आज हम भरन सोहार ए ॥

(भो० गो० पृ० २०२)

भोजपुरी-प्रदेश में 'भात दान' का विशेष प्रचलन है । विवाहादि शुभ अवसरों पर भी भात दान की व्यवस्था वहाँ अवश्य होती है, जबकि अवधी क्षेत्र में इसका विशेष महत्व नहीं होता । इसलिये अवधी क्षेत्र में प्रचलित जेवनार के गीत में भाँति-भाँति की भोजन-सामग्रियों का उल्लेख रहता है—

जुगुति से परसो जी ज्योनार करि-करि के मनुहार ।
पेड़ा बरफी और अनिरसी, खाजे सुरमा घेवर परसो ।
गुपचुप मोहन हलुआ परसो, कलाकन्द की बरफी परसो ।
मक्खन बरा जलेबी परसो, पेड़ा और इन्दरस परसो ।
बूंदी और बताशे परसो, खुरचन और मलाई परसो ।
मोदा बालूशाही परसो, सुरमा लड्डुआ परसो ।
दालमोठ अरु मठरी परसो, नरम तिकोना सबके परसो ।
बूरा मिसरी जल्दी परसो, खट्टा-दही सबों के परसो ।
निखरन दूध गाय के परसो, पूड़ी कचौड़ी खस्ते परसो ।

---

1. दीव र ।
2. पनार (नाली) ।
3. नाटा ।
4. बड़ा ।

खरी कचौड़ी सबके परसो, बेसन बरा पकौड़ी परसो।
हापड़ के तुम पापड़ परसो, मूंग समूचो सबके परसो।
कढ़ी करायन रोता परसो, खट्टे मिट्ठे बरा परोसो।
सुरभी को घिउ गड्डन परसो।
रसगुल्ला रसदार, जुगुति से परसों जी ज्योनार।

(क० कौ० पृ० ४५१-५१)

विभिन्न नाम-परिगणना से युक्त यह गीत बहुत लम्बा होने के कारण यहाँ केवल एक अंश मात्र प्रस्तुत किया जा रहा है।

विवाह के दूसरे दिन विदाई की करुण बेला का आगमन होता है। हास-उल्लास मय वातावरण गहन वेदना एवं शोक से अभिभूत हो जाता है। सदा के लिये पराई होकर अपने सगे माता-पिता और भाई बहनों को छोड़ कर जाने वाली कन्या के विलाप से हृदय दहल उठता है। साक्षात् कठोरता भी इस अवसर पर अपने आँसू नहीं रोक सकती। माँ की स्नेहमयी छाया और पिता के मधुर दुलार से वंचित होकर सदा के लिये पराये घर जाने वाली शोक-विह्वल कन्या की करुणाभिव्यक्ति एक भोजपुरी लोकगीत में हुई है—

हम बिरना ऐ अम्मा जन्मे एक के सगी।
सगे सगे खेलही ऐ अम्मा खइली एक सग।
भइया के लिखत ऐ अम्मा बाबा कई राजवा।
हमरा लिखल ऐ अम्मा घर बड़ा दूरि॥ (भो० लो० क० रस पृ० ३६७)

एक ही माता से उत्पन्न पुत्र और पुत्री के भाग्य-विधान में विधाता द्वारा कितना अन्यायपूर्ण पक्षपात किया जाता है, इस भावना की अभिव्यक्ति उपर्युक्त पंक्तियों में हुई है। पराये घर जाने के लिये विवश कन्या रो-रो कर अपने दुर्भाग्य की व्याख्या कर रही है। उसे अत्यधिक दुःख है कि एक साथ जन्म लेने, एक साथ खाने और खेलने का अधिकार रखने के उपरान्त भी, वह अपने भाई के समान पिता का राज्य पाने का अधिकार क्यों नहीं तोड़ कर एक पराये, अनजान, अपरिचित घर से मोह जोड़ना स्त्री के लिये अत्यन्त कठिन, किन्तु अनिवार्य विधान है। दूर जाने की कल्पना ही उसके मन में असह्य पीड़ा को जन्म दे देती है—

गोर बदन बेटी, सावर भइली, मुहवा गइल कुम्हिलाइ रे।
की तोरा बेटी रे दायज थोरबा की बोलेला मइया खिसियाय रे।
की तोरा बेटी रे सेवा से चुकली, काहे तोरे मुँहवा उदास रे॥
ना मोरे बाबा रे दायज थोरबा, नाहीं मैया बोले खिसियाय रे।
ना मोरे बाबा हो सेवा से रउरा चुकली यहि गुन मुहवा उदास रे।
तब त कइले बाबा निअरे बिआहबि, बिअहल देसवा के ओर रे।
नैहर लोग दुलभ होइहे बाबा, रहब निमूरि, बिसूरि रे॥

(भो० लो० क० रस पृ० ३६८)

विदा की वेला में दुःख की गहनता से कन्या का मुख मुर्झा कर काला पड़

गया है। पिता यह देखकर दुःख का कारण पूछता है। उसका अनुमान है कि दहेज की कमी, भैया का ताड़ना अथवा स्वयं उसकी ही किसी त्रुटि से कन्या को दुःख हुआ है। परन्तु व्यथित मन से कन्या उत्तर देती है कि पहले तो उसने निकट ही विवाह करने का आश्वासन दिया था पर अब इतनी दूर विवाह कर दिया है कि मायके के सब लोग दुर्लभ हो जाएँगे।

गीत की अन्तिम पंक्ति में कन्या के हृदय का शोक साकार हो उठा है—

'नैहर के लोग दुलभ होइहैं बाबा, रहब बिसूरि-बिसूरि रे।"

अवधी बोली में उपलब्ध विदाई के गीतों में भी कन्या के हृदय की मर्म-स्पर्शी वेदना अभिव्यक्त हुई है। एक अवधी गीत में बहिन को विदाई के समय भाई उसे पालकी में बैठाने के लिए खड़ा है, परन्तु सोलह वर्ष तक माँ का आँचल पकड़े रहने वाली बहिन सबको छोड़ कर जाने में असमर्थ सी हो रही है—

> कइसे क डोलिया चढ़ब मोरे बीरन, भाई क कहरवा घुमत दुख लागइ,
> सोरह बरिस रहेउ तोरे भवन म, माई क गोदिया सपन नहि छोड़ेउ।
> कोसन दूध पियाएनि मोरे बाबुल, पटुका स निति मुख मोर पोछनि,
> छोटे से बड़ी भएउँ, फुदुकन चलन लागेउ, मोतियन अस सजे मोरे बीरन।
> भाई क रोय से छतिया फटत है, बाई के रोय से आरो चुवत है।
>
> (संस्कार गीत पृ० २४१)

सोलह वर्षों में माँ की जो गोद स्वप्न में भी नहीं छूटी थी उसे छोड़कर अब जाना पड़ रहा है। जो पिता कटोरे से दूध पिलाया करते और अपने अंगोछे से मुख पोंछते, उनसे वियुक्त होना पड़ रहा है। जिस घर जन्म हुआ, फुदकती चली, बड़ी हुई, उससे नेह टूट रहा है। कन्या के दुःख की सीमा नहीं है। रोती हुई माता, विलाप करते हुए पिता को देखकर उसका हृदय विदीर्ण हो रहा है और आँखें आँसू बरसा रही हैं।

कन्या का दुःख जितना गहरा है, उससे कहीं अधिक गहरा माता-पिता का दुःख होता है जिन्हें अपने हृदय के कण को अपने रक्त के अंश को पृथक् कर देना होता है। उनके सामने ही उनकी सन्तान पराई बनकर सदा के लिये उनसे बिछुड़ जाती है।

कन्या की विदा हो गई है। सूने आँगन में घूम-घूम कर कन्या का पिता विलाप कर रहा है—

> 'आँगना घूमि-घूमि बाबा रे जे रोवेले।
> कतहूँ न सुनीला हा बेटी के नेपुरवा झनकार॥'
>
> (भो० लो० गी० में क० रस पृ० २६७)

बेटी की विदाई पर घर का कोना-कोना रो पड़ता है, फिर सगे-सम्बन्धियों की अधीरता की तो सीमा ही नहीं रहती। माता-पिता, भाई और भाभी की विकलता इस गीत में बड़ी सुन्दरता से निरूपित हुई है—

भीतरा से रोवेली मयरिया अचरवन आँसू पोछेली हो।
ए हो मोरी बिटिया चलेली बिदेस कोखिया मोरि सूनि भइले रे॥
दुवरहि रोवेले बाबा पटुकवन लोरि पोछेले हो।
मोरी धिया चलतो बिदेस भवन मोरा सून भइले हो॥
भीतरा में रोवेलनि भइअवा पगरिया आँसू पोछेले हो।
मोरी बहिनी चलेली बिदेस पोठिया मोरी सूनि भइल हो॥
ओवरी में भउजी रोवेली चुनरिया आँसू पोछेली हो।
आ हो! मोरी ननदी चलेली बिदेस, रसोइया मोरी सूनी भइली हो॥

(भो० लो० क० रस) पृ० ४०१

बेटी की विदा हो रही है। माँ की आँखों के आँसू नहीं थमते, क्योंकि उसकी कोख सूनी हो गई है। द्वार पर पिता खड़े रो रहे हैं, क्योंकि उनका भवन सूना हो गया है। भीतर से भाई विलाप कर रहा है, क्योंकि उसमें छोटा अब घर में कोई नहीं रह जायगा। ओसारे में खड़ी भाभी आँसू पोंछ रही है, क्योंकि ननद के चले जाने पर घर की रसोई सूनी हो गई है। इस गीत में व्याप्त सम्पूर्ण वातावरण आँसुओं से गीला हो उठा है।

माँ की ममता अगाध होती है। सन्तान के प्रति उसके प्रेम की कोई तुलना नहीं हो सकती, यह अकथनीय है, अवर्णनीय है। अपनी प्राण से प्रिय सन्तान को पराये हाथों में सौंपते समय उसका हृदय विदीर्ण हो उठता है। असहाय सी वह, अपनी मर्म-वेदना और विवशता में जकड़ी पीड़ा को छिपाये कराहती रह जाती है—

"छाती चुरइली[1] बैठी, नयन ढरे लोखा
अब सुनरी भयलू पराय रे॥" (भो० लो० क० रस) पृ० १६२

प्रेम के अतिरेक में मा का दूध उमड़ आता है, आँखों में आँसू भर जाते है, किन्तु अपनी ही सन्तान पर आज उसका कोई वश नहीं है। विवशता से जकड़े हुए इसी मातृत्व की पुकार पर किसी कवि की भावना बोल उठी थी—

अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

लोकगीतों के सहृदय रचयिताओं ने भी इस करुण-बेला की मार्मिकता का एक-एक अश बड़ी सजगता से सजोया है। पीड़ा का कोई भी कण कहीं छूटा नहीं है, पूरा-पूरा उठा लिया लिया गया है। भोजपुरी का लोक-गायक हो अथवा अवधी का—संवेदनाओं की सम्यक् अभिव्यक्ति में कोई पीछे नहीं है। वेदना का एक व्यापक और गहनतम प्रभाव है जो दोनों हृदयों को समान रूप से छू रहा है।

एक अवधी गीत में माता-पिता और भाई की करुण स्थिति का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है।

खोलहु पटुक, गाठि मोरि जोरउ, अब धिया भई है पराई रे।
कइके सिगरवा मजन संग चली है, बाबुल खड़े हाथ जोरे रे॥

---

1. दूध से भर आना।

बिनती करत बाबुल समधी के आगे सुनउ न बिनती हमारी रे।
आपनि धेरिया तोहंइ मैं दीन्हेउ रखिहेउ भली विधि प्रतिपाल रे।
हाथ जोरि के बिनत भइया ठाढ़े सुनउ जीजा अरज हमारी रे।
आपनि बहिनिया तोहंइ मइँ दीन्हेउ, रखिहेउ भली विधि प्रतिपाल रे।
माई के रोए अचर भरि भीजइ बाबुल के रोये चउपाल रे,
भइया के रोये पटुकवा भीजइ, भभियो रोवइ सब ठाढ़ रे।

(मल्हार गीत) पृ० २४२

कन्या पराई होकर जा रही है। कन्या का पिता हाथ जोड़ कर समधी से विनय करता है कि वह उसकी बेटी को अच्छी तरह रखें। कन्या का भाई अपने जीजा से प्रार्थना करता है कि वह उसकी बहन को सुख से रखें। कन्या के वियोग से आकुल होकर माता-पिता, भाई और भाभियाँ सभी रो रहे हैं। माता के रोने से अंचल भीग रहा है पिता के रोने से चौपाल भीग रहा है और भाई के रोने से अंगोछा भीग रहा है। गीत की अन्तिम पंक्तियों में सम्पूर्ण करुणा सिमिट कर साकार हो उठी है—

माई के रोए अचर भरि भीजइ बाबुल के रोए चउपाल रे।
भइया के रोये पटुक भीजई, भभिया रोवई सब ठाढ़ रे॥

इस प्रकार, स्वजनों के प्रेमाश्रुओं से सिंचित एवं शुभ कामनाओं से परिपूरित होकर घर की नन्ही सी ज्योति एक नये परिवार को प्रकाशित करने चली जाती है।

वर पक्ष के यहाँ बारात लौट कर आने की प्रतीक्षा होती रहती है। नव वधू के दर्शन की आकांक्षा प्रतिपल तीव्र होती जाती है। जिस समय वर-वधू द्वार पर पहुंचते हैं, स्त्रियों की विशाल संख्या स्वागत हेतु उपस्थित रहती है। शीघ्र ही नियमाचार आरम्भ हो जाते हैं। प्रत्येक विधि के साथ ही स्त्रियों के मधुर गीतों के स्वर गूंज उठते हैं।

नव वधू के आगमन का उल्लास लेकर स्त्रियाँ उसका स्वागत करते हुए यह गीत गाती हैं—

सोनवा सिंधोरा लिये चितवै कवँन देई जगमग होइ अंजोर।
आवहु चन्द्र वदनि हमारे घर उतरहु जगमग होइ अंजोर॥

(सुहाग गीत पृ० १९१)

यहाँ नव वधू की तुलना चन्द्रमा से की जा रही है जिसके प्रवेश से सम्पूर्ण गृह प्रकाशित हो उठा है।

इसके पश्चात् स्त्रियों का समूह वर-वधू का 'परिछन' करने के लिए तत्पर हो जाता है। परिछन करते समय भी गीत गाए जाते हैं—

परिछन करहिं चली है सुन्दर कामिन,
हाथे सिंधोर लिहें आरती।

पहिले तो परिछहिं सिर के भौरी,
फिर परिछहिं तिलक लिलार।
पहिले तो परिछें दुलह कवन् रामा,
पाछे ससुर जी को धीय। (सोहाग गीत पृ० १६२)

वर एवं वधू के कंगन खोलने की विधि भी अत्यन्त मनोरंजक होती है। दोनों एक दूसरे के कंगन की गाँठ खोलते है। जो उस कार्य को जितनी ही शीघ्रता से कर लेता है, उसकी जीत समझी जाती है। इस अवसर पर भी स्त्रियों द्वारा गीत गाए जाते हैं—

भइ अति भीर जनक जी के आँगन, सखि सब मंगल गाईं ए।
सीता के हाथ कंगन भल सोभेला, गाठ ही गाठ सवारी ए।
छूटवत राम छुटत नाहिं कंगन सखि सब ताल बजाईं ए।
जो नाँसे राम छूटत नाहिं कंगन हारि जाहु महतारी ए। (भो० लो० सा० पृ० ११८)

उपर्युक्त गीत में राम को कंगन खोलने के कार्य में असमर्थ दिखा कर विनोद-पूर्ण परिस्थिति का नियोजन किया गया है। प्रायः स्त्रियाँ वधू को जिताने एवं वर को परास्त करने की चेष्टा करती हैं।

अतः अवधी गीत में भी इसी प्रकार की मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है—

हँसि पूछें जनकपुर की नारी, कहो कैसे गज के फन्द छुड़ायो।
मुनिवर हे तीनों लोक के नायक, कैसे का चाप चढ़ायो।
जुरि आई रनिवास जनक की, सिय कंगन उरझायो।
छोरि न छूटे सिया जी को कंगन, गाठी का मरम न पायो।
जल डूबत गजराज उबार्यो, सकट चाप चढ़ायो।

(अ० लो० प० पृ० २२३)

राम सीता का कंगन नहीं खोल पा रहे हैं। जनकपुर की स्त्रियाँ उनकी असमर्थता पर मुस्करा रही हैं। जो राम गज को उबारने में और शंकर का धनुष तोड़ने में समर्थ हो सके, वही सीता का कंगन खोलने में हार गए—यह आश्चर्य की बात है।

कंगन खोलने की विधि विवाह के चौथे दिन जिसे चौथारी या चतुर्थी कहते हैं—सम्पन्न होती है। कुछ स्थानों में चौथारी की प्रथा कन्या के घर में ही सम्पन्न होती है और कुछ स्थानों में वर के घर में पूर्ण की जाती है।

इसके अनन्तर मुँह देखाई, पैर छुवाई आदि विधियाँ सम्पन्न होती हैं। अवधी क्षेत्र में वधू के द्वारा भोजन बनाने की प्रथा का प्रचलन भी है जिसमें ससुर और देवर द्वारा उसे नेग मिलता है। समस्त विधियों की पूर्णता के पश्चात् वर एवं वधू के महामिलन की शुभ घड़ी आती है।

मृत्यु-संस्कार

मृत्यु-संस्कार मानव-जीवन का अन्तिम संस्कार है। प्रत्येक जाति के व्यक्तियों में मृत्यु-संस्कार को किसी न किसी रूप में सम्पन्न किया जाता है।

यद्यपि मृत्यु का अवसर शोक और रुदन का होता है तथापि इस अवसर पर कहीं-कहीं गीत गाने की प्रथा प्राप्त होती है। मृत्यु के गीत शोक, करुणा और विलाप से युक्त होते हैं। इन गीतों में मृत व्यक्ति के गुणों का वर्णन तथा उसके अभाव से उत्पन्न व्यथा का उल्लेख रहता है।

मृत्यु गीतों की प्राचीनता पर विचार करते हुए ऋग्वेद के कुछ सूक्तों को प्रमाण रूप में उपस्थित किया जा सकता है।[1] रामायण एवं महाभारत में भी मृतात्माओं के प्रति शोकाभिव्यक्ति प्राप्त होती है। कालिदास ने कुमारसंभव में कामदेव के भस्म हो जाने पर रति का क्रन्दन प्रस्तुत किया है।[2] श्रीमद्भागवत में कृष्ण द्वारा कंस का संहार हो जाने पर उसकी रानियाँ घोर विलाप करती हैं।[3]

उर्दू साहित्य में मृत्यु के अवसर पर प्रचलित शोक गीतों को 'मर्सिया' कहते हैं। ये 'मर्सिया' करुणा और शोक से युक्त अत्यन्त मार्मिक प्रभाव मन पर डालते हैं।

अंग्रेजी में भी मृत्यु-सम्बन्धी शोक गीत प्राप्त होते हैं जिन्हें 'एलेजी' कहते हैं। इनमें हृदय की दुःखानुभूतियों तथा शोक संवेदनाओं की अभिव्यंजना रहती है।

यूरोप में किसी व्यक्ति की मृत्यु पर कुछ पेशेवर स्त्रियाँ बुलाई जाती हैं जो मृत व्यक्ति के गुणों का वर्णन करती हुई विलाप करती हैं। यह विलाप एक विशेष प्रकार की लय में बद्ध होता है।[4] इटली के दक्षिण भाग में भी इस प्रकार की प्रथा प्रचलित है। वहाँ भी मृत्यु के समय रोने के लिये किराये पर स्त्रियाँ आती हैं जो विशेष छन्द में शोक गीत गाती हैं।[5]

---

1. प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यात्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
   उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥
   —ऋग्वेद १०।१४।७
2. मदनेन विना कृता रतिः क्षणमात्रं किलम जीवतीति मे ।
   वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण । त्वामनुयामि यद्यपि ॥
   —कालिदास, कुमारसंभव
3. हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथ वत्सल ।
   त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः ॥
   त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ ।
   न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सव मङ्गला ॥
   —श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध अ० ४४, श्लोक ४४-४५
4. A Martirengo, The. Study of Folksongs. P. 271.
5. Maria Leech, Dictionary of Folklore, Vol. 2. P. 755

भारत में मृत्यु के अवसर पर स्त्रियों का विलाप सर्वत्र प्राप्त होता है। क्रन्दन युक्त स्वरों के साथ मृत व्यक्ति के गुण तथा परिवार की शोचनीय स्थिति का वर्णन भी वे करती हैं। इसी लयात्मक रुदन एवं भाषण को गीत कहा जा सकता है। इन गीतों के लिये कोई विशेष छन्द या राग का निर्धारण नहीं है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इन गीतों के विविध रूप प्राप्त होते हैं। वास्तव में इन गीतों को हृदय का शोकपूर्ण उद्‌गार मात्र कहना चाहिये।

भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों में, मृत्यु के समय गीत गाने की किसी विशेष प्रथा का प्रचलन नहीं है। प्रायः निम्न वर्ग की स्त्रियां मृत व्यक्ति के निकट बैठ कर जोर-जोर से रोती हैं और अपने रुदन में ही अनेक बातों को दोहराती हैं। मृत्यु के पश्चात् तेरहवें दिन मृत व्यक्ति का श्राद्ध होता है। जिसे 'तेरही' भी कहते हैं। इस अवसर पर ब्राह्मणों एवं कुटुम्बियों को भोज दिया जाता है। तेरही के दिन स्त्रियाँ अनेक गीत गाती हैं जिनमें निर्वेद भाव की प्रधानता होती है अवधी क्षेत्र में इस अवसर पर देवी के भजन गाये जाते हैं।

भोजपुरी प्रदेश में कुछ गीतों का प्रचलन है जिनमें मृत्यु की शोक संवेदना व्याप्त है। एक गीत में कोई स्त्री अपने पति के निधन से दुखी एवं व्याकुल होकर विलाप कर रही है—

> आइ के मउवतिया[1] गइल बा नियराई।
> हमरे संइया के करम त गइल फूटि॥
> फूटि गइल करम परीत[2] भइल खटिया।
> हमह रोवेनी सिरहान धइके पटिया॥
> कबहू ना छुवले बालम दूबियो के मटिया[3]।
> कबहू ना भइल हमरो बालम से संघतिया[4]॥
> हमरे सइयाँ के करम त गइले फूटि।
> एहि बीचे आइ के जम्मु[5] त लिहले लूटि॥

(भो० ग्रा० गी० पृ० ४३०)

किसी स्त्री का पति मर गया है। चारपाई पर पड़े पति के शव के निकट बैठ कर वह रो रही है। उसे अपने पति के असामय पर घोर दुख है, क्योंकि वह असमय ही मृत्यु के अधीन हो गया है। उसका पति से कभी सम्पूर्ण मिलन नहीं हुआ था, न उसने कभी पति की ओर से कोई यातना ही पाई थी। मन की समस्त आकांक्षाएँ अतृप्त रह गईं, कठोर मृत्यु ने सुख का संबल छीन लिया।

---

1. मौत।
2. प्रीति।
3. छुड़ी।
4. समागम।
5. यम।

इसी प्रकार की भावना से युक्त एक गीत अवधी क्षेत्र में भी उपलब्ध होता है—

कन्हैया बिरोगिन करि गये हमों,
    ससुरा की ओर ससुर समझावें।
        अरे बहुअर नाहिं तुम बिटिया हमारि।
का समझाओ ससुर तुम हमको,
        अरे हमी का जुगिया दुसह भई हमको।
घूँघट ओट रहे समुझावें
        अरे बहुआ नाहीं तुम बिटिया हमारि।
का समुझाओ जेठ तुम हमको
        अरे सोनिन माँग दुसह भई हमका।
गोदहि बैठि देवर समुझावें,
        अरे भाभी नाहीं तुम माता हमारि।
का समुझाओ देवर तुम हमको
        अरे सूनल सेज दुसह भई हमका।
माय औ बाबू अति समुझावें
        एक जनम बेटी सेज समाय।
का समुझाओ माय औ बाबू
        अरे पिया की छोह दुसह भई हमको।

(ह० लो० पृ० ३ ०-६१)

पति की मृत्यु के पश्चात् परिवार के समस्त व्यक्तियों का स्नेह पूर्ण आश्वासन इस विधवा स्त्री को प्राप्त होता है फिर भी उसके अभाव की पूर्ति नहीं होती। ससुर जेठ देवर माता-पिता सभी उसके कष्ट को दूर करना चाहते हैं किन्तु उस शोकाकुल स्त्री का दुःख कम नहीं होता वह जानती है कि परिवार के व्यक्तियों से सबकुछ मिल सकता है पर हाथ की हरी-हरी चुड़ियाँ माँग का लाल सिन्दूर, फूलों से सजी शय्या और पति का मधुर साहचर्य उसे अब कहीं नहीं मिल सकता।

इस गीत में एक विधवा स्त्री की आन्तरिक वेदना का हृदयग्राही निरूपण हुआ है।

मृत्यु की भीषणता से आतंकित स्त्री-पुरुषों के शोकोद्गार ही मृत्यु-गीतों के रूप में प्रकट होते हैं। मानवीय संवेदना के रूप में शोकोद्गार लोक-जीवन में सर्वत्र व्याप्त हैं पर गीतों की प्रथा के रूप में इनका अधिक प्रचलन नहीं है।

ऋतु सम्बन्धी गीत

प्रकृति के रमणीय संसार से लोकजीवन का विशेष सम्पर्क रहता है। नगर की संघर्ष एवं कोलाहलमयी सभ्यता से परे सामान्य ग्रामीण जनता प्रकृति के सुख-शान्तिमय वातावरण में अपने जीवन की श्रेष्ठतम निधि को उपलब्ध कर लेती है। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में लोकमानस का स्वतन्त्र साम्राज्य होता है। सूर्य की

हरी किरणें उनमें भावना के फूल खिलाती हैं। चन्द्रमा का सुधा-सिक्त प्रकाश उनमें कल्पनाओं का माधुर्य बिखेरता है और समीर के चचल झकोरे उसमें नवीन कामनाओं की तरगें उत्पन्न करते हैं। पावस का मेघाच्छादित आकाश जब नन्हीं-नन्हीं बूँदों से पृथ्वी का अचल भर देता है और मधुमास का उमड़ता हुआ सौरभ जब सम्पूर्ण वायु मण्डल में मादकता बिखेर देता है तब लोक कंठ पर अन्तर्तम की भावनाएँ मधुर गीतों के स्वर बनकर लहरा उठती हैं, ग्रीष्म के प्रचंड ताप से सतप्त प्राणी समुदाय में जब आकुलता का सचार होता है और शिशिर का शीतल प्राणों को प्रकम्पित कर देने वाली वायु जब सम्पूर्ण वातावरण में जड़ता का विस्तार कर देती है, उस समय भी लोक गीतों का गायक अपनी स्वर माधुरी में डूबा रहता है। प्रत्येक ऋतु उसके जीवन में मोहक प्रेरणा बनकर आती है और संगीत का सौन्दर्य भर देती है। प्रकृति का कण-कण लोकगीतकार के प्राणों को स्पन्दित करके नये-नये गीतों की सृष्टि करता है।

भारत में ६ ऋतुओं का आगमन होता है—(१) ग्रीष्म (२) वर्षा (३) शरद (४) शिशिर (५) हेमन्त (६) बसंत। लोकगीतों में इन ऋतुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। भोजपुरी एव अवधी क्षेत्रों के लोकगीतों में भी समस्त ऋतुओं के माध्यम से भावाभिव्यक्ति हुई है। ऋतु विषयक गीतों में स्त्री-पुरुषों की विभिन्न बाह्य एवं आन्तरिक स्थितियों का निरूपण प्राप्त होता है। उनमें एक ओर मन की अनेक रागानुरागमय भावनाएँ मुखरित हुई हैं, दूसरी ओर जीवन की सामान्य क्रियाओं का समावेश भी लक्षित होता है।

भोजपुरी और अवधी लोकगीतों को ऋतुओं के आधार पर निम्नांकित रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) वर्षा ऋतु के गीत
(२) बसन्त ऋतु के गीत
(३) ग्रीष्म ऋतु के गीत
(४) शिशिर ऋतु के गीत

इनमें भी जितना अधिक उल्लेख वर्षा एवं बसन्त ऋतु का प्राप्त होता है, उतना ग्रीष्म एवं शिशिर का नहीं। हेमन्त और शरद ऋतुओं पर पृथक् रूप से लोकगीत उपलब्ध नहीं होते हैं। प्रत्येक ऋतु पर लोकगीतकारों ने अपने-अपने ढंग से गीतों की रचना की है, इसलिये एक ऋतु-विशेष से सम्बन्धित लोकगीतों का क्षेत्र विस्तार-पूर्ण हो गया है। एक ही ऋतु में अनेक प्रकार के गीतों का गायन प्रचलित है।

प्रकृति के प्रांगण में ऋतुओं का पदार्पण होते ही लोक-गायक की वाणी में उत्साह एवं उमग से पूर्ण गीतों के छन्द नृत्य कर उठते हैं। प्रत्येक ऋतु के स्वागत में उसका हृदय भावनाओं की विशाल राशि से ओत-प्रोत मधुर संगीत बिखेरता है।

र्षा ऋतु के गीत

आकाश में काले-काले बादल घुमड़ रहे हैं, शीतल पवन के झकोरे उन्मादग्रस्त हृदय को मधुर आनन्द से भर देते हैं। प्रकृति की गोद में बसे छोटे-छोटे गाँवों की अमराइयों में, कृषक-कुमारियों के दल झूले की पेंगों के बीच गीतों का माधुर्य बिखेर रहे हैं। परदेशी प्रियतम की स्मृतियों में डूबी कोई विरहिणी नव वधू अपने हृदय की सम्पूर्ण वेदना ले कर विरह के आकुल स्वरों में खोई हुई है। सुदूर आकाश में दौड़ते हुए [illegible] मेघों के द्वारा वह अपने प्रियतम को प्यार का संदेश भेजती है। धान के हरे-भरे खेतों के बीच प्रसन्न स्त्रियाँ नन्हीं-नन्हीं बूंदों को तान कर मधुर गीतों की बौछार कर रही है। हल लेकर आते हुए किसान और ढोर चराते हुए बालक—सभी सावन के उन्मादपूर्ण वातावरण को गीतों के माधुर्य से भर देना चाहते हैं।

वर्षा ऋतु में गाये जाने वाले गीतों का निम्नांकित श्रेणी-विभाजन किया जा सकता है—

(१) सावन या झूले के गीत
(२) चौमासा
(३) बारहमासा
(४) कजली
(५) मोहनी या निरबाही के गीत
(६) रोपनी के गीत
(७) उबका

सावन या झूले के गीत—

सावन का महीना वर्षा-काल के चार महीनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस ऋतु में स्त्रियाँ सावन और झूले के गीत ही अधिक गाती हैं। सावन के गीतों में अनेक प्रकार की मनोभावनाओं की अभिव्यंजना प्राप्त होती है।

सावन के महीने में, सुसराल में रहने वाली कन्याएं अपने-अपने मायके आ जाती हैं। सभी माता-पिता इस महीने में अपनी पुत्रियों को अपने पास बुला लेते हैं। इसका पहला कारण सावन के महीने में होने वाला 'रक्षा-बन्धन' का त्योहार है जिसमें प्रत्येक बहिन अपने भाई के राखी बांधती है। इस शुभ पर्व पर भाई-बहिन साथ रह सकें, इसलिये कन्याओं के ससुराल से मायके आने की प्रथा प्रचलित हो गई है। दूसरा कारण, सावन का महीना स्त्रियों को हर्षोल्लास एवं क्रीडा-विनोद का महीना है। सहेलियों के समूह में झूला झूलना, हँसना-खेलना, गीत-गाना जितनी स्वच्छन्दता से मायके में हो सकता है, ससुराल में नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक कन्या सावन के महीने शैशव की मधुर स्मृतियों के वेग से अपने मायके में आने की तीव्र इच्छा-उत्कण्ठा रखती है।

एक भोजपुरी गीत में मायके जाने के लिये आकुल कन्या की व्यथा प्रकट हो रही है—

माई नलवा-मे कुहुके मोर।
माई जेठवा भइअवा पति पठएउ हो मावन निअराय।
माई मार बहनोइया छोड़ि है एक मावन निअराय।
माई ववना के पूतवा जनि भेजिह मावन निअराय।
माई गोथिया पोंचत बाभि भाई मावन निअराय।
माई लहुरा भइअवा मोहि पठएउ मावन निअराय।
माई गोद माइ बिरवा क छूटे मावन निअराय॥

(भो० ग्रा० गी० १म) पृ० ४६८-६५.

ससुराल के बन्धनों मे आवद्ध स्त्री अपनी माता के पास संदेश भेज रही है कि वह विदा कराने के लिये बड़े भाई को न भेजे क्योंकि साले 'बहनोई' मिलकर एक हो जाएंगे और विदाई रुक जायगी। ब्राह्मण को भी नही भेजे क्योंकि वह पोथी पत्रों मे ही उलझा रहेगा और विदा के लिये कोई प्रयास नही कर पायेगा। छोटे भाई को भेजना ही उपयुक्त है, क्योंकि वह रो-धो कर ससुराल वालों को विदा करने के लिये राजी कर लेगा।

इसी प्रकार की भावनाओं से युक्त एक अवधी गीत है जिसमें छोटे भाई को ही विदा कराने मे समर्थ सिद्ध किया गया है—

हरे-हरे बांस की बेनिया माया पठै दीन्हो लागत असाढ रे।
नौआ हाथे न पठयो ओहिका नवई करत दिन जाय रे।
बरिया हाथे जनि पठयो वोहि का पतरी खेलत दिन जाय रे।
जेठे भैया हाथे ना पठयो उनके बीच बसे ससुरारि रे।
छोटे भैया हाथे पठयो उइ तो रोई धोई लै जाय रे॥

(अ० लो० प०) पृ० २८६.

एक स्त्री असाढ के महीने मे ही विदा कराने के लिये अपने छोटे भाई को बुलाने का सन्देश भेज रही है। वह अपनी माता से अनुरोध करती है कि हरे-हरे बांस की पंखी बनाकर छोटे भाई के हाथ भेज दे। पंखी देने के बहाने आकर वह हठ पूर्वक ससुराल वालो को विदा के लिये तय्यार कर लेगा। भाई, बारी तथा बड़े भाई को न भेजने का भी वह अनुरोध करती है, क्योंकि नाई हजामत बनाने मे, बारी पत्तल बनाने मे और बड़े भाई बीच पड़ने वाली अपनी ससुराल मे उलझे रहेंगे और विदाई रुक जायगी।

भोजपुरी और अवधी दोनों गीतो मे, मायके जाने के लिये उत्सुक उस स्त्री की विवशता का चित्रण किया गया है जो ससुराल वालो के कठोर नियंत्रण में आबद्ध है।

कभी-कभी स्त्रियाँ अत्यधिक चेष्टा करने पर भी माता-पिता के घर नहीं पहुंच पाती हैं। उनकी अभिलाषाएं मन के एक कोने मे निराशाघात से पीड़ित सिसकती रह जाती हैं। ऐसी स्थिति मे अपनी ससुराल की सखियो के साथ ही

अवधी क्षेत्र में प्रचलित बारहमासा में भी विरहानुभूतियों का मार्मिक प्रभाव लक्षित होता है—

तपत रहिउ मधुबन की डगरिया,
कोउ नहीं सूझि परे सजनी ।
लागो असाढ़ चहुँ दिसि बरसै,
भरि आये ताल नदिया सगरी ।
ठाढ़ी सोच करैं ब्रज बाला,
कुबरी सौतिया सो अब न बनी ।
सावन सखियाँ चले हैं हिंडोला,
चुनि-चुनि मोतियन माँग भरी ।
सुन जो कह्यो हरि अइहैं बिरिज मों,
अजहुँ न आये मोरे श्याम धनी ।
क्वारे श्याम हमें छल कीन्हा,
प्रीत करी उन कुबजा से ।
तुम नँदलाल जनम के कपटी,
इतना कपट कियो हमसे ।
कातिक निरमल उगे हैं चन्दरमा,
रैन लगै मसार भली ।
जइसे तारा छिटके गगन मा,
चन्द्र चकोर ऐसी मैं जो बनी ।
अगहन सखियाँ चीर पहिन कै ।
अपनी अपनी सेजै गईं ।
डार गले बहियाँ स्वावें बलम के ।
उनकी कथा सुख नींद बनी ।
पूस की रैन हमैं नहि भावै,
सुनि सुनि पिया की वियोग भरी ।
ऐसे निरमोहिया का कोउ समुझावै,
खाय कै कनी मर जाव नहीं ।
माह की रैन उन्हें भावै सजनी,
जिनके पिया नित घर हो रहैं ।
आली री बसन्त मैं कइसे मनाओ,
हमरे पिया परदेस गये ।
फागुन मा फरकन लागी अंखिया,
अब कछु आगम जान परै ।
सावनि के सगुन बिचारो मोर ननदी,
पिया आवन की कौन घरी ।
चैत मास बन फूले हैं टेसू,
ऊधो लिखी घर आवन की ।
अजहुँ न आए माई किन बेलमाये,

यहे अंदेसा लागि रही ।
बैसाख मास बयस भारी भारी,
आपु न आये स्वामी मधुबन से ।
राति बिराति मों बिरहा सतावै ।
बिरहा की हूक लगी तन मे ।
जेठ मास एकु रथ हम दीखा,
पवन के संग उड़ात भलो ।
सूर श्याम प्रभु हरि के मिलन को,
सखियां मंगल गाय रहीं । (लोक रागिनी पृ० १०७-८)

इस गीत मे गोपियो की विरह-वेदना का निरूपण हुआ है । कृष्ण के वियोग मे दुःखी एक गोपी अन्य सखी से अपनी व्यथा का वर्णन कर रही है । वियोगिनी गोपिका मधुवन की राह ताकती रही, पर कोई भी उसे दिखाई नहीं दिया । आसाढ का महीना लग गया, चारो ओर वर्षा होने लगी, सरोवर एवं सरिताओं मे ज्वार आ गया । गोपी को विश्वास था कि पावस के आरम्भ मे कृष्ण अवश्य आ जायेंगे, परन्तु वे न आये । कुब्जा की जीत हो गई जिसने कृष्ण को उलझा रक्खा है । सावन के महीने में सखियो ने झूले डाले मोतियो से मांग भरी और झूला झूलने चल पड़ी । बिरहिणी गोपी को आशा थी कि इस अवसर पर कृष्ण आयेंगे पर यह आशा भी [illegible] ीत गया । छली कृष्ण ने कुब्जा [illegible] ो को संतप्त कर देता है । कार्तिक [illegible] ंसार आनन्द मग्न है । आकाश मे [illegible] की छवि देखती हुई वह विरहिणी [illegible] । अगहन की शीतल रात्रि में सभी सखियाँ अपने अपने प्रियतम के गले मे बाहें डाले सुखद निद्रा मे लीन है परन्तु विरह-पीड़िता गोपी अभाव की वेदना मे डूबी हुई है । उसकी आंखो मे नींद नहीं है, उसके जीवन मे केवल दुःख है, सुख का लेश भी नहीं है । पौष महीने की रात मे, वियोगिनी का कष्ट असाध्य हो उठा है । अब उससे विछोह सहा नहीं जाता । कृष्ण के अभाव मे वह आत्मघात कर लेना चाहती है । माघ का महीना भी कष्टों से घिरा हुआ है । जिन्हे अपने स्वामी का सम्पर्क प्राप्त है, उन्ही के लिये यह महीना सुखद है । सर्वत्र बसन्तागमन का हर्ष मनाया जा रहा है परन्तु वियोगिनी स्त्री के लिये बसन्त का वरद स्वरूप अभिशाप बन कर आया है । फागुन के महीने मे प्रियतम के आने की आशा दृढ़ हो उठी है । आंख फड़क रही है शुभ शकुन हो रहे हैं । चैत के महीने म प्रियतम का आगमन सूचक पत्र आया है । हर्षोन्मत्त वियोगिनी प्रकृति मे फूले पलाश के सौन्दर्य मे खोजाना चाहती है । संदेश पाकर प्रतीक्षा की घड़ियां और अधिक बोझिल बन गई है, आने की सूचना भेज कर भी अभी तक कृष्ण नहीं आये—न जाने किसने उन्हे रोक लिया है । बैशाख का महीना आगया, नव यौवना बिरहिणी प्रतीक्षा मे लीन है, अभी तक कृष्ण नहीं आए हैं । बिरह की कसक मन को दिन-रात तड़पाती है । जेठ के महीने मे प्रतीक्षाकुल वियोगिनी सुदूर पथ पर आता हुआ एक रथ देखती है, जिसमें उसके प्रियतम बैठे हैं । उसका हृदय मिलन की उमंग मे मंगल गान गा उठता है । [illegible]

भोजपुरी बारहमासा में आद्योपान्त वहन वेदना का प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु अवधी बारहमासा में वियोग का दुःख मिलन के सुख में परिणत हो जाता है। बारहमासा का आरम्भ किसी भी महीने से किया जा सकता है।

क..सी—

सावन-भादों के महीने में 'कजली' नामक गीतों को गाने की प्रथा भोजपुरी और अवधी—दोनों प्रदेशों में है। काले-काले बादल आकाश में घिर आते हैं, हल्की-हल्की बूंदों से पृथ्वी तल भर जाता है, हरे-भरे वृक्षों की शोभा चारों ओर फैल जाती है। ऐसे सुहावने मौसम में स्त्री-पुरुषों के हृदय उमंग में भरकर मधुर गीतों को गुंजना में खो जाते हैं। सर्वत्र 'कजली' की सरस ध्वनि सुनायी देती है।

'कजली' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए विद्वानों ने सावन के काले-काले बादलों को मूल कारण माना है। काले-काले बादलों के मौसम में गाये जाने वाले गीत 'कजली' कहलाये। परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस नामकरण का कारण देते हुए एक कथा का उल्लेख किया है। मध्यभारत में दादूराय नामक एक राजा था। जिसके राज्य में एक बार भीषण अकाल पड़ा। उस समय राजा ने देवशक्ति के बल पर पानी बरसाया, जिससे वह अधिक लोकप्रिय हो गया। कुछ समय बाद राजा का देहान्त हो गया। उसकी पत्नी नागमती भी उसके साथ सती हो गयी। राजा और रानी के अभाव में दुःख व्यक्त करने के लिए, उस राज्य की स्त्रियों ने 'कजली' नामक नए राग की सृष्टि की, क्योंकि उसे गाते समय आंखों के आंसुओं से काजल तक धुल जाता था। भारतेन्दु ने इस सन्दर्भ में दो अन्य कारणों की कल्पना भी की है—

(१) दादूराय के राज्य में 'कजली' नामक वन था अतः उसके आधार पर इन गीतों का नाम 'कजली' पड़ा।

(२) श्रावण-भादों की शुक्ल पक्ष की तीज का नाम कजली तीज है। उस दिन कजली बहुत गायी जाती है। अतएव उसके आधार पर ही, इस दिन गाये जाने वाले गीतों का नाम कजली पड़ गया।[1]

भोजपुरी क्षेत्र में सावन के महीने में कजली गाने की बड़ी प्रथा है। प्रायः प्रत्येक गांव में तालाब के किनारे बागों में, घरों में झूले पड़ते हैं और स्त्रियों का समूह झूला झूलते हुए कजली गाता है। मिर्जापुर की कजली प्रख्यात है—

नीमा राम नगर की नारी,
कजली मिर्जापुर सरदार।

यहां कजली के दंगल हुआ करते हैं जिसमें दो गाने वाली पार्टियां भाग लेती हैं। रात भर कजली गायी जाती है अन्त में विजयी पार्टी को पुरस्कार प्राप्त होता है।

कजली का वर्ण्य विषय शृंगार है। यद्यपि शृंगार के दोनों पक्षों की झलक इन गीतों में रहती है, तथापि संयोग शृंगार ही प्रमुख रहता है। विप्रलम्भ के भाव से

1. डा० ग्रियर्सन, ज० ए० सो० बं० भाग २३, खण्ड १ (१८८४) पृ० २१३

पूर्ण गीतों मे करुणा की मार्मिकता रहती है। कहीं-कहीं पवित्रता के प्रेम का वर्णन, ननद भावज का पारस्परिक परिहास भी प्राप्त होता है।

भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित एक कजली में राधा-कृष्ण के संयोग-सुख की अभिव्यक्ति हुई है—

झुलना झूले राधा प्यारी संग मे कृष्ण मुरारी ना ॥१॥
कथि के पालाना कथि के डोरी कथिके गदिया ना ॥२॥
सोने के पालाना रेशम के डोरी, चनन के गदिया ना ॥३॥
एक ओर झूले राधिका प्यारी एक ओर कृष्ण मुरारी ना ॥४॥

(भो० ग्रा० गी०) पृ० १७९

चन्दन के वृक्ष मे रेशम की डोर से युक्त सोने का झूला पड़ा है जिस पर राधा और कृष्ण झूल रहे हैं।

जब झूलती हुई स्त्रियाँ कल कंठ से इस गीत को गाती हैं तो वातावरण मधुरता से भर जाता है।

संयोग की मधुरता के साथ ही वियोग की मार्मिकता का भी बड़ा सरस चित्रण इन गीतों मे प्राप्त होता है।

एक भोजपुरी कजली मे, स्वागत की विभिन्न तय्यारियों के साथ एक पत्नी अपने पति की प्रतीक्षा कर रही है पर वह आता नहीं है—

हरि हरि कहां बदे तुम रात कहाँ रहि जाल ए हरी ॥
सोने के थारी में जेवना परोसलों हरि हरि जेवना लिये हम ठाढ़ि,
कहाँ रहि जाल ए हरी ॥१॥
भाझर गेडुआ गंगाजल पानी, हरि हरि पनिया लिए हम ठाढ़ि,
कहाँ रहि जाल ए हरी ॥२॥
लौंगा में डोमि डोमि बिरवा लगवलो हरि हरि बिरवा लिये हम ठाढ़ि,
कहाँ रहि जाल ए हरी ॥३॥
फूल नेवारी क सेजिया डसवलों हरि हरि सेजिया लिये हम ठाढ़ि,
कहाँ रहि जाल ए हरी ॥४॥

(भो० लो० क० रस) पृ० ४००

प्रतीक्षा में लीन एक स्त्री सोने की थाली में भोजन लगाकर गेडुए में गंगाजल लेकर पानों का बीड़ा सजाकर रात भर खड़ी रहती है पर उसका पति नहीं आता। फूलों की शय्या के निकट वह रात भर जाग कर उसके आने की राह देखता है पर अन्त में केवल निराशा ही मिलती है। पता नहीं किसने उसके प्रियतम को उलझा लिया है।

अवधी क्षेत्र में प्रचलित एक कजली मे भी पति के वियोग मे पीड़ित स्त्री की मनोव्यथा का सुन्दर चित्रण हुआ है—

मोहे भावे ना सावनवा बिन साजनवा रे हारी ।
जइसे कमल बिन नदिया सूनी, वयसय सूना मोर जियरवा,
बिन साजनवा रे हारी ।
जइसे जल बिन मछली तड़पे, वयसय तड़पे मोर जियरवा,
बिन साजनवा रे हारी ।
जइसे बसन्त बिन कोयल कूकय, वय य कुकै मोर जियरवा,
बिन साजनवा रे हारी ।

(लोक रागिनी) पृ० ७६

प्रियतम के बिना सावन का महीना भी भला नहीं लगता। जैसे कमल के बिना नदी सूनी रहती है, वैसे ही प्रियतम के बिना स्त्री का हृदय सूना रहता है। जल के अभाव में जैसे मछली तड़पती है वैसे ही पति वियुक्त स्त्री तड़प रही है। बसन्त ऋतु के बिना कोयल जिस प्रकार दुःखी होकर कूकती है, वैसे ही विरहिणी स्त्री के हृदय से प्रियतम की पुकार निकल रही है।

कजली में हास-परिहास के भी अनेक विनोद पूर्ण विषय प्राप्त होते हैं। कहीं ननद-भावज का पारस्परिक मनोरंजन हो रहा है, कहीं पति-पत्नी की मान-क्रीडा चल रही है, कहीं सास के प्रति बहू के मनोरंजक उद्‌गार प्राप्त होते हैं और कहीं देवर के द्वारा भाभी के साथ मधुर परिहास का उल्लेख मिलता है।

एक भोजपुरी कजली में पति के विदेश जाते समय पत्नी रूठ कर मायके जाना चाहती है और इस प्रसंग में दोनों के मध्य एक मधुर विवाद छिड़ जाता है--

रुनझुन खोल ना केवड़िया, हम बिदेसवा जइबो ना।
जो मोरे सइयाँ तुहू जइब विदेसवा, तू विदेसवा जइबो ना।
हमरा भइया के बोलाव हम नइहरवा जइबो ना ॥१॥
जो मोर धनिया तुहू जइबू नइहरवा, नइहरवा जइहू ना।
जतना लागल बा रुपैया, ओतना देइ के जइहू ना ॥२॥
जो मोरे सइयां तुहू लेब रुपैया, तू रुपैया लेब ना।
जइसन बाबा घर रहलीं ओइसन करके दीहू ना ॥३॥

(भो० ग्रा० गी० पृ० १ ७)

पति विदेश जाना चाहता है परन्तु पत्नी ने दरवाजा बन्द कर दिया है। वह पति से रूठ कर अपने मायके जाने का हठ करती है। इस पर पति, विवाह में तथा विवाह के पश्चात् पत्नी पर किये गये खर्च के सब रुपये माँगता है। पत्नी भी हार नहीं मानती और रुपये देने के पहले अपने उसी रूप में पाने की माँग करती है जो विवाह के पूर्व था। पति-पत्नी का यह परिहास अत्यन्त मधुर है।

अवधी में भी मनोरंजक विषयों का अभाव नहीं है। एक बहू के शब्दों में सास का मनोरंजक स्वरूप इस गीत में वर्णित है—

बूढ़ा बढ़ो जहर कै कूढ़ा वाइस रोटी भटकै जाय।
ऊँचे खाले से मिट्टी लाई चूल्हा लिहेँ बनवाइ।

कठवनि भरिकै पिसान सानइ कोंचा लिहेनि पकाइ ।।बूढ़ा।।
हांडी भरि के दाल पकाई नून जहर होइ जाइ ।
दुइ दुइ रोटी मुंह में ठुंसइ उंटिया अस पगुराइ ।।बूढ़ा०।।
इन्द्रपुरी से बिमान आये बैठी प्रेम लगाइ ।
जम के दूत आइ जब घेरे बूढ़ा दिहीं मुंह बाय ।।बूढ़ा०।।

(क० कौ० पृ० ६५६)

स्पष्ट है, यह गीत केवल मनोरंजन के उद्देश्य से ही बनाया गया है ।

कजली गीतों का प्रचार अवधी क्षेत्र की अपेक्षा भोजपुरी क्षेत्र में अधिक है । मधुर राग से युक्त ये गीत वहां के स्त्री-पुरुषों के कंठ पर दिन-रात तैरते रहते हैं ।

सोहनी या निरवाही के गीत—

सावन के महीने में सर्वत्र प्रकृति की हरीतिमा बिखरी रहती है । खेत, जंगल, पर्वत सब हरे-भरे हो जाते हैं । आसाढ़ के महीने में बोये गये खेतों में जब पौधे निकल आते हैं तब आवश्यक पौधों के विकास में बाधक अन्य पौधे व घास फूस उखाड़ कर अलग कर दिये जाते हैं । इस क्रिया को 'सोहनी' या 'निरवाही' कहते हैं । कहीं-कहीं इसे 'निराना' भी कहा जाता है । निरवाही करते समय स्त्रियां जिन गीतों को गाती है उन्हें निरवाही के गीत कहा जाता है । निरवाही का कार्य अधिकतर चमारिन करती हैं । अतः मुख्य रूप से ये भी चमारिनों के ही समझे जाने चाहिए ।[1]

इन गीतों के साथ एक संक्षिप्त कथानक रहता है जिससे ये गीत अपेक्षाकृत दीर्घ आकार रखते हैं । इन गीतों का वर्ण्य-विषय मुगलों का अत्याचार, मुगलों के अत्याचार से किसी अबला का उद्धार, सास द्वारा, बहू के प्रति दुर्व्यवहार, पति पत्नी संघर्ष एवं सपत्नीक-ईर्ष्या-भाव आदि रहता है ।

निरवाही के गीतों का प्रचार भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों में समान रूप से है । प्रायः ये गीत श्रम-परिहार के निमित्त गाये जाते हैं ।

भोजपुरी क्षेत्र का एक अत्यन्त लोकप्रिय गीत है जिसमें एक सती-साध्वी स्त्री का साहसपूर्ण बलिदान वर्णित हुआ है—

अपने ओसरे रे कुसुमा झारे लम्बी केसिया रे ना ।
रामा तुरुक नजरिया पड़ि गइले रे ना ।।१।।
घाउ तुहूं नयका रे धाउ तुहूं पयका रे ना ।
रामा जैसिंह क करि लै आवउ रे ना ।।२।।
जौ तुहूं जैसिंह राज पाट चाहउ रे ना ।
जैसिंह अपनी बहिनि हमका व्याहउ रे ना ।।३।।
अतना बचन सुनि घरवा सवटेलनि रे ना ।
जैसिंह गोडे मूडे तनिननि चदरिया रे ना ।।४।।

---

1. पं० रामनरेश त्रिपाठी, कविता-कौमुदी (तीसरा भाग पृ० ५५६)

बइठि अगावरहिं कुसुमा बहिनिया रे ना।
भइया तोरा धरमवा नाहीं जइहैं रे ना ॥५॥
उठहु भइया रे करहु रसुइनिया रे ना।
भइया तोर पति रामे भगनवा रे ना ॥६॥
जो तुहूँ मिरजा रे हमहिं लोभानेउ रे ना।
मिर्जा बाबा के मउवा मुहवा बकसहु रे ना ॥७॥
हँसि हँसि मिरजा मउवा मुहवा बकसे रे ना।
रामा रोइ रोइ चिलमे कुसुमा के बाबा रे-ना ॥८॥
जो तुहूँ मिरजा रे हमहीं लुभानेउ रे ना।
मिरजा चाचा जोगे हथिया बेसाहो रे ना ॥९॥
हँसि हँसि मिरजा रे हथिया बेसाहेसे रे ना।
रामा रोइ रोइ चढ़े कुसुमा के काका रे ना ॥१०॥
जो तुहूँ मिरजा रे हमहिं लुभानेउ रे ना।
मिरजा भैया जोगे घोड़वा बेसाहे रे ना ॥११॥
हँसि हँसि मिरजा रे घोड़वा बेसाहे रे ना।
रामा रोइ रोइ चढ़ै कुसुमा के भैया रे ना ॥१२॥
जो तुहूँ मिरजा रे हमहिं लुभानेउ रे ना।
मिरजा तिरिया जोगे गहना गढ़ावहु रे ना ॥१३॥
हँसि हँसि मिरजा गहना गढ़ावहु रे ना।
रामा रोइ रोइ पहिरे कुसुमा के भउजी रे ना ॥१४॥
जो तुहूँ मिरजा रे हमहिं लोभानेउ रे ना।
मिरजा चेरिया जोगे चुनरी रंगावहु रे ना ॥१५॥
हँसि हँसि मिरजा रे चुनरी रंगवाइ रे ना।
रामा रोइ रोइ पहिरे कुसुमा के चेरिया रे ना ॥१६॥
एक कोसे गइली दूसर कोस गइली रे ना।
रामा तीसरे में लागी पियसिया रे ना ॥१७॥
एतही में कुइयाँ खोनइबो मोगी धनिया रे ना।
धनिया पियहु गेडुअवा ठंढा पानी रे ना ॥१८॥
तोहरे नगरवा धनिया नित उठि पीअबों रे ना।
मिरजा बाबा क नगरवा दुर्लभ होइहैं रे ना ॥१९॥
एक घोंट पीअली दूसर घोंट पीअली रे ना।
रामा तिसरे में भइली मरदोरवा रे ना ॥२०॥ (भो.लो.क. पृ ४२३-२४-२६)

इस गीत में कुसुमी नामक साहसी राजपूत युवती का उत्कृष्ट चरित्र अंकित हुआ है। एक बार वह अपने घर के ओसारे में केश सवार रही थी तभी एक तुर्क की दृष्टि उस पर पड़ी और वह मोहित हो गया। उस तुर्क ने कुसुमी के भाई जयसिंह को बुला कर बहन का विवाह उससे कर देने का आदेश दिया। यह सुन कर जयसिंह दुःखी हो गया परन्तु कुसुमी ने अपनी पवित्रता का विश्वास दिला कर उसे आश्वस्त किया। चतुर कुसुमी ने तुर्क से अपने बाबा, चाचा, भाई आदि के लिए धन-सम्पत्ति, हाथी, घोड़े माँग लिये फिर तुर्क के साथ चल पड़ी। राह में प्यास लगने

पर उसने अपने पिता के बनवाये हुए सरोवर में अन्तिम बार पानी पीने की इच्छा प्रकट की। तुर्क ने अनुमति दे दी। पवित्र कुसुमी ने अपने पिता के सरोवर से दो बूंद पानी पिया और सदा के लिये उसमें लीन हो गई।

इस गीत की समालोचना करते हुए पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है—घटना सत्य जान पड़ती है क्योंकि उत्तर प्रदेश और बिहार दोनों प्रान्तों में इस घटना को लेकर गीत रचे गये हैं। और मेल लिखते समय अब भी मजदूरिनें इस गीत को गा-गाकर भगवती कुसुमा के सतीत्व-रक्षा की महिमा हिन्दू-कन्याओं को सुनाया करती हैं।[1] त्रिपाठी जी का विचार पूर्णतः सत्य है, क्योंकि भोजपुरी और अवधी क्षेत्र में प्रचलित अनेक गीत हैं जिनमें पात्रों के नामभेद के साथ उपर्युक्त घटना का उल्लेख हुआ है।

अवधी क्षेत्र में उपलब्ध एक गीत में धर्म-निष्ठा वधू का चित्रण प्राप्त होता होता है जो अपने जेठ की कुदृष्टि से बचने के लिये प्राणों का बलिदान कर देती है।

ऊंची अटारी उरेही चित्रसारी हो ना।
रामा किन धन पुतरी उरेछा हो ना ॥१॥
लहुरी पतोहिया पूता तोरी मेहो हो ना।
रामा उन धन पुतरी उरेछ हो ना ॥२॥
इतना बचन जब सुने राजा जेठवा हो ना।
रामा गोड़े पड़े लानेनि दुपटवा हो ना। ३॥
उठो न पूता मोरे हाथ मुंह धोवउ हो ना।
रामा खाय लेहु दुधवा औ भतवा हो ना ॥४॥
कैसे के सैंया मोरी हाथ मुंह धोई हो ना।
मैया लहुरी पतोहिया मन बसी हो ना ॥५॥
लहुरी पतोहिया पूता भयहो हो ना।
रामा वह तो तिलंगवा की जोइया हो ना ॥६॥
लै आवो छोटका ढाल तरवरिया हो ना।
छोटे भइया के खबरिया हम जावें हो ना ॥७॥
लइ लेहु जेठा ढाल तरवरिया हो ना।
जेठा हम तो बाटी राम रसोइया हो ना ॥८॥
एक बन गइले दूसरे बन गइने हो ना।
रामा तिसरे में भइया के फउजिया हो ना ॥९॥
मोको न भैया मेरे मुख को निदरिया हो ना।
भइया तुम्हारा पहरवा हम देवै हो ना ॥१०॥
सोने लागी जुड़ली बयरिया हो ना।
रामा आइ गई मुख की निदरिया हो ना ॥११॥
रामा हने लागे भैया के करेजवा हो ना।
जेठा सग भइया मारि घर लौटे हो ना ॥१२॥

1. पं० रामनरेश त्रिपाठी कविता-कौमुदी (पाँचवां भाग पृ०-५७६)

अंगने हो कि भितरे हो छोटका हो ना।
रामा खोलि देहु चंदन केवरिया हो ना ॥१३॥
कहवा मारेउ जेठा कहवा ढकेलेउ हो ना।
जेठा कहवा के चोलिहु महरानी हो ना ॥१४॥
ऊंचे मारेउं ममवा ढकेलेहु हो ना।
रामा मग्गे खिड़िकिया मेहरानी हो ना ॥१५॥
तुम्हें छोड़ि जेठा न और क होवे हो ना।
जेठा हरि जो के कोथिया मगाओ हो ना ॥१६॥
तुम्हें छाड़ि जेठा न और क होवे हो ना।
जेठा चन्दन पहनिया चिराबउ हो ना ॥१७॥
तुम्हें छाड़ि जेठा न और क होवे हो ना।
जेठा नगर के चिरना मगावउ हो ना ॥१८॥
तुम्हें छाड़ि जेठा न और क होवे हो ना।
जेठा रचि रचि मरा रोपाउहु हो ना ॥१९॥
रामा जो हम होव मनवती हो ना।
मोरे अंचरा भभकि उठे अगिया हो ना ॥२०॥
बरे लागी लकड़ी भसम भई छोटका हो ना।
रामा जेठवा मिसे दूनो हथवा हो ना ॥२१॥
जो हम जनत्यो छोटका इतना छल करबिउ हो ना।
रामा काहे मरतेउं मग भइया हो ना ॥२२॥

(क० कौ० पृ० ५८०-८१)

घर के ऊपरी कक्ष में सुन्दर चित्रशाला है जिसमें नवीन चित्र बनाया गया है। घर का ज्येष्ठ पुत्र उस चित्र को देख कर मुग्ध हो जाता है। जब उसे माँ के द्वारा ज्ञात होता है कि वह चित्र उसके छोटे भाई की पत्नी ने बनया है तो वह उस पर अनुरक्त हो जाता है। माँ के द्वारा विघ्न डालने पर वह ढाल-तलवार लेकर, क्रोध में अपने भाई की हत्या कर आता है। जो व्यक्ति माँ की अवज्ञा कर सकता है, छोटे भाई का वध कर सकता है, उससे जीतने का उपाय वह पवित्र गृह-वधू जानती है। जेठ को अपना जीवन समर्पित करने के भ्रम में डालकर वह अपने पति का शव मंगाती है तथा चन्दन की चिता तय्यार करवाती है। चिता का पूर्ण प्रबन्ध होने के पश्चात वह साध्वी स्त्री अपने पति का ध्यान धारण करती हुई चिता के निकट खड़ी होती है। सहसा उसके अंचल में आग भभक उठती है। चन्दन की चिता पर पति के शव के साथ ही वह स्वयं भी भस्म हो जाती है। पापनिष्ठ जेठ के लिये केवल पश्चाताप ही शेष रह जाता है।

इन गीतों में भारतीय नारी के सतीत्व की महिमा अर्जित होती है। सती स्त्री की अमोघ शक्ति के समक्ष अधर्म और पाप सदैव पराजित हुए हैं।

रोपनी—

रोपनी के गीत भी कथानक युक्त होते हैं। ये कथायें प्रायः शृंगार-प्रधान होती हैं। कहीं उच्च वर्ण की स्त्री का निम्न वर्ण के पुरुष से प्रेम-निवेदन, कहीं निम्न

वर्ग की स्त्री से किसी राजा का प्रेम सम्बन्ध, कहीं भावज-देवर का अनुचित सम्बन्ध और कहीं आदर्श पतिव्रता नारी का आत्म-बलिदान इन गीतों के माध्यम से वर्णित हुआ है।

एक भोजपुरी गीत में एक पति-वियोगिनी स्त्री के उज्ज्वल एवं पवित्र चरित्र का सुन्दर प्रकाशन हुआ है—

आम महुअवा के घनी रे बगिया।
  ताहि बीचे राह लागि गइले हो राम ॥१॥
ताहि तर ठाढ़ भइली एक रे सोहागिनि।
  नयना से निर्वा ढोर हो राम ॥२॥
बाट के चलत बटोहिया पूछे काहे तुहु ठाढ़।
  केकर जो/सू तू बहिरा नयन नीर ढारे हो राम ॥३॥
सोहर नियर मोर पातर बलमुआ।
  उनुकर बाट खाड़ा जोहे हो राम ॥४॥
लेहु न सावरि डाल भरि सोनवा।
  छोड़ परदेसिया के आस हो राम ॥५॥
आगि लगइबो मे डाल भरि सोनवा।
  करबो परदेसिया के आस हो राम ॥६॥
कबही न लवटीहैं मोर बनिजरवा।
  पनही मे तोहि पिटइबो हो राम ॥७॥

(भो० ग्रा० गी० पृ० २६३-६४)

एक वियोगिनी स्त्री आम और महुआ के बाग में खड़ी-खड़ी अपने परदेसी पति के आने की बाट जोह रही है। उसकी आंखो से आँसू झर रहे हैं। एक बटोही ने उसे रोते हुए देख कर पूछा कि आंखो मे आसू लिये वह किसकी प्रतीक्षा कर रही है। प्रतीक्षा का कारण जानने के पश्चात् वह बटोही स्वर्ण का प्रलोभन देकर उस स्त्री को अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। वह सती-साध्वी स्त्री उसकी इस पाप-चेष्टा का आक्रोशपूर्ण प्रतिकार करती है। पति के प्रति एक निष्ठ प्रेम की व्यंजना करती हुई वह कहती है—

'आगि लगइबो मे डाल भरि सोनवा,
  करबो परदेसिया के आस हो राम।'

अवधी बोली के एक गीत में भी परदेसी पति के प्रति वियोगिनी स्त्री की एकनिष्ठता का वर्णन हुआ है—

कौनी उमिरिया सासु निमिया लगायेनि रे ना।
सासु कौनी उमिरिया गै बिदेसवा रे ना ॥१॥
खेलत कूदत बहुअरि निमिया लगायेनि रे ना।
बहुअरि मोछिया भिनत गै बिदेसवा रे ना ॥२॥
फरै लागी निमिया लहासैं लागी डरिया रे ना।

साध् तबहूं न लौटे तोर बिदेसिया रे ना ॥३॥
बरहे बरिसवा प लौटे परदेसिया रे ना ।
रामा ठाढ़ भये जूड़ी जूड़ो छैहो रे ना ॥४॥

× × ×

चूवे पनिया दिहिउ मोरो माई रे ना ।
रामा चूवें चूवें दिहिउ जववबा रे ना ॥१२॥
आप दूप जिनि रहिउ माई रे ना ।
माई फिरि हम सासुर जावें रे ना ॥१६॥ (भ० लो०) पृ० २१४-६१

शैशव काल में विवाहित स्त्री जब अपनी ससुराल आती है तो उसका पति परदेस जा चुका होता है। घर में एक नीम का वृक्ष है जिसे उसके पति ने बचपन में खेलते-खेलते लगाया था। अब उन वृक्ष में फल आने लगे हैं पर परदेसी पति अभी तक नहीं लौटा। विरुल कामनाओं से पूर्ण युवती पत्नी निरन्तर उसकी प्रतीक्षा करती रहती है। बारह वर्षों के उपरान्त पति परदेश से आता है। अटूट प्रेम से पूर्ण प्रतीक्षा का अन्त होता है। मायके में आयी हुई पत्नी अपनी माता से अनुरोध करती है कि वह उसके पति के साथ शीतल एवं मधुर व्यवहार करे। सम्भवतः पत्नी को इस बात की आशंका है कि उसकी माता, दीर्घ काल तक परदेश वास करने के कारण अपने दमाद को कटुवचन कहेगी।

ऊधवा—

भोजपुरी प्रदेश में वर्षा ऋतु के सुहावने अवसर पर 'ऊधवा' गीतों का प्रचलन है। ये गीत अवधी क्षेत्र में नहीं प्राप्त होते हैं। ये गीत विरह-प्रधान होते हैं। उद्धव को विरह का सन्देश-वाहक बनाया गया था। सम्भवतः इन गीतों को विरह सन्देश युक्त होने के कारण ही 'ऊधवा' कहा जाता है।

आकाश में उमरती हुई मेघ-घटाओं की छाया में कोई वियोगिनी गा उठती है—

सुनिलें कन्हइया हमरो जोगी भइले, हमहूँ जोगिन होइ जाव
बनि केहु ओढ़हुँ रे कुसुम्भियाँ, जनि कोइ बोअहु कपास।
हम ना रगइबो लाली चुनरिया,पिया बिनु सगरा अन्हार
सुनिलें कन्हइया हमरो जोगी भइले, हमहूँ जोगिन होइ जाव।
(भो० लो० ना०) पृ० ११८

सम्पूर्ण गीत विरह-विदग्धा ग्राम-वधू की करुण-भावनाओं से ओत-प्रोत है।

बसन्त ऋतु

बसन्त-ऋतु समस्त ऋतुओं की माधुरी मानी जाती है। मधुमान मानव-जीवन के हर्ष और उल्लास का प्रतीक है। प्राचीन काल से ही बसन्त ऋतु के आगमन में बसन्तोत्सव मनाने का प्रचलन है। बसन्त पंचमी के दिन कामदेव का जन्म माना जाता है। इस दिन से लेकर फागुन-पूर्णिमा तक बसन्तोत्सव मनाया जाता है।

बसन्त का आगमन लोक जीवन में नवीन उमंग और उत्साह का संचार करता है। प्रेम के प्लावन में ओत-प्रोत मानव समाज अपूर्व उल्लास और असीम आनन्द का सृजन करता है। हर्ष की तीव्रतम भाव-हिलोरें स्वरबद्ध होकर गीतों के रूप में मुखरित हो उठती हैं।

बसन्त ऋतु में गाये जाने वाले भोजपुरी एवं अवधी लोकगीतों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) होली या फाग (फगुआ)
(२) चैता या चांटो

होली या फगुआ—

फागुन के महीने में होली का महत्वपूर्ण त्योहार होता है। हिन्दू समाज में यह त्योहार अपूर्व आनन्द के साथ मनाया जाता है। इस त्योहार की पृष्ठभूमि में एक पौराणिक कथा संलग्न है जिसमें हिरण्यकश्यप की बहन होलिका के द्वारा भक्त प्रह्लाद को भस्म करने की चेष्टा करने पर प्रह्लाद के सुरक्षित रहने और होलिका के भस्म हो जाने का वर्णन है। इस कथा के आधार पर होलिका-दहन की प्रचलित प्रक्रिया भक्ति की विजय और पाप के विनाश का संकेत लेकर आती है। लोक-जीवन में, पाप, पशुता और दानवता की इस पराजय-वेला,पर आनन्द और उमंग की तरंगें उद्वेलित हो उठती हैं। सम्पूर्ण समाज प्रसन्नता के आवेग से झूमने लगता है और घर-घर में रंग की फुहारें झरने लगती हैं। होली का आनन्द बाल-वृद्ध-वनिता सबको समान रूप से प्रभावित करता है। बालक अनेक दिन पहले से ही होलिका-दहन की तय्यारी में निश्चित स्थान पर लकड़ी, उपला, टूटा छप्पर पुराना काठ आदि जुटाने लगते हैं। स्त्रियां विविध पकवान बनाने की तैयारी करती हैं। और पुरुष वर्ग फाग के मधुर गीतों में खो जाता है। वैसे होली या फाग के गीत बसन्त पंचमी से ही आरम्भ हो जाते हैं। परन्तु होली का महान उत्सव 'होलिका दहन' के दूसरे दिन चैत्र कृष्णा प्रतिपदा को मनाया जाता है। इस दिन रंग-अबीर की बौछार के साथ फाग के मस्त स्वरों से वातावरण आच्छादित रहता है। भोजपुरी प्रदेश में 'होलिका दहन' को 'सवत जलाना' कहते हैं—यह प्राचीन वर्ष की समाप्ति का सूचक है क्योंकि चैत से नया वर्ष आरम्भ हो जाता है।

होली के गीतों में हृदय की भावनाएं उन्मुक्त रूप से प्रकट होती हैं। इसीलिए उनमें अश्लीलता का समावेश हो जाता है। भोजपुरी-प्रदेश में होली में गायी जाने वाली गालियों अथवा अश्लील गीतों को 'कबीर' कहते हैं। अनुमान है कि कबीर की अटपटी निर्गुण बानों के प्रति अस्वीकृति या आक्रोश दिखलाने के लिये ही लोगों ने इन अश्लील गीतों का नाम 'कबीर' रख लिया।[1]

भोजपुरी प्रदेश में फाग या फगुआ गाने का दृश्य अत्यन्त मनोहर होता है। गाँव के मुखिया या प्रतिष्ठित व्यक्ति के द्वार पर गाने वालों की टोली आती है और दो दलों में विभाजित होकर बैठ जाती है। 'ढोलक' 'झाझ या झास' और 'जोड़ी' की ध्वनियों के बीच दोनों दलों के गीत-स्वर गूंजने लगते हैं।

---

१. डा० कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन, पृ० १८९

अवधी क्षेत्र में भी होली का उत्सव पूर्ण उत्साह के साथ सम्पन्न होता है। होलिका-दहन के दूसरे दिन मिट्टी, रंग गुलाल से होली खेली जाती है। संध्या समय फाग गाने वालों का दल गांव का चक्कर लगाता हुआ मुखिया के द्वार पर आता है और सामूहिक रूप में फाग गाता है। ढोलक,मजीरा की तीव्र ध्वनि के साथ फाग के जोशीले स्वरों से सम्पूर्ण वातावरण झूमने लगता है। उत्साह और जोश में भरकर गायकों का दल उछलने और नाचने लगता है।

होली के गीतों का वर्ण्य-विषय प्रेम और संयोग की मधुर अनुभूतियों से पूर्ण रहता है। राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती और सीता-राम की सरसक्रीडाओं के माध्यम से स्त्री-पुरुष अपनी शृंगार-भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। इन गीतों में सर्वत्र प्रेम-पुलक एवं संयोग-सुख युक्त मधुर क्रीडाओं का वर्णन है।

एक भोजपुरी गीत में राम और सीता के होली खेलने का वर्णन है—

होरी खेलें रघुबीरा अवध में, होरी खेलें रघुबीरा।
केकरे हाथे कनक पिचकारी केकरे हाथे अबीरा॥
राम के हाथे कनक पिचकारी, सीता के हाथे अबीरा।
होरी खेले रघुबीरा अवध में, होरी खेले रघुबीरा॥
केकरे हाथ झाझ डफ बाजें, केकरे हाथ मजीरा।
राम के हाथ झाझ डफ बाजें सीता के हाथ मजीरा॥
होरी खेलें रघुबीरा, अवध में होरी खेलें रघुबीरा॥ (संगृहीत)

एक अन्य गीत में शिव-पार्वती के परस्पर होली खेलने का उल्लेख है—

आजु सदा शिव खेलत होरी।
जटा जूट में गंग बिराजें, अंग में भसम रमोरी॥१॥

× × ×

लेइ गुलाल शम्भु पर छिरके, रंग में उनका के बोरी।
भइल लाल सब देह शम्भु के, गौरी थकर करेले ठिठोरी॥४॥

(भो० ग्रा० गी०) पृ० २१४

इसी प्रकार राधा-कृष्ण के होली खेलने का भी अत्यन्त मोहक चित्र एक गीत में खींचा गया है—

राधावर खेलत होरी।
नन्द गांव के ग्वाल सखा हैं बरसाने की गोरी।
खेलत फाग परसपर हिलि-मिलि, सुख रंग में रस बोरी।
घरे-घरे फाग मचा री।

(भो० ग्रा० गी०) पृ० २२६

अवधी क्षेत्र में भी होली-गीतों के मुख्य चरित्रों के रूप में राधा-कृष्ण, सीता-राम और शिव-पार्वती की गणना होती है।

राम और सीता होली खेल रहे हैं। अयोध्या के राजमहल में रंग और गुलाल की वर्षा हो रही है—

होरी खेलें सियराम अवध माँ।
कै मन केसर घोरियं कै मन उड़ो अबीर अवध माँ।
नौ मन केसर घोरिये दस मन उड़ो अबीर अवध माँ।
केहि केरि भीजै चूनरी, केहिकेरि भीजै पाग अवध माँ।
सीता के भीजै चूनरी औ राम की भीजै पाग अवध माँ। (संगृहीत)

अवधी लोक गीतों में शंकर और पार्वती के होली खेलने का एक मस्तीपूर्ण चित्र द्रष्टव्य है—

सिव संकर गावत फाग समाज बटोरी।
भूत-प्रेत बैताल संग में नृत्य करत चहुँ ओरी।
गावत गावत गाल बजावत—
दै दै कर ताल थपोरी। समाज १॥
कोउ मुख हीन कोउ मुण्डित सिर कोउ कर नाक कटोरी।
कोउ है अंग भंग कुण्ठित तन,
है अद्‌भुत संग अघोरी। समाज ॥२॥
कोउ भरि लीन्हे अबीर कपाल मे, कोऊ-कोऊ रंग भरोरी।
शोभा अलख नीलकंठ की,
गले लपटि भुजग बहोरी। समाज ॥३॥
कोऊ मृदंग कोउ संख न्यावत कोउ मुंडन की जोरी।
निरखि निरखि त्रिपुरारि की होरी—
बिहसत हिय दस किसोरी। समाज ॥४॥ (संगृहीत)

भूत-प्रेतों के साथ शिवशंकर फाग के उन्माद में डूबे हुये हैं। शंकर की अद्‌भुत मस्ती का वरदान पाकर लोकगीतों के गायक भी होली की रंगीनियों में झूम-झूम जाते हैं।

एक अन्य अवधी गीत में गोपी और कृष्ण की मधुर रंग-क्रीड़ा का वर्णन है—

ग्वालिन सिर पर धरे गगरिया।
घर अपने तें चली अकेली, संग नहीं दुसर गुजरिया।
जाय पहुँची जमुना तट पर परिगं कृष्ण नजरिया।
काहे का तेरा गगरि घइलना काहे केरि इडुरिया।
कउन सगर से जल लै अइहौ, जइहो कउन नगरिया।
सब सोने की गगरि घइलना मोतिन केरि इडुरिया।
जमुन सगर से जल भरि लइहौ जइहौं मथुरा नगरिया।
भरि पिचकारी मारी कान्हा टपकं रंग केसरिया।
अंग-अंग मंग रंग बिराजै भीजे कुसुम चुनरिया।
सूर स्याम फागुन की होरी रोकै किसन डगरिया।
भरि झड़िया मुख मलै अबीरा जोरै हाथ गुजरिया। (लो० गा० पृ० १३)

गोपी और कृष्ण की पावन क्रीडा-केलि में होली खेलने का विशेष महत्व है। प्रेम की जो सरसता, मधुरता और विस्मृति ब्रज की भूमि को आलोडित कर गई है वह अपूर्व एवं अनुपम है। होली के अधिकांश गीत संयोग शृंगार से युक्त होते है। शृंगार के नायक श्रीकृष्ण एवं नायिका राधा माने जाते हैं अतः राधा-कृष्ण अथवा गोपी कृष्ण से सम्बन्धित अनेक गीत हैं। इसके अतिरिक्त सामान्य शृंगार-गीत भी होली के अवसर पर गाए जाते हैं।

एक भोजपुरी गीत मे—शृंगार की स्वच्छन्द धारा प्रवाहित हो रही है—

हो रस भीना साम बजावे, रस बीना।
जइसे अन बिनु मनुआ दुखित भइले घोरे जल देखि भीना।
छोटे बलमु देखि गोरिआ मलिन भइलि, जोबन जात मलीना ॥१॥
जइसे पाव पलंग पर दीन्हा, उठि आदर करि लीन्हा।
जोबन रस चोली भीजें, पीतम पोछे पसीना ॥२॥

(भो० लो० सा० पृ० १४५)

उपर्युक्त गीत मे अनमेल विवाह प्रथा पर एक कटु व्यंग्य-प्रहार किया गया है। होली के अवसर पर उचितानुचित की सीमा त्याग कर श्लीलाश्लील भावनाओं की निर्बन्ध अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

अवधी बोली के एक गीत मे शृंगार-भावना अत्यन्त मधुर रूप लेकर अवतरित हुई है—

फगुआ तेरी अजब बहार रे।
फुलवा बिनन ललिता जु भई,
पहिले जनम मे कोयल भई,
श्री कृष्ण सुवा बनि जाय रे।
फुलवा बिनन ललिता जु भई,
दूसरे जनम मे हिरणी भई,
श्रीकृष्ण हिरण बन जाय रे।
फुलवा बिनन ललिता जु भई,
तीसरे जनम मे मछली भई,
श्रीकृष्ण बगुल बन जाय रे। (संग्रहीत)

स्त्री-पुरुष की अनेक जन्म-जन्मान्तरों में की गई यह मिलन-कामना अत्यन्त पवित्र है। लोक-वाणी के द्वारा इसकी भावात्मक अभिव्यक्ति अत्यधिक प्रभावपूर्ण है।

अवधी क्षेत्र मे होली के अवसर पर 'रेखता' नामक गीत भी गाए जाते हैं। रेखता गाने वाले व्यक्ति हाथों मे मोरछल लिए रहते हैं और गीत की ताल के साथ-साथ उसे दूसरे हाथ मे ठोकते रहते है। रेखता-गायकों की विशेष मंडलियाँ रहती थीं पर अब इनका लोप हो गया है। यही कारण है कि 'रेखता' गीत लोक-समुदाय मे कठिनता से प्राप्त होते हैं।

प्रसिद्ध गायक 'सुद्दू' का एक रेखता इस प्रकार है—

यह गद्दी सुदीन की मो कवि बरनि न जाय।
हुकुम होय उस्ताजु का सुमुरछ्ल लेउं उठाय॥
लिखे निगम मे जात हैं सो करते मुकन्न हमेस।
महादेव के पुत्र हैं सो नाम परो गन्नेस॥
गन्नेस नाम लिये काम सिद्ध होत है।
प्रथम नाम निकला वेदन गन्नेस है॥
कटि जात पापधारा इस नाम के लिये।
बैकुण्ठ धाम जावै जो दरस हैं किये॥
ऊपर तो माथ गज का मुखदन्त एक है।
असवार नेत्र सुन्दर बैठा गनेस है॥
माथे सरद चन्द्रमा मूरति है चौ मुजी।
गन्नेस रूप पैदा जब नारि शिव तजी॥
देवन में बड़ा सबसे गोरी का पूत है।
पूजा है बिस्नु ब्रह्मा गन्नेस रूप है॥
घुंघरू कि शब्द पैरों मुक्ता की माल है।
गन्नेस नाम लिये ते मूछित काल है॥
निसदै लगाय जानो गन्नेस नाम है।
कोउ धरत ध्यान सिव का कोउ भजत राम है।
सुद्दू ने कहा मेरे गन्नेस नाम है॥ (लो० रा० पृ० १०१-२)

'रेखता' में विभिन्न देवों के प्रति भावोपासना युक्त अभिव्यक्ति रहती है।

चैता अथवा घांटो—

चैत के महीने मे गाए जाने वाले गीतो को 'चैता' कहते हैं। भोजपुरी प्रदेश मे उन्हें 'घांटो' भी कहते हैं। 'चैता' गीत अत्यधिक मधुर एवं सरस होते हैं। इन्हें दो प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) झलकुटिया, (२) साधारण। झलकुटिया चैता झाल (एक विशेष वाद्ययंत्र) बजाकर समूह के द्वारा गाया जाता है। परन्तु साधारण चैता व्यक्ति विशेष के द्वारा गाया जाता है।

सामूहिक रूप से चैता गाते समय गायक दो दलो मे विभक्त हो जाते हैं। पहला दल गीत की एक पंक्ति गाता है और दूसरा दल उसके टेक पदो को जोर से गाता है। पहले दल की अपेक्षा दूसरे दल का स्वर अधिक तीव्र रहता है। जब गान उच्चतम सीमा पर पहुँचता है तो आवेश के कारण दोनों दलों का कण्ठस्वर तीव्रतम हो जाता है। झाल भी द्रुत गति से बजने लगता है।

चैता गीतो मे प्रेम की प्रधानता है। अधिकांश गीतों मे संयोग शृंगार की उद्दीप्त भावनाओं का मधुर चित्रण है। संयोग-पक्ष की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों एवं अभिलाषाओं का प्रकाशन इन गीतो में हुआ है।

भोजपुरी क्षेत्र में, वसन्त के विपुल वैभव से उत्प्रेरित होकर लोक-गायक

अपने सुमधुर कंठ-स्वर में हृदय का सम्पूर्ण प्रेम उँडेल कर चैता के स्वर अलाप उठता है। प्रकृति की सम्पन्नता में पुलकित होकर, अपने समस्त अभावों को भूलकर, वह गीतों की लय में मग्न हो जाता है।

एक भोजपुरी गीत में एक नव-विवाहित पत्नी का अपने पति के प्रति कोमल अनुराग-भाव अत्यन्त सुन्दरता से वर्णित हुआ है—

> रामा भइले के निंदिया बड़ी बड़भगिनिया हो रामा।
> सुतना सतपुरुष नाहीं जागे हो रामा ॥१॥
> रामा गोड़ तोर लागीं अहो मोरा ननदिया हो रामा।
> रचि एक भइया तू जगावहु हो रामा ॥२॥
> रचि एक।
> रामा कइसे के भउजी भइया के जगाईं ए रामा।
> मोरे भइया निंदिया भइले मतवाला ए रामा ॥३॥
> मोरे भइया।
> रामा भरि हीरा चुनन चनन घसले सालुरिन ए रामा।
> छीटि छीटि आपन प्रियवा जगावे ए रामा ॥४॥
> छीटि छीटि।
> (भो० ग्रा० गी० पृ० १५२-५०)

चैत मास की सुहानी रात में सोया पति प्रायः जल्दी नहीं उठता। पत्नी के लिये उसकी मतवाली नींद बैरिन के समान है। वह अपनी ननद के चरण पकड़ कर अपने भइया को जगाने का अनुरोध करती है परन्तु ननद अपने भाई की सुखद नींद में विघ्न नहीं डालना चाहती। निराश होकर वह सौभाग्यवती स्त्री थाली भर कर चन्दन घिसती है और उस चन्दन से छींटे देकर अपने पति को जगाती है।

गीत की अन्तिम पंक्तियों में पति को जगाने का सुन्दर उपचार दाम्पत्य प्रेम की कोमलता और मधुरता का परिचायक है। नव-वधू की भाव-चालता, कुशलता एवं व्यावहारिक क्षमता द्रष्टव्य है। चन्दन के छींटों से पति को जगाने की चेष्टा में पत्नी के हृदय का समग्र स्नेह भाव आलोकित हो उठा है।

भोजपुरी क्षेत्र में बुलाकीदास के रचे हुए चैता बहुत प्रसिद्ध हैं। लोकगीतों में रचयिता व्यक्तियों के नाम का उल्लेख नहीं रहता है परन्तु भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित अनेक चैता गीतों में बुलाकीदास का नाम अवश्य है।

एक भोजपुरी चैता में, सास-ननद के आदेश से आधी रात में फूल चुनने के लिये जाती हुई स्त्री के दुःख का वर्णन हुआ है—

> रामा सासु हो ननदिया जनमवा के बैरी हो रामा।
> आधी रात, कुसुम लोढ़न, मोहि भेजे हो रामा ॥१॥
> आधी रात।
> रामा गोरी-गोरी बहियाँ पतरी अंगुरिया हो रामा।
> कुसुम लोढ़ना काँट गड़त हो रामा ॥२॥
> कुसुम लोढ़ना।

रामा केइ मोरे काटावा निकाले हो रामा ।
केइ मोरे हरेले दरदिया हो केइ मोरे रामा ।।३।।
रामा बाबा मोरे काटावा निकाले हो रामा ।
सइयां मोरे हरेले दरदिया हो रामा ।।४।।
सइयां मोरे ।
रामा दास बुलाकी चइत घाटो गावे रामा ।
गाइ गाइ बिरहिन समुझावें हो रामा ।।५।।
गाइ गाइ ।

(भो० ग्रा० गी० पृ० १४९-५०)

आधी रात मे फूल चुनने के लिये जाती हुई स्त्री के मन मे सास और ननद के प्रति अश्रद्धा का भाव उत्पन्न हो रहा है। उसे सास और ननद जन्म की वैरिन प्रतीत होती हैं जिन्होंने आधी रात मे फूल चुनने का आदेश दिया है। उसकी बाहें गोरी और उगलियां पतली है। फूल चुनते समय सहसा उंगली मे कंटक गड़ जाता है। पीड़ा से व्याकुल होकर वह सोचती है कि कौन उसका कांटा निकालेगा और कौन दर्द दूर करेगा। उसका विश्वास है कि पिता ही उसका कांटा निकाल सकता है और पति दर्द दूर कर सकता है। ससुराल मे सास-ननद से प्रताड़ित स्त्री पिता के आश्रय और पति के प्यार मे ही विश्वास रखती है।

व्रत एवं उपासना सम्बन्धी गीत

भारतीय संस्कृति मे धर्म की प्रधानता है। आस्तिकतावादी होने के ही कारण इस देश मे धार्मिक भावना पूर्ण विकसित रूप में लक्षित होती है। प्राचीन काल मे ही 'धर्म' भारतीय संस्कृति का प्राण-तत्व रहा है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना। जो समस्त ब्रह्माण्ड के धारण करे वही धर्म है। धर्म की सीमा निर्धारित करते हुए महाभारत मे कहा गया है कि जो धारण करने की योग्यता रखता है वही धर्म है। धर्म प्रजा को धारण करता है।[1] धर्म के स्वरूप का विवेचन करने पर सिद्ध होता है कि सर्वशक्तिमान् भगवान का परम समर्थ न्याय ही सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाला है। ईश्वर के द्वारा निर्धारित इस न्याय-नियम के अनुसार आचरण करना ही धर्म पालन है। यह धर्म इहलोक और परलोक दोनो के लिये कल्याणकारी है। वैशेषिकदर्शन मे महर्षि कणाद ने धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जिससे इस लोक मे अभ्युदय हो और परमकल्याण रूप मोक्ष की प्राप्ति हो, वही धर्म है।[2] चार पुरुषार्थों मे मोक्ष ही अन्तिम पुरुषार्थ है। जिसकी प्राप्ति में मानव-जीवन की सार्थकता है। धर्मानुकूल आचरण द्वारा यह मोक्ष तत्व प्राप्त होता है। धर्मानुकूल प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए मनु ने धृति, क्षमा, मन का निग्रह,

1. धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मेण विधृता प्रजाः ।
यः स्याद् धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व १०९/११-१२)
2. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः ।

अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, निर्मल बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—इन दस सद्-वृत्तियों की गणना की है। यहाँ धर्म के लक्षण १० आते हैं।[1] महाभारत में भी धर्म के कतिपय लक्षणों का उल्लेख प्राप्त होता है। मन, वाणी और कर्म से प्राणिमात्र के साथ अद्रोह, सबके प्रति अनुग्रह और दान शीलता यही सत्पुरुषों का सनातन धर्म है।[2] पद्मपुराण में भी दस लक्षणों—ब्रह्मचर्य, सत्य, पञ्चमहायज्ञ, दान नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, शान्ति और अस्तेय—में धर्म को आबद्ध किया गया है।[3] इस प्रकार समस्त धार्मिक ग्रन्थों में धर्मानुकूल आचरण के द्वारा परम लक्ष्य-प्राप्ति का उपदेश दिया गया है।

भारतीय लोक-जीवन में धर्म के प्रति उत्कट आस्था विद्यमान है। धर्म के मौलिक एवं यथार्थ रूप को समझने की पूर्ण क्षमता न रखते हुए भी सामान्य जन-समुदाय में परम्परागत धार्मिक नीतियों के प्रति पूर्ण श्रद्धा है। लोक-जीवन में समाविष्ट होकर धर्म, उसका एक अविच्छिन्न अंग बन गया है। धार्मिक विधि-विधानों और पूजा अनुष्ठानों के प्रति सामान्य जन-जीवन में गहरे विश्वास भरे हुए हैं। कहीं-कहीं ये विश्वास की सीमा में प्रविष्ट हो गये हैं। ग्रामीण स्त्रियों में अशिक्षित धर्म-भावना का अन्धविश्वास पूर्ण स्वरूप ही प्राप्त होता है। वेद-पुराण, धर्मशास्त्र और लोक परम्परा में मान्य देवी-देवताओं की पूजा तो होती ही है—पत्थरों, कंकड़ों, टीलों और कब्रों आदि की भी पूजा की जाती है। नदी, तालाब, पशु-पक्षी, वृक्ष पर्वत आदि की पूजा के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। अनेक पर्व-त्योहारों में नदी, तालाब अथवा कुओं की पूजा की जाती है। वृक्षों में पीपल, बरगद, नीम, आँवला, तुलसी; पशुओं में गाय, बैल, पक्षियों में गरुड़, मोर, नीलकण्ठ, आदि को उपास्य माना जाता है। देवताओं और ईश्वरावतारों में राम, कृष्ण, शंकर, गणेश, हनुमान आदि तथा देवियों में शारदा, जगदम्बा, विन्ध्यवासिनी, दुर्गा, शीतला, भवानी, सपटा आदि की उपासना का प्रचलन है। सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि, जल, पवन और नाग आदि की भी देव रूप में आराधना की जाती है। सामान्य जन समुदाय में समाहित यह बहुदेव-वाद मूल रूप में एकेश्वरवाद की ही अभिव्यक्ति करता है। यद्यपि ग्रामीण जनता असंख्य देवताओं और अवतारों के प्रति आस्था रखती है। परन्तु उसके मूल में एक

---

1. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

   (मनुस्मृति ६/९२)

2. अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
   अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥

   (महाभारत, वनपर्व २९७/३५)

3. ब्रह्मचर्येण सत्येन मखपंचक वर्तनैः।
   दानेन नियमैश्चापि क्षमा-शौचेन वल्लभ॥
   अहिंसया सुशान्त्या च अस्तेयेनापि वर्तनैः।
   एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रपूरयेत्॥

   (पद्मपुराण, द्वितीय खण्ड अ० १२/४६-४७)

परम शक्तिशाली ब्रह्म की सर्व व्याप्ति की भावना छिपी हुई है। अनेकता में भी एकता का अटूट तार पिरोकर उनकी भक्ति-भावना परम आदर्श की ओर अग्रसर होती है।

आराध्य के प्रति एकत्व-भाव स्थापित हो जाने पर साधक अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का समर्पण कर देता है। उसका व्यक्तिगत राग-विराग और हर्ष-अवसाद उस अदृश्य अन्तर्यामी के समक्ष प्रत्यक्ष हो उठता है। वह कष्टों के त्राण और वेदना के निवारण का प्रमुख विश्वास-स्तम्भ बन जाता है, जिसका सहारा लेकर साधक जीवन के पंकिल-पथ पर आगे बढ़ता है। अगम-अगोचर विश्व-नियन्ता परम ब्रह्म की साधना के लिये विभिन्न धर्म सम्प्रदायों मे विभिन्न मार्गों का निर्देशन हुआ है। ये भिन्न-भिन्न मार्ग भिन्न-भिन्न धर्मों एवं नियमों का विधान करते हैं। समस्त मार्गों मे मन एवं इन्द्रियों के निग्रह पर जोर डाला गया है। सांसारिक विषय-वासनाओं से मन एवं इन्द्रियों को हटाकर परमब्रह्म मे एकनिष्ठ ध्यान लगाना ही साधक की सफलता है। व्रत-साधना मन एवं इन्द्रियों के निग्रह की साधना है। व्रत का अर्थ है अटल निश्चय। मन एवं इन्द्रियों को माया-मोह से परे हटाकर आराध्य के प्रति केन्द्रित करने का सङ्कल्प 'व्रत' है। यही व्रत-साधना धार्मिक भावनाओं के प्रकाशन का उपकरण बन गई है। सामान्य लोक-जीवन में व्रतों का व्यापक प्रचार है। धार्मिक भावना सम्पन्न स्त्रियाँ प्रत्येक महीने मे दो-चार व्रत अवश्य करती हैं। हिन्दू समाज मे परिव्याप्त अनेक पर्व-त्योहार धर्म-भावना की अभिव्यक्ति करते हैं, और इन सबमे व्रतों का सम्बन्ध जुड़ा है। इसी प्रकार सप्ताह के सातो दिन किसी न किसी देवता से सम्बन्धित हैं और अपना विशेष व्रत-माहात्म्य रखते हैं।

भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों मे भी धर्म भावना का जागरूक स्वरूप लक्षित होता है। विभिन्न पर्व त्योहारों पर लोक-समुदाय मे धार्मिक क्रिया-कलापों का उत्साह पूर्ण सम्पादन दिखाई देता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों मे उमंग और उत्साह की तीव्रता अधिक रहती है। यही कारण है कि धर्म-चेतना के व्यापक क्षेत्र पर जो अधिकार स्त्रियों को प्राप्त है वह पुरुषों को नहीं।

व्रत—

वैसे तो भारत मे वर्ष के तीन सौ पैंसठ दिन व्रत के लिये उपयुक्त माने जाते हैं किन्तु मुख्य पर्वों के अनुसार निम्नलिखित व्रत किये जाते हैं—

(१) शीतलाष्टमी (२) रामनवमी (३) वटसावित्री व्रत (४) नागपंचमी (५) जन्माष्टमी (६) हलषष्ठी (७) हरतालिका तीज (८) गणेश चतुर्थी (९) अनन्त चौदश (१०) लक्ष्मीव्रत या जीवित्पुत्रिका व्रत (११) नवरात्रि एवं विजय दशमी (१२) करवा चौथ (१३) दीवाली (१४) अन्नकूट (१५) भ्रातृद्वितीया (१६) मकर संक्रांति (१७) वसन्त पंचमी (१८) शिवरात्रि (१९) होली।

मुख्य तिथियों के अनुसार किये जाने वाले व्रतों मे एकादशी एवं पूर्णिमा का महत्व है। मुख्य वारों के अनुसार किये जाने वाले व्रतों मे रविवार, सोमवार, मंगलवार, बृहस्पतिवार और शनिवार की गणना की जा सकती है।

प्रत्येक व्रत में उससे सम्बन्धित कहानी सुनने का माहात्म्य है। इसी प्रकार व्रतो में गीत गाए जाने का भी नियम है। स्त्रियो में प्रत्येक शुभ अवसर पर गीत गाए जाने की प्रवृत्ति रहती है। व्रतो के अवसर पर गाये जाने वाले गीत मुख्यतः व्रत सम्बन्धी कथानक अथवा पात्रो से सम्बन्धित रहते है। शीतलाष्टमी के अवसर पर शीतला माता के, रामनवमी के अवसर पर राम जन्म के, नागपंचमी के अवसर नाग देवता के, और नव रात्रियो मे दुर्गा महारानी के गीत गाये जाते है। लोक-जीवन मे व्याप्त विश्वासो, धर्मानुष्ठानो एव नैतिक परम्पराओ का मुखरित स्वरूप लोकगीतो मे प्राप्त होता है।

धर्म-भावना के क्षेत्र में व्यक्ति विश्वासो एवं मान्यताओं का विशेष महत्व है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न स्थानो की धार्मिक प्रक्रियाए स्वरूपगत अन्तर रखती हैं। भोजपुरी और अवधी प्रदेशो मे सम्पन्न किए जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानो मे साम्य और वैषम्य दोनो ही है।

भोजपुरी एव अवधी प्रदेशो मे लोकगीतो की मधुर झकारो के मध्य सम्पन्न होने वाले व्रत-अनुष्ठान मुख्य रूप से निम्नलिखित है—

(१) शीतलाष्टमी (२) रामनवमी (३) नागपंचमी (४) बहुरा (५) जन्माष्टमी (६) हरतालिका तीज (७) नवरात्रि (८) गोधन (९) पिड़िया (१०) षष्ठी माता। इनमे से नागपंचमी बहुरा, गोधन और पिडिया के गीत अवधी क्षेत्र मे अप्राप्य है। षष्ठी का व्रत भोजपुरी क्षेत्र में धूमधाम के साथ किया जाता है।

धार्मिक प्रवृत्तियो से युक्त स्त्रियां विविध मनोकामनाओ को सजोकर व्रत अनुष्ठान करती हैं और उमग की तरगो से युक्त मधुर गीतो के स्वर बिखेर कर सम्पूर्ण वातावरण को गुंजित कर देती हैं।

(१) शीतलाष्टमी के गीत—

चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन शीतला का व्रत किया जाता है। ग्रामीण जनता के विश्वासो के अनुसार 'चेचक' को शीतला माता का प्रकोप माना जाता है। इस रोग के फैलने पर स्त्रियां शीतला माता की पूजा करती है। रोग की दशा में देवी की पूजा शीतलता प्रदान करती है और उनकी अनुकम्पा से रोगी रोग मुक्त हो जाता है। शीतला की उपासना भोजपुरी और अवधी दोनो क्षेत्रो में प्रचलित है। इस भीषण रोग को देवी के नाम—शीतला से ही सम्बोधित किया जाता है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति होती है कि वह नीच तथा भयकर वस्तु को किसी सुन्दर नाम से पुकारने का प्रयत्न करता है। शीतला के रोगी का कोई इलाज नही होता, उसे देवी की दया पर छोड़ दिया जाता है। देवी की पूजा की जाती है उनकी प्रशसा मे गीत गाये जाते है। रोगी की झाड फूक के लिये मालिन आती है जो नीम की डाली से रोगी को झलती है। मालिन देवी की प्रिय सेविका समझी जाती है। इसीलिए देवी के गीतों मे मालिन का उल्लेख प्राप्त होता है। शीतला माता की उपासना चैत्र शुक्ल अष्टमी को विशेष रूप से की जाती है। स्त्रियां गीतो के माध्यम से शान्ति एव सुरक्षा की याचना करती हुई शीतला माता की पूजा करती है।

एक भोजपुरी गीत में देवी की प्रिय वस्तुओं का उल्लेख किया गया है—

आरे केकरा आगानवा दउना मडुअवा[1] हो।
केकरा आगानवा निबिया गाछि हो॥
काहवा जे फूलेला अडहुल फूलवा।
के मोर बाट जोहे हो॥
आरे मलिया आगानवाँ दउना मडुअवा।
सेवका आगानवा निमियाँ गाँछि हो॥
आरे बगिया मे फूलेला अडहुल फूलवा।
सेवक रउरी बाट जोहे हो॥ (भो० ग्रा० गी०) पृष्ठ ३५६

देवी की उपासना के लिये भोजपुरी प्रदेश में दवना और मडुआ का फूल, नीम का वृक्ष और अड़हुल का लाल पुष्प विशेष रूप में प्रचलित है। माली को देवी का सच्चा सेवक माना जाता है। माली का घर और उपवन देवी के निवास का स्थल है।

एक अवधी गीत मे देवी की उपासना के लिये बेला-चमेली के फूल, पान, सुपारी, ध्वजा और नारियल का वर्णन हुआ है। उपासिका-रूप में मालिन का चित्रण है—

समही गवावा उतरि चले है मनिकेऊ चली है आधी रात हो माय।
कहाँ ना मलिनि राति गवायो कहाँना लगायो इती देर हो माय।
कजरी के बन माँ मैया फूली फुलवारी, फुलवा बिनत लागी देर हो माय।
केहि का गुथ्यो मालिनि बेला चमेली केहिका लौंग का हार हो माय।
देवी का गुथ्यो बेला चमेली लँगुरै लौंग का हार हो माय।
हार पहिनि देवी नाचनि लागी मोहे सकल देवतान हो माय।
मागे का होय तौ मागो री मालिन, जो तोरे हियरे समाय हो माय।
अन्नु-धन्नु मैया तुम्हरा दियो है, मलिया अमर कइ देओ हो माय।
अम्मर नहिं मालिनि पावो पहवा मलिया अमर कैसे हो जाय।
येहि कलियुग माँ तीनि अमर हैं, पानी, पवन मगनधूरि हो माय।
पान सुपारी मैया धजा नारियल, देह लियो भेंट हमरि हो माय॥

(अ० लो० प०) पृ० २७:

मालिन की उपासना से देवी प्रसन्न हो जाती है और वर माँगने का आदेश देती है। पति का अमरत्व चाहने वाली मालिन की कामना कलियुग के विपरीत होने के कारण पूर्ण नहीं हो पाती। इस गीत में देवी की कठोर प्रकृति का निरूपण हो रहा है। अनुचित याचना के प्रति उनमें उदारता का अभाव है।

शीतला माता का प्रकोप भयंकर होता है। माता का हर भक्त उस कोप की आशंका में आतंकित रहता है। उपासना में कोई त्रुटि न होने पाये, उसकी चिन्ता हर समय उसे लगी रहती है। इसीलिए देवी के प्रकोप का वर्णन भी गीतों में प्राप्त होता है। उपर्युक्त गीत में इस प्रकोप की अभिव्यक्ति हुई है—

1. एक फूल विशेष

टूटि गइली कवही फूलमती मइया मुरुकि गइली हो मास ए।
कोपली जगदम्बा माई जी सुनरा घरे हो जामु ए ॥१॥
बाघ तोरि थाको ऐ सोनार बहिया लागे रे घुन।
जवनी हाथे गढ़ले रे सोनारा कवही केरे माल ए ॥२॥
रोवेले सोनरा के मइया लटि धुने रे केस ए।
अबकी गुनहिया माता बहिनी माफ करो हमार ए ॥३॥
रोवेले सोनारा के जोइया लटि धुनि रे केस ए।
अबकी गुनहिया जगदम्बा मइया मेनुग बकसे मोर ए ॥४॥
गढ़ि दीह ए कवही सीतलि माई जी जोगी दोहले रे माल ए।
सोने के मढ़ाअवे जगतारनि माड़गलि बाड़ी लामी केस ए ॥५॥

(भो० लो० गी० में करुण रस पृ० ३५१)

देवी की सोने की कवी टूट जाती है और सुनार पर उनका कोप प्रकट होता है, जिसने उस कवी का निर्माण किया था। देवी ने उसे शाप दिया कि उसकी बाघ निर्बल हो जाय और बाहों में घुन लगे। सुनार की माता और पत्नी विलाप करने लगती है और देवी से याचना करती हैं कि इस बार वह अपराध क्षमा कर दें। लोकगीतों में देवी की शक्ति की अत्यन्त व्यापक महिमा है। उस शक्ति की उपासना के प्रति लोक-मन में गहरी आस्था है इसीलिए उस शक्ति के प्रकोप का भय भी व्यापक है।

देवी के प्रकोप से ग्रसित व्यक्ति की अवस्था अत्यन्त दयनीय होती है। शीतला के अभिशाप में रोग से आक्रान्त व्यक्ति समाज में उपेक्षित हो जाता है। माता-पिता, स्त्री आदि निकटस्थ प्राणी भी शीतला के रोगी से घृणा करने लगते हैं। एक भोजपुरी गीत में देवी के प्रकोप से अत्यधिक दयनीय अवस्था को प्राप्त ऐसे ही एक व्यक्ति की करुण-वेदना का दिग्दर्शन हुआ है—

आरे माताका घिनइले अवरु पितवा घिनइले हो,
घिनइले नगरिया के लोग हो।
आरे मनुआ के व्याहल तिवई घिनइली हो
घिनि गइले कुल परिवार हो।
मन के दुःखवा से हो मेन जोनी गंगा तट जननी
मैं हो गंगा मोसे घिनाई हो।
दहवा में उठली विरिक[1] बन गइली,
दुनवा उभारि हमनी[2] सेज हो। (भो० ग्रा० गी० पृ० ३६२-६३)

समाज से उपेक्षित हो रोगी गंगा में डूबने जाता है पर गंगा भी उसे ग्रहण नहीं करती। अन्त में वह देवी की शरण में जाकर ही अपने उद्धार की याचना करता है। लोकगीत में देवी के भयंकर रूप के साथ ही उनके मंगलकारी, सरल,

---

1 घना

2 बिछाया

भक्त-वत्सल स्वरूप की व्यंजना भी की गई है। शरणागत की रक्षा के लिए तत्पर देवी कहती हैं—

आरे चलु चलु भगता रे आपन देवघरवा,
कहु ना देवघर के बिमार रे।

इस पर रोगग्रस्त भगत अपनी असमर्थता व्यक्त करता है—

कइसे में चली देवी आपन देवघरवा,
बचल बा ठठरी[1] हमार रे।

देवी प्रसन्न होकर भक्त के शरीर में नवीन जीवन-शक्ति का संचार करती है—

रुइया के फाहावा से मास के सिरिजलो,
कानी अंगुरी चीरि डालेलो प्रान हो।
घरवा ले अइलो देविय देव घरवा,
दिया-बाती बार[2] ना भइार हो।

रुई के फाहे से रोगी के शरीर में मास की सृष्टि की, कनिष्ठका अगुली को चीर कर रक्त-दान कर प्राण संचार-किया फिर अपने देवघर में उसे लाकर दीपक जलाने का आदेश दिया।

भक्त की असमर्थता पुनः प्रकट होती है—
कइसे मैं बारी दीपक, देव घरवा,
घरवा घरनी ना तेल ना बाती हो।
भक्त वत्सला देवी करुणार्द्र होकर उत्तर देती है—
घरवा देवि घरनी रे भगता,
माडावा देवि तेल हो।
सोने के दीयवा रेसम केरि बाती,
बाइ बाढ दियवा रे सेवका अरेला सारी राती।

(भो० ग्राम गीत पृ० ३६२)

इस प्रकार देवी अपने भक्त पर प्रसन्न हो जाती हैं और उसे रोग मुक्त कर देती हैं।

अवधी गीतों में भी भक्त गायक अपनी दुर्दशा और दुरवस्था का वर्णन करता हुआ देवी की शरण में जाता है और वांछित फल प्राप्ति की याचना करता है।

एक अवधी गीत में असहाय नारी देव से प्रार्थना कर रही है—

नम फूले फुलवरिया हो देवी कइसे क लौढ़ीं फूल।
केहिके भेजौं बियरिया कइसे याछ पायौं ॥१॥
चाहीं अकाम क तरई देवी भूईं परे।

---

1. अस्थि पिंजर।
2. जलाओ।

साग क फूटल देवी बालू भीत उठावों ॥२॥
अंधिया क फूटल देवी देखन जहान चाहों।
गोड़रा क पगुन देवी पर्वत नाघि चाहों ॥३॥
तोहार चरनवा हो देवी, पकरल पार पायों।
यदि दुख सागर देवी नइया पार लायो ॥४॥
तोहार बमरवा कोढ़ले[1] रोवत आइ देखउ।
अमुआ पोखइ देवी आस पूरी करहू ॥५॥

(अ० गी० पृ० ७००)

अपनी हीनता का उल्लेख करते हुए एक नारी देवी से अपने शिशु की रक्षा की याचना कर रही है। वह सर्वथा दीन-हीन है अयोग्य एवं अशक्त है। जिस प्रकार पृथ्वी पर खड़ा होकर कोई आकाश के तारे पकड़ना चाहता है, कोई अभागा बालू की दीवार खड़ी करना चाहता है, नयनहीन व्यक्ति सारे संसार का दर्शन करना चाहता है और पंगु व्यक्ति पर्वत लाँघना चाहता है, उसी प्रकार सर्वथा अयोग्य होने पर भी दुख रूपी सागर में (शीतला के प्रकोप से) त्राण हेतु यह तुच्छ सेविका देवी से कृपा कामना कर रही है। देवी की अनुकम्पा ही उसके पुत्र के जीवन की रक्षा कर सकती है।

इसी प्रकार के अटूट विश्वास एवं दृढ़ आस्था से पूर्ण अनेक गीत हैं जिनमें भक्त हृदय अपनी दुर्बलताओं और पीड़ाओं से संयुक्त अभावमयी गाथाओं को देवी के सम्मुख गा-गा कर उनसे परित्राण की आकांक्षा करता है। सर्व शक्तिमयी देवी अपने भक्त की मनोकामनाएँ पूर्ण करने में सर्वदा सक्षम है।

एक अन्य अवधी गीत में शीतला माता को सर्व-मंगल-कारिणी भक्त-वत्सला देवी के रूप में वर्णित किया गया है—

मैं आई देवी सन्तन तारन को।
देवी के दुआरे एकु हर हर पीपर, लाल धजा फहरावन को।
देवी के दुआरे एकु अधरा पुकारे, देउ नयन घर जावन को।
देवी के दुआरे एकु कोढ़िया पुकारे, देउ काया घर जावन को।
देवी के दुआरे एकु बांझिनि पुकारे, देउ बालक घर जावन को।
मधु मेवा पकवान मिठाई अमृत भोग लगावन को।
जो जस ध्यावै मैया सो फलु पावै, विमुख कोउ न जावन को।

देवी सन्तों का उद्धार करने आई हैं। उनके द्वार पर अन्धे, कोढ़ी, बंध्या स्त्रियाँ आदि कामना-सिद्धि की याचना कर रही हैं। पूजा के समस्त उपकरणों के साथ देवी के भक्त आराधना में लीन हैं। माता सबकी मनोकामना पूर्ण करती हैं। कोई उनके द्वार से निराश नहीं लौटता। वे दया और करुणा की विशाल राशि अपने शरणागत भक्तों के त्राण-हेतु सजोये रखती हैं।

लोक-जीवन में देवी-पूजा के गीत जितनी बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं सम्भवतः उतनी बड़ी संख्या में किसी भी देवता के गीत नहीं हैं।

---

1. गाद।

(२) रामनवमी के गीत—

चैत्र शुक्ल पक्ष नवमी को राम-जन्म हुआ था। राम-जन्म के उपलक्ष्य में अनेक स्त्रियाँ व्रत रखती हैं और राम-जन्म से सम्बन्धित गीत गाती हैं।

एक भोजपुरी लोकगीत में राम-जन्म का सुन्दर वर्णन हुआ है—

आनन्द घर घर अवध नगर नौबत बाजत हो।
ललना चढ़ि आयो हिया स दूलाम सुमगल साजत हो।
रघुकुल कमल दिनेस अवध म उदय लेले हो॥
ललना त्रिभुवन भैले यश सब लोक, सुनत मन मोद भइले हो।
गगन मगन मन सुरन सुमन बरसावत हो।
ललना हरषि सोहागिन मगल सोहर गावत हो। (संगृहीत)

अयोध्या में राम जन्म होते ही घर-घर आनन्द-बधाइयाँ बजने लगी, जनता में हार्दिक उल्लास उमड़ पड़ा। रघुकुल के सूर्य का उदय होते ही सर्वत्र यश फैल गया और हर्ष की लहर दौड़ पड़ी। आकाश से देवताओं ने पुलकित होकर फूलों की वर्षा की। सुहागिन स्त्रियाँ आनन्द-मग्न होकर सोहर तथा मंगलगान गा रही हैं।

एक अवधी लोकगीत में भी राम-जन्म का उल्लासपूर्ण चित्रण प्राप्त होता है—

चैतहि के तिथि नवमी त नौबति बाजइ हो।
बाजै दसरथ राज दुआर कौसिल्ला रानी मन्दिर हो॥१॥
मिलहु न सखिया सहेलरि मिलि जुलि आवहु हो।
जहाँ राजा के जनमे है राम करिय नेवछावरि हो॥२॥
केउ लावै बाजूबन्द केउ कजरावट हो।
केउ लावै दखिनवा के चीर करहि नेवछावरि हो॥३॥
भितरा से निकली कौसिल्ला अगनवहि ठाढ़ी भई हो।
रानी घर-घर हिरदै लगावैं करैं नेवछावरि हो॥४॥ (क० को पृ०-२६६)

चैत माह की नवमी को दशरथ के राज दरबार तथा कौशल्या रानी के महल में आनन्द बधाइयाँ बज रही है। अयोध्या की स्त्रियाँ समूह बना-बना कर राम के दर्शन करने आती हैं आभूषण, वस्त्र इत्यादि न्योछावर करती हैं। कौशिल्या रानी भीतर से निकल कर आती हैं और समस्त स्त्रियों को प्रेमपूर्वक हृदय से लगा लेती हैं। सर्वत्र आनन्द एवं उल्लास का वातावरण है।

(३) नागपंचमी के गीत—

भोजपुरी क्षेत्र में
है। अवधी क्षेत्र में भी इ
में 'गुड़िया' भी कहते हैं
में सिराने जाती हैं और घर के लड़के वहाँ उन्हें डंडों से पीटते हैं। नाग पंचमी के दिन घर की दीवाल तथा दरवाजे पर नागों के चित्र बनाये जाते हैं। इन चित्रों की यथा विधि पूजा की जाती है। भोजपुरी क्षेत्र में एक कटोरे में दूध और लावा (धान की खील) भर कर एकान्त में रख दिया जाता है। ऐसा विश्वास है कि नागराज आकर दूध और लावा का भोग लगाते हैं। नाग-पूजा करने वालों को सर्प-दंश का भय नहीं रहता।

बगाल मे सर्पों की अधिष्ठात्री देवी 'मनसा' की पूजा का प्रचार है। मनसा-सम्प्रदाय मे नाग-पूजा का विशेष महत्व है। भारत मे नाग-पूजा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

लोक-जीवन मे नागपचमी के गीत अधिक सख्या मे नही उपलब्ध होते है।

भोजपुरी क्षेत्र मे कुछ गीत मिलते हैं परन्तु अवधी मे उनकी न्यूनता है। एक भोजपुरी गीत म नाग-पूजा का फल वर्णित हुआ है—

जवन गलिया हम कबहूं ना देखली,
ऊ गलिया देखवलन हो मोरे नाग दुलरुआ ।।१।।
जे मोरा नाग के गेहू भीखि दी हैं,
लाले लाले बेटवा बिअइहें हों मोरे नाग दुलरुआ ।।२।।
जे मोरा नाग के कोदो भीखि दीहें,
करिया करिया मुसरी बिअइहें हो मोरे नाग दुलरुआ ।।३।।
जे मोरा नाग का भिखिया ना दीहें,
दूनो बेकति जर जइहें हो मोरे नाग दुलरुआ ।।४।।

(भो० ग्रा० गी० पृ० ८५)

किसी नाग भक्त के द्वारा नागोपासना का महत्व व्यक्त किया जा रहा है। जो स्त्री नाग को श्रद्धापूर्वक गेहूँ खिलायेगी उसके सुन्दर पुत्र उत्पन्न होगे और जो स्त्री कोदो खिलायेगी उसकी सन्तान कुरूप होगी। नाग को भिक्षा न देने पर पति-पत्नी दोनों का अनिष्ट होगा और भिक्षा देने पर दोनो व्यक्ति आजीवन सुखी रहेगे।

(४) बहुरा के गीत

'बहुरा' का व्रत भाद्र कृष्ण चतुर्थी को किया जाता है। इसे 'बहुला' भी कहते हैं। यह व्रत पुत्र-प्राप्ति अथवा पुत्र ऐश्वर्य-वृद्धि के लिये किया जाता है। इस व्रत की कथा है जिसकी नायिका 'बहुला' नामक गाय है। कहा जाता है कि एक ब्राह्मण के यहाँ यह बहुला नामक गाय थी। एक दिन जगल मे चरते समय एक सिंह ने उसे पकड लिया और खाना चाहा। बहुला ने सिंह से वादा किया कि अपने बछडे को समझा-बुझाकर बडी शीघ्र लौट आएगी। इस पर सिंह ने उसे छोड दिया। बहुला अपने प्यारे बछडे को सन्तोष देकर पुन आ गई। सिंह ने उसकी सत्यवादिता और प्रतिज्ञा पालन से प्रसन्न हो कर उसे मुक्त कर दिया।

इस व्रत मे स्त्रियाँ दिन भर उपवास रखने के उपरान्त सध्या-समय स्नानादि से निवृत्त होकर गाय, बछडा तथा सिंह की प्रतिमा बनाकर पूजती हैं। इस अवसर पर गीत गाने का भी प्रचलन है। भोजपुरी क्षेत्र मे बहुरा के जो गीत प्राप्त होते हैं उनमे शृंगार-रस की प्रधानता है। बहुरा के गीतो मे कथावस्तु के अनुसार माता का पुत्र के प्रति अकृत्रिम स्नेह तथा सत्य-प्रतिज्ञा का जो स्वाभाविक उल्लेख होना चाहिए, वह उन गीतो मे नही है। इस अवसर के गीतो मे सास-बहू का विरोध, पति-पत्नी

का प्रेम, किसी पुरुष का परस्त्री के प्रति आकर्षण आदि का वर्णन अधिक पाया जाता है।[1]

एक गीत में रेसमी नाम की एक स्त्री को बाजार में देख कर किसी राजा के आकर्षित हो जाने का वर्णन है—

पहिरि ओढ़ि रेसमी चलली बजरिया,
परि गइले राजावा के दीठि गोरिया रेसमी ॥१॥
कियां गोरी रे सांचे रे सांचवा के ढारल
कियां तोरा गढ़ेला सुनार गोरिया रेसमी ॥२॥
नाहीं मोरा सांचवा रे सांचवा के ढारल
नाहिं हमरा के गढ़ेला सोनार गोरिया रेसमी ॥३॥
जनम त देला राम माई रे बापवा
सुरति उरेहे भगव नन्मोगिया रेसमी ॥४॥ (भो० ग्रा० गी०) पृ० ५१

रेसमी नाम की एक स्त्री सम्पूर्ण शृंगार करके बाजार गई है जहाँ कोई राजा उसके रूप पर मुग्ध होकर जानना चाहता है कि उसे किसी सुन्दर साँचे में ढाला गया है अथवा किसी सुनार ने गढ़ा है। वह सुन्दर स्त्री अत्यन्त सरलता से उत्तर देती है कि न तो वह किसी साँचे में ढाली गई है न किसी सुनार के द्वारा गढ़ी गई है। माता-पिता ने उसे जन्म दिया है और भगवान ने उसकी सूरत बनाई है। इस गीत में स्त्री की सरलता और भोलापन अत्यन्त मधुर है।

(५) जन्माष्टमी के गीत—

भाद्र कृष्ण अष्टमी को श्री कृष्ण का जन्म-समारोह मनाया जाता है। भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों में यह पर्व उत्साह पूर्वक मनाया जाता है। स्त्रियाँ प्रातः से रात्रि बारह बजे तक उपवास रखती हैं। बारह बजे कृष्ण-जन्म होने के पश्चात् पूजा करके भोजन करती हैं। इस अवसर पर कृष्ण-जन्म सम्बन्धी भजन एवं गीतों का प्रचलन है। गृह कार्यों से निवृत्त होकर स्त्रियाँ रात के वातावरण में एक साथ बैठ कर पूर्ण तल्लीनता से ये गीत गाती हैं।

भोजपुरी बोली के गीत में कृष्णावतार का उल्लेख प्राप्त होता है—

भादों रैन भयावन चहुँदिसि घन घेरे हो।
शुभ रोहिणी तिथि अष्टमी अद्भुत लाल भइले हो।
शीश मुकुट घनस्याम कुण्डल सोहे कानन हो।
शंख चक्र गदा पद्म चतुर्भुज रूप किये हो।
गदा हाथ महराज भृगु पद उर सोहे हो।
विहँसे बोले भगवान पूरब वरदान ताके हो।
जो तुम कंस सो डरहु जसोदा पहँ धरि आवो हो।
छुटि गइले बंधन जंजीर त खुलि गइले फाटक हो।

---

1. डा० कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० २०३

वसुदेव हरि लिये गोद पहरू सब सोइ गये हो।
किहँ म बालक महराज नात जनि हरषह हो।
ले चल जमुना नू पार कहर नहि सोचहिं हो।
यह सुनि वसुदेवजी बालक लेइ आवहिं हो।
यशोदा के बाजन बधाई सखी सब गावहिं हो ॥ (संगृहीत)

इस गीत में कृष्ण-जन्म से लेकर वसुदेव द्वारा कृष्ण को गोकुल में जाने तक का उल्लेख है।

अवधी क्षेत्र में भी उपर्युक्त भावनाओं से युक्त एक गीत प्राप्त होता है—

ब्रज में जन्म लियो यदुराई।
भादों मास रैन अँधियारी तिथि अष्टमी आई।
दिन बुधवार रोहिणी नखत पूरब चन्द्र प्रकाश जनाई ॥ब्रज में॥
अति आनन्द देवकी मन में पति को लियो बुलाई।
लै जसुदा ढिग जाव पुत्र को वेगहि लेउ छवाई ॥ब्रज में०॥
इतनी सुनि वसुदेव पुत्र को छबला लियो पराई।
घर के सोन चले गोकुल को स्याम घटा झुकि आई ॥ब्रज में०॥
नभ घनघोर जोर जल बरसा जमुना अति घहराई।
पीछे सिंह दहारत आवे वसुदेव गए घबराई। ब्रज में०॥
व्याकुल देखि पिता को हरि ने पाँव दियो लटकाई।
जमुना चरन छुवे स्वामी के तुरतहि गाठिन से हुइ जाई ॥ब्रज में०॥
जमुना उतरि पार गोकुल में वसुदेव पहुँचे जाई।
बालक धराय दियो जसुदा ढिग कन्या लई उठाई ॥ब्रज में०॥
जाय कंस को सुता दिखाई बालक दियो छिपाई।
गोकुल में आनन्द भयो है घर-घर बजत बधाई ॥ब्रज में०॥ (संगृहीत)

कृष्ण के कारागृह में जन्म लेने के पश्चात् गोकुल तक पहुँचने की समस्त घटनाओं का अत्यन्त रोचक वर्णन इस गीत में हुआ है। कृष्ण की सम्पूर्ण जीवन-गाथा भारतीय जन-मन में समाविष्ट है। कृष्ण का व्यक्तित्व लोकानुरंजन में जितना अधिक समर्थ हो सका है उतना किसी का नहीं। कृष्ण की बाल-लीलाएं तथा शृंगारलीलाएं जन-जीवन में अपूर्व आनन्द और उल्लास का सृजन करती हैं।

(६) हरितालिका तीज—

तीज का यह त्योहार स्त्रियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण त्योहार है। भाद्र मास के शुक्ल पक्ष में तृतीया के दिन यह त्योहार मनाया जाता है। गीतों की सुमधुर झंकार से आलोड़ित इस त्योहार पर स्त्रियों का एक छत्र अधिकार है। भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों में समान उमंग और गौरव के साथ यह पर्व मनाया जाता है। हरितालिका तीज का व्रत विशेष रूप से शंकर जी का व्रत है। इस व्रत के साथ शंकर-पार्वती के विवाह की कथा संलग्न है। जिस समय सती अपने पिता दक्ष के यहां अनामंत्रित रूप में चली गयी थीं और वहां शंकर का अपमान देखकर यज्ञ में स्वयं को भस्म कर डाला था, उसी समय उन्होंने भगवान से यह वर मांगा था कि प्रत्येक जन्म में वे

शंकर की दासी बनें। सती का पुनर्जन्म राजा हिमाचल के यहाँ 'पार्वती' के रूप में हुआ। पार्वती के माता-पिता उनका विवाह अन्यत्र न कर दें इस भय से अपनी सखियों के सहयोग से वे एक वन में पहुँच कर शंकर की तपस्या करने लगीं। भाद्रपद शुक्ल तृतीया के दिन पार्वती की उपासना से प्रसन्न होकर शंकर ने उन्हें वांछित वरदान दिया। इस प्रकार शंकर-पार्वती का विवाह सम्पन्न हुआ। पार्वती सखियों द्वारा अपहृत होकर वन में गई थीं इसीलिये इस व्रत का नाम हरिता+अलिका अर्थात् हरितालिका पड़ा।

हरितालिका का व्रत स्त्रियों के अखण्ड सौभाग्य का व्रत है। इसी दिन स्त्री समुदाय में उमंगों का अजस्र सागर लहराता है। दिन भर उपवास रखने के पश्चात् सन्ध्या समय नवीन वस्त्रालंकारों से सुशोभित हो वे गौरी शंकर की पूजा करती हैं एवं निराहार रह कर रात्रि-जागरण करती हैं। रात्रि का वह एकान्तिक वातावरण लोकगीतों और भजनों की मधुर सरसता से आप्लावित होकर दिव्य अनुभूतियों से घिर जाता है। हरितालिका की उस बरसाती रात में गीतों की स्वर लहरियाँ उठकर मन को मुग्ध कर देती हैं।

भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित एक लोकगीत में शिव-पार्वती का गंगा-स्नान हेतु प्रस्थान का वर्णन है—

महादेव चलले गंगा नहाये,
गउरा देइ लेली संग-साथ महादेव।
एक कोसे गइले दोसर कोसे अंतर,
रिमझिम बरसते मेघ महादेव।
महादेव भिजले जटा से झोरी,
गउरा सिरे बूंदा न पड़े महादेव।
मैं तोहे पूछीलें रानी हे गउरा देई,
कवना तपे बूंदो न पड़े महादेव।
सासू के लोअल मैं नाहीं घोंगीला,
ननद के ना परली गारी महादेव।
कातिक नेहइली अगिनि नाहीं तापीले,
बरत करीला अगवार महादेव।
रउरा त ए सिव माई के मारीले,
बहिनी के पारी ले गारी महादेव।

('आज' सा० विशेषांक, १० सितम्बर १९६१, से उद्धृत)

शंकर और पार्वती गंगास्नान को जा रहे हैं। मार्ग में एक दो कोस चलने पर वर्षा होने लगती है। शंकर की जटा और झोली भीगने लगती है पर पार्वती के ऊपर जल की एक बूंद नहीं गिरती। शंकर विस्मित होकर इस अस्वाभाविक घटना का कारण पूछते हैं। पार्वती का उत्तर है कि सास और ननद के प्रति कर्तव्य पालन, विधिपूर्वक कातिक-स्नान तथा व्रत-साधन के कारण ही वर्षा का उन पर कोई आतंक नहीं होता। शंकर अपनी माता एवं बहन का तिरस्कार करते हैं, इसलिए मेघ का जल उन पर पड़ रहा है।

गीतों के स्पष्टीकरण से असम्पन्न ग्राम्य-परिवार के पुरुष वर्ग द्वारा नारी-जाति पर किए जाने वाले अत्याचारों का स्वरूप पूर्ण रूपेण स्पष्ट हो उठता है।

हरितालिका व्रत के अतिरिक्त अन्य ग्राम-गीतों में सम्मिलित हो गाए जाते हैं। अवधी क्षेत्र में भी इन गीतों का प्रचुर प्रचलन है।

एक अवधी गीत में पार्वती के साथ विवाह करने के लिये प्रस्तुत शंकर का वर्णन है—

गौरा बियाहन आये भोला अब गौरा बियाहन आये।
बाजन-बाजन एको न देखो, डमरू बजाइ चले आए।
बनरी पलकी एको न देखो, बनहा बरद चढ़ि आए।
गहना गुरिया एको न देखो रुंड माल पहिन आए।
मौर औ कलगी एको न देखो जटा-जूट धरि आये। (संगृहीत)

लोकगीतों में शंकर को एक असामान्य एवं अस्वाभाविक चरित्र के रूप में चित्रित किया गया है। समस्त मनोरंजक कल्पनाओं एवं घटनाओं को शंकर के चरित्र से सम्बद्ध करके, लोक के समक्ष उनका एक निराला स्वरूप उपस्थित किया जाता है।

एक भोजपुरी गीत में भी शंकर के हास्यास्पद वर रूप का चित्रण किया गया है—

बसहा चढ़ल शिव के अइली बरियतिया राम।
डेराला बियरा अगवा लपटइले बाटे मार।
अंग में बिभूति सोभे, गले मुंडमाला राम।
डेराला बियरा नागवा छोड़ेला फुफकार।
मन में बिचारे मैना गउरा अति सुन्दर राम।
डेराला बियरा बरवा मिलिले बउराह।
नारद बाबा के हम काहीं न बिगड़ना राम।
डेराला बियरा बरवा खोजिले अनगाह।
अइसन बउरहवा से हम गउरा न बिहवा राम।
डेराला बियरा बरु गउरा रहिहें कुँआरि। (भो० ग्रा० गी० पृ० १६६)

शंकर की बारात आ गई है। बैल पर सवार वर को देख कर जो अंगों में भभूत रमाए, सर्पों को लपेटे गले में मुंड माला पहन बावला सा प्रतीत होता है, मैना-वती चिन्तित हो जाती है। वे प्रण करती हैं कि इस पागल से पार्वती का विवाह नहीं करेंगी चाहे ही उन्हें आजन्म अविवाहिता ही रहना पड़े।

एक अवधी गीत में ससुराल में आए हुए शंकर के साथ स्त्रियों के हास-परिहास का सुन्दर वर्णन हुआ है—

शिव शंकर चले ससुरारी जी भोले बाबा चले ससुरारी जी।
जाइ के पहुँचे हिमाचल नगरी सासु उतारें आरती जी।
सखी निरखें मन ही मन मुसकावें भोले बाबा नाचत बनरा जी।
छप्पन भोजन परसन सखियाँ, मेढुकन किहन कलेवो जी।

हँसि-हँसि पूँछहि गंगा रे जमुना काहे चले ससुरारी जी।
की मइया तुम्हरी घर मोरे आई, खोरिजन बहिनी मिसारी जी।

(सं० गी० पृ० १८३)

शंकर जी ससुराल जाते हैं। हिमाचल-नगरी मे पहुँचते ही उनकी सास आरती उतारती है। सखियाँ मेवा, मिष्टान्न, छप्पन प्रकार के भोजन तथा घी परोसती हैं पर भोलानाथ को यह सब पसन्द नहीं आता है, वे धतूरा मांगते हैं। गंगा और यमुना नाम की सखियाँ उनसे परिहास करती हुई पूछती हैं कि वे उस नगर मे क्यों अपनी माता और बहिन को खोजने के लिए आए हैं। इस प्रकार शंकर-पार्वती-विवाह के गीतों को गा-गा कर स्त्रियाँ अपने मनोनुकूल पति को जन्म-जन्मान्तर मे पाने की याचना करती हैं।

(७) नवरात्रि अथवा दुर्गोपासना के गीत—

आश्विन माह मे शुक्ल पक्ष प्रतिपदा से दुर्गा-पूजन हेतु नवरात्रि व्रत किया जाता है। इस व्रत में नौ दिन तक भगवती दुर्गा का पूजन तथा एक समय फलाहार का व्रत धारण किया जाता है। अष्टमी के दिन दुर्गा का विधि पूर्वक पूजन कर नवरात्रि की पूर्णाहुति की जाती है। शक्ति पीठों मे इस दिन विशाल उत्सव मनाया जाता है। शक्ति-सम्प्रदाय में शक्तिरूपा देवी की उपासना विभिन्न नाम रूपों से की जाती है। शक्ति के मुख्य नौ रूप इस प्रकार हैं—(१) महाकाली (२) महालक्ष्मी, (३) महासरस्वती (४) योगमाया (५) रक्तदंतिका (६) शाकम्भरी (७) दुर्गा (८) भ्रामरी (९) चंडिका। इनके अतिरिक्त देवी को शीतला, भवानी, जालिपा, जगदम्बा, विन्ध्यवासिनी, संकटा आदि अनेक संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है।

ग्राम्य संस्कृति मे देवियों का अत्यन्त श्रेष्ठ स्थान है। साक्षात् शिव भी उनकी आरती उतारते हैं। जीवन के प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य के शुभारम्भ मे देवी-आराधना के गीत अवश्य गाये जाते हैं।

नव-रात्रियों मे देवी के गीत गाने की रीति भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों मे समान रूप से प्रचलित है। इन गीतों मे भक्ति-भावना की सरसता व्याप्त रहती है। देवी की अपूर्व महिमा के समक्ष भक्त हृदय का दैन्य दुःख और करुणा अभिव्यक्त होती रहती है। भक्त अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए देवी के चरणों मे श्रद्धावनत होकर तब तक बैठा रहता है जब तक देवी प्रसन्न नहीं हो जाती। अन्त मे कल्याणमयी देवी शरणागत की मनोकामना पूर्ण करती है। भक्त की विश्वास भावना सफल होती है।

एक भोजपुरी गीत मे देवी के भोग के लिए उपासक के द्वारा सामग्री-सचयन का उल्लेख किया गया है—

लेई आउ सकर लडुवा आरे लेइ आउ दुधवा हो।
आरे लेइ आउ लौंली बकेठवा, जइबों मइया दुरिया हो।
काहाँ पइबों सकर लडुवा काहाँ पइबों हम दुधवा हो।
आरे काहाँ पइबो लौंली बकेठवा, जइबु मइया दुरिया हो।
हलुवइया घर के सकर लडुवा आर अहिरा घर के दुधवा हो।

आरे छनिरो घर के नीनी बछेड़वा, जइट मइया दुरिया हो।
बान्हूल बाड़े पाकर लड़ुवा आरे अवरन बाड़े दुधवा हो।
आरे लिहिनी बाड़ी निनी बछेड़वा, जइवु मइया दुरिया हो।

(भो० लो० गी० पृ० ३४८)

इस गीत में देवी एवं भक्त के मध्य वार्तालाप नियोजित किया गया है। देवी स्नान के लिए शक्कर के लड्डू, पीने के लिए दूध और चढ़ने के लिये नीली घोड़ी की मांग करती है, क्योंकि उन्हें दूर जाना है। भक्त के पूछने पर वह बताती है कि हलवाई के घर लड्डू, अहीर के घर दूध और छत्री के घर नीली घोड़ी प्राप्त होगी। भक्त, शक्कर के बंधे हुए लड्डुओं, औटे हुए दूध और नीली घोड़ी को लेकर माता की सेवा में उपस्थित होता है और उन्हें सन्तुष्ट करता है।

देवी को सन्तुष्ट करना साधक का धर्म है। अपना-अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह देवी के मनोनुकूल समस्त उपकरणों को जुटाने की चेष्टा करता है। अनुकूल उपासना पाकर देवी भक्त पर प्रसन्न हो उठती हैं—

तुम मेरी मन मोहनि अबला,
तुम मेरी मउ मोहव माय।
खोलो केवड़िया, दरस देउ अबला।
ठाढ़ी द्वार दुआर हो माय।
जो मोरी अबला के अछत चढावै
मा र मोतिन फल पावइ हो माय।
जो मोरी अबला के सेन्दुरा चढावै,
जनम जनम अहिवात हो माय।
जो मोरी अबला के नरियर चढावै,
सो रे पूत फल पावइ हो माय।
दरसन से प्रसन्न यह अबला
देउ विदा घर जाउ हो माय।
तुमका सेवा जऊ तुमरे जन का सेवाजऊं,
तुम हम पर दहिन-दयाल हो माय।
तुम मोरी मन-मोहनि अबला,
तुम मेरी मन मोहव माय॥

(संस्कार गीत पृ० १७)

अक्षत, सिन्दूर और नारियल से देवी की पूजा होती है। देवी का कोई भक्त पूजा की सामग्री ले कर उनके द्वार पर खड़ा है। अक्षत चढ़ाने से रत्न-पदार्थ प्राप्त होते हैं, सिन्दूर चढ़ाने से अखंड सौभाग्य प्राप्त होता है और नारियल चढ़ाने पर सन्तान लाभ होता है। मन-मोहिनी देवी अपने उपासक की समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करती हैं।

देवी का सर्व मंगलदायक, कल्याण-विधायक, समस्त मनोरथों का पूरक स्वरूप भक्तों के लिए चिर उपास्य है। एक भोजपुरी गीत में देवी के ऐसे ही स्वरूप की व्यंजना की गई है—

काहे लागी ठाढ़ भइलो बारी भगतिया ए मइया।
अबाला मोरी जोगिनिया ए मइया, काहे लागी ठाढ़ ॥१॥
जस लेहु ठाढ़ भइलो बारी भगतिया ए मइया पूत लागी ठाढ़।
आकाला मोरी मन रान्हिनी मइया के पूत लागी ठाढ़ ॥२॥
अन्हारा के आँख देहु कोढ़िया के काया देहु, बाँझिन के पूत देहु जो।
जस लेहु जस लेहु भगतिया ए मइया पूत लागी ठाढ़ ॥३॥

(भो० लो० गी० पृ० २५०)

देवि माता के द्वार पर भक्तिनों का समूह खड़ा है। देवी उन सबसे खड़ी रहने का कारण पूछती है। एक भक्तिन उत्तर देती हुई कहती है कि वे सब पुत्र की कामना लेकर खड़ी हैं। माता से उस भक्तिन का अनुरोध है कि सबकी मनोकामना पूर्ण करके यश प्राप्त करें। अंधों को आँखें, कोढ़ी को सुन्दर शरीर और वंध्या को पुत्र देकर, देवी यश लाभ करती है। यहाँ देवी का भक्त-वत्सला वरदान-मय स्वरूप अभिव्यक्त किया गया है।

[1] अवधी क्षेत्र में देवी के गीत विशाल संख्या में प्राप्त होते हैं। देवी के वरदान-मय स्वरूप की व्यंजना अवधी गीतों में बड़ी सुन्दरता से हुई है—

लाले लाले घोड़वा मइया लाल असवार,
तेहि चढ़ि आवइँ जगतारनि माय।
की मइया उतरहि बाग-बगैचा,
की मइया उतरहि फुलवारि।
ना मइया उतरहि बाग-बगैचा,
ना उतरहि फुलवारि।
मइया मोरी उतरे गंगा के किनरवा,
करैं लागीं गंगा असनान।
नहाइ-धोइ मइया ठाढ़ी भई हैं,
देवैं लागी बम्हना के दान।
बम्हना के दिहिन मइया सोने का जनेउआ,
बम्हनी का अचल सिंधोर।
भटवा का दिहिन मइया चढ़न का घोड़वा,
भटिनी का लहर पटोर।
बूढ़े का नेवाजिन ज्वान का नेवाजिन,
बालका नेवाजिन आई माय।
सूल का पेर मइया, कोढ़िया का काया,
मनई का दिहिन जोबन-दान।

(सोहाग गी० पृ० १२-१३)

लाल खुरों वाले लाल वर्ण के घोड़े पर सवार होकर जगतारणि माता आती है और गंगा के किनारे उतरती है। गंगा में स्नान करने के पश्चात् माता याचकों को दान देती हैं। वे ब्राह्मण को सोने का जनेऊ, ब्राह्मणी को अखण्ड सुहाग, भाट को घोड़ा और भाटिन को परिधान दान करती हैं। समस्त वृद्ध, युवा और बालकों को

इस गीत में स्त्रियों के द्वारा गाँव के श्रेष्ठ व्यक्ति, कायस्थ, सुनार एवं ब्राह्मण को अभिशप्त किया जा रहा है। स्त्रियाँ सबकी मृत्यु की कामना कर रही है।

एक अन्य भोजपुरी गीत में शाप देने के पश्चात् एक बहन अपने भाई की दीर्घायु की कामना करती है—

कवन भइया चलले अहेरिया
कवन बहिनी देली असीस हो ना।
जियसु रे मोर भइया
मोरा भउजी के बाढ़े सिर सेनुर हो ना।
मोहन भइया चलले अहेरिया
पारवती बहिना देलीं असीस हो ना।
जियसु रे मोर भइया
मोर भऊजी के बाढ़ें सिर सेनुर ना॥
(भो० ग्रा० गी० पृ० ८६)

इस गीत में भाई के प्रति एक बहन की मंगल-कामना अत्यन्त सुन्दर है। हृदय के सम्पूर्ण स्नेह को वाणी में उँडेल कर वह कहती है—

'जियसु रे मोर भइया, मोर भऊजी के बाढ़ें सिर सेनुर ना।'

(६) पिड़िया के गीत—

पिड़िया का व्रत एक मासिक व्रत है जो कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा में आरम्भ होकर अगहन शुक्ल प्रतिपदा को समाप्त होता है। यह व्रत भी भाई-बहन के प्रेम सम्बन्ध की दृढ़ता का परिचायक है। कुमारी कन्याएँ एवं विवाहिता स्त्रियाँ गोबर से दीवाल पर मनुष्यों की अनेक आकृतियाँ बनाती हैं जिन्हें 'पिड़िया लगाना' कहते हैं। प्रतिदिन प्रातः काल इनकी पूजा करके पिड़िया की कथा सुनी जाती है तत्पश्चात् भोजन किया जाता है। रात्रि में पिड़िया के स्थान पर गीत गाए जाते हैं। एक महीने तक यह क्रम नियमित रूप से चलता रहता है। अन्तिम दिन स्त्रियाँ नये चावल और नये गुड़ से बनी खीर खाती हैं। खाते समय किसी भी प्रकार का शब्द सुनना निषिद्ध माना जाता है अतः स्त्रियाँ कानों में रुई लगा लेती हैं।

पिड़िया का व्रत भोजपुरी प्रदेश में अधिक प्रचलित है। पिड़िया के गीतों में भाई-बहन का अटूट प्रेम वर्णित है। एक भोजपुरी गीत में पिड़िया की पूजा के लिये तत्पर बहन के लिए भाई के सहयोग का वर्णन है—

कवन भइया उठेले रतिया बिरतिया, अवरु अधिरतिया ए हरी।
आरे कवन बहिना उठेली भिनुसार ए हरी।
राम भइया उठेले रतिया बिरतिया अवरु अधिरतिया ए हरी।
आरे पारवती बहिना उठेली भिनुसार ए हरी।
आरे कवन बहिना लावेली गोबर के रे पिड़िया।
आरे कवन भइया लावेले नवरंगिया ए हरी॥
पारवती बहिना लावेली गोबर के रे पिड़िया।
आरे राम भइया लावेले नवरंगिया ए हरी॥ (भो० ग्रा० गी० पृ० ६१)

पिंड़िया का महान व्रत आ गया है। भाई-बहन दोनों ही उत्साह पूर्वक इस व्रत की सम्पन्नता में भाग लेते हैं। राम नामक भाई आधी रात में ही उठकर पूजा के लिये फूल लाता है और बहन प्रातःकाल उठकर पिंड़िया लगाती है। भाई-बहन के पारस्परिक प्रेम और सहयोग की व्यंजना इस गीत में हुई है।

एक अन्य भोजपुरी गीत में भाई के आगमन से उत्पन्न बहन के हार्दिक उल्लास का मधुर चित्रण प्राप्त होता है—

> कवन फुलवा फुलेला हरदिया अइसन ना, ए गुलाब अइसन ना।
> कान्हेंमें कवन भइया पगरिया के पेंचवा ना, ए पगरिया के पेंचवा ना।
> चलि भइया बहिनिया के देसवा ना ए बहिनिया के देसवा ना।
> गाँव केरा लोग कहेला हवलदार अइले ना, ए सुबिदार अइले ना॥
> कहेली 'कवन' बहिना हमार भइया अइले ना, ए हमार भइया अइले ना॥
>
> (भो० ग्रा० गी० पृ० ६२)

कोई भाई अपनी बहन से मिलने की उमंग लेकर उसके गाँव में पहुँचता है। उसकी वेश-भूषा से प्रभावित होकर गाँव के व्यक्ति उसे हवलदार या सूबेदार समझते हैं। किन्तु बहन जैसे ही उस नवागन्तुक को देखती है आनन्द-विह्वल होकर कहने लगती है—'मेरा भाई आया है।' अत्यन्त सुन्दर एवं सात्विक अभिव्यक्ति इस गीत में हुई है।

(१०) षष्ठी माता के गीत—

षष्ठी का व्रत कार्तिक मास में शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथि को किया जाता है। यह व्रत मुख्य रूप से स्त्रियों का है परन्तु पुरुष भी इसे करते हैं। भोजपुरी प्रदेश में यह पर्व अत्यन्त धूम-धाम से मनाया जाता है और वर्ष के श्रेष्ठतम पर्वों में अपना स्थान रखता है। अवधी क्षेत्र में इस व्रत का व्यापक प्रचार नहीं है। भोजपुरी क्षेत्र के निकटवर्ती कुछ अवधी जनपदों में कहीं-कहीं इसका प्रचलन पाया जाता है।

भोजपुरी प्रदेश में इस पर्व की बड़ी महिमा है। समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला यह व्रत अत्यन्त कठिन विधियों के मध्य सम्पन्न होता है। एक बार यह व्रत आरम्भ करने के पश्चात् कभी छोड़ा नहीं जा सकता। इसमें दो दिन का निर्जला उपवास करना पड़ता है। पंचमी के दिन एक बार बिना नमक का भोजन करके व्रत आरम्भ कर दिया जाता है। षष्ठी को संध्या समय सूर्य को अर्घ्य दिया जाता है। इस अवसर पर बड़े-बड़े डाला (बाँस की टोकरी) में विविध पकवान, फल आदि भर कर किसी नदी या तालाब के किनारे स्त्रियाँ लेकर जाती हैं और वहाँ सूर्य को अर्घ्य देती हैं। मार्ग में 'छठ माई' के गीतों की गूँज उठ कर सम्पूर्ण वायु मण्डल को पावन कर देती है। सप्तमी को प्रातः वेला में भी सूर्य को अर्घ्य दिया जाता है। गीतों के स्वरों को बिखेरता हुआ स्त्रियों का समूह अर्द्ध रात्रि को ही नदी की ओर चल देता है। दीपों की जगमगाहट में नदी के दोनों किनारे प्रदीप्त हो उठते हैं। सभी स्त्री-पुरुष कमर तक जल में खड़े होकर, दो दिन के उपवास से शिथिल शरीर के साथ तीन-चार घण्टे हाथ जोड़े सूर्योदय की प्रतीक्षा करते हैं। सूर्योदय होने पर अर्घ्य देने के पश्चात् व्रत समाप्त हो जाता है।

स्त्रियाँ अनेक दिन पूर्व ही 'ठेकुआ' (विशेष पकवान) आदि बनाने के लिये गेहूँ को धोने, सुखाने एवं पीसने का कार्य आरंभ कर देती हैं। इन सब अवसरों पर वे समूह-बद्ध होकर गीत गाया करती है। इन गीतों में 'छठ माता' की महिमा और उपासक की दीनता अंकित रहती है।

एक भोजपुरी गीत में एक स्त्री अपने पति एवं पुत्र की कुशलता के लिये छठी माता को प्रसन्न करने का उपक्रम कर रही है—

कलसुपवा चढ़इबो छठिय मइया, छठी मइया के सुहाग।
लोरिया रउरी बाहारो धन सम्पत्ति हमरा के दी॥
अमरुधवे चढ़इबो छठिय मइया छठी मैया के सुहाग।
लोरिया रउरी बाहारो पुतवा भीखि दी।
मुरई चढ़इबो छठिय मइया, छठी मइया के सुहाग।
लोरियारउरी बाहारो मातार के भीखि दी॥ (भो० लो० गी०) पृ० ३३२

छठ माता की पूजा के लिये फल एवं पकवानों से युक्त कलसूप चढ़ाने की प्रथा है। गीत में माता की कोई उपासिका अमरूद और मूली चढ़ाने तथा माता को गली बुहारने का संकल्प करती हुई अपने पुत्र एवं पति की रक्षा की याचना कर रही है—

एक अन्य भोजपुरी गीत में सूर्य का अर्घ्य देने के लिए तत्पर एक उपासिका स्त्री की व्याकुलता प्रकट हो उठी है—

आरे गोड़े खरउवा ए आदितमल, लिलवा लिलार।
आरे हाथावा मे सोवरन सोंटी ए आदितमल अरघ दिआउ॥१॥
ए आमा के कोरा सूते ले आदितमल भोरे हो गइल बिहान।
आरे हाली हाली उग ए आदितमल, अरघ दिआउ॥२॥
फालावा फूलवा ले ले मालिनि बिटिया ठाढ़।
आरे हाली हाली उग ए आदितमल, अरघ दिआउ॥३॥
दूधवा घिउवा ले ले गवालिनि बिटिया ठाढ़।
आरे हाली हाली उग ए आदितमल, अरघ दिआउ॥४॥
धूपवा जलवा रे ले के बाभानवा रे ठाढ़।
आरे हाली हाली उग ए आदितमल, अरघ दिआउ॥५॥
गोड़वा दुखइले रे डाड़वा पिराइले कब से जे पानी दुम ठाढ़।
आरे हाली-हाली उग ए आदितमल, अरघ दिआउ॥६॥

(भो० लो० गी०) पृ० ३३४

नदी के जल मे खड़ी हुई, स्त्री सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रही है। चरणों मे पादुकाएं धारण किए, मस्तक मे तिलक लगाये और हाथ मे सोने की छड़ी लिये सूर्य के उदय होने पर अर्घ्य देना चाहती है। उसका अनुमान है कि सूर्य अपनी माता की गोद मे सो रहा है अतः वह उसे प्रात:काल होने की सूचना देते हुए शीघ्र उदित होने का आग्रह करती है फल और फूल लेकर मालिनि खड़ी है, दूध और घी लेकर ग्वालिन खड़ी है, धूप और जल लेकर ब्राह्मण खड़ा है, फिर भी सूर्य अभी तक उदय नहीं हो रहा है। पूजा के लिए आई हुई स्त्री खड़ी-खड़ी थक गई है उसके पाँव दुख रहे है, कमर मे भी पीड़ा हो रही है। वह सूर्य से शीघ्र उदय होने की प्रार्थना करती है।

इस गीत में पीड़ा, कष्ट और व्याकुलता, मिश्रित भक्ति-भावना का अत्यन्त सुन्दर निरूपण हुआ है।

उपासना

लोक-जीवन में अनेक गीत ऐसे भी हैं जो किसी विशेष धर्मानुष्ठान से सम्बन्धित नहीं हैं और नित्य प्रति गाये जा सकते हैं। प्रत्येक धर्म-प्रवण हिन्दू अपने दैनिक जीवन का कुछ अंश भगवत्कार्यों में अवश्य व्यय करता है। ईश्वरोपासना सम्बन्धी गीत या भजन उसके नित्य-प्रति जीवन में व्याप्त रहते हैं। इन गीतों में ईश्वर के भिन्न-भिन्न स्वरूपों की अभिवन्दना रहती है। विभिन्न देवी तथा देवताओं के प्रति अभिव्यक्त भक्त हृदय की श्रद्धान्वित भावनाएँ इन गीतों का मूल विषय है।

भोजपुरी प्रदेश में उपासना सम्बन्धी गीतों को भजन, पचरा, पराती एवं निर्गुण संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। भजनों में विभिन्न देवी-देवताओं के प्रति भक्ति-भाव की व्यंजना रहती है। पचरा और भजन के वर्ण्य-विषय में पूर्ण साम्य होता है। प्रातःकाल गाये जाने वाले धार्मिक गीतों को पराती कहते हैं। निर्गुण के अन्तर्गत आत्मा-परमात्मा-विषयक रहस्यवादी भावनाओं का निरूपण रहता है।

अवधी क्षेत्र में भी उपासना सम्बन्धी गीतों और भजनों को एक विशाल संख्या में उपलब्धि होती है। इन भजनों और गीतों में मुख्य रूप में राम, कृष्ण, शंकर गणेश सूर्य, गंगा और तुलसी की उपासना रहती है स्त्रियाँ नित्य प्रातःकाल स्नानादि कार्यों से स्वच्छ होकर तुलसी पर जल चढ़ाती है और सूर्य को अर्घ्य देती हैं। ऐसे अवसरों पर वे तुलसी और सूर्य सम्बन्धी भजन गाती हैं। गंगा-स्नान के लिए जाते समय गंगा मैया के गीत गाये जाते हैं। भक्ति-भाव से प्रेरित होकर ईश्वर-स्मरण के रूप में अनेक गीत गाने की प्रवृत्ति भी लोक-समुदाय में प्राप्त होती है। ईश्वर के विविध रूपों के प्रति जन-मन में अपूर्व आस्था होती है, जो गीतों के स्वरों में नित्य प्रति ढलती रहती है।

(१) गंगा माता के गीत—

गंगा के साथ युग-युग से भारतवासियों का अविच्छिन्न आध्यात्मिक सम्बन्ध जुड़ा आ रहा है। देव-लोक निवासिनी इस पवित्र वारि-धारा को भू पर लाने का श्रेय राजा भगीरथ को है। लोक-वाणी में भगीरथ के इस पवित्र उपक्रम की अभिव्यक्ति अत्यन्त सुन्दर ढंग से हुई है—

मातु गंगा लागि भगीरथ बेहाल ॥
कोई नीपे अगुआ त कोई पिछुआर ॥
भगीरथ नीपे छथि शिव के दुआर ॥
कोई तोड़े फूल कोइ बेल-पत्र,
भगीरथ तोड़े छथि शिव के बेयान ॥
कोई मांगें अन्नधन कोई धेनु गाय ॥
भगीरथ मांगें छथि गंगा जी के धार ॥
आगु आगु भगीरथ भागत जाथि ॥
पिछु पिछु सुरसरि परसल जाथि ॥

(क० कौ०) पृ० ८६६

गंगा-शक्ति स्वरूपा है। वह शरणागतों के पापों का उद्धार करके उन्हें मुक्ति-पथ प्रदर्शित करती है। एक भोजपुरी गीत में गंगा-स्नान के महत्व का उल्लेख किया गया है—

> मीलहु सखिया रे मीलहु सहेलिया, आरे सुन मलिया, चलु देखे—
> गंगा जी के लहरिया।
> देस देस जात्री अइहे राजा अइहें नयपालवा।
> आरे सुनु मलिया चलु देखे गंगा के लहरिया।।
> गंगा नहइले मे पाप कटित होइहैं निरमल होइहैं देहिया।
> आरे सुनु मलिया चलु देखे गंगा जी के लहरिया।।
>
> (भो० लो० गी० पृ० ४५१)

उपासना कार्य में गंगा-तट की पवित्र मिट्टी तथा गंगाजल का उपयोग किया जाता है। गंगाजल के अभाव में किसी भी देवता की पूजा पूर्ण नहीं हो सकती। एक भोजपुरी गीत में भगवती के उपासना-गृह को गंगाजल एवं गंगा की मिट्टी से स्वच्छ बनाने का वर्णन प्राप्त होता है—

> आरे गंगाजी के गंगिबरि[1] माटी।
> त अवरु गंगाजल हो।
> ए मइया हाथवा लिपइले घरु लिपइत।
> त रउरा चिते दाया नाहि हो।। (भो० ग्रा० गी० पृ० ३५७)

गंगा के नियमित सेवन अर्चन से भक्तों की मनोकामनाएं सिद्ध हो जाती हैं। एक अन्य भोजपुरी गीत में सन्तान-प्राप्ति के लिए गंगाराधना में लीन नारी का चित्रण किया गया है—

> गंगा के ऊंच आरारवा चढ़त डर लागेला हो।
> ताही चढि कोसिला नहाला मुकुती बनावेली ।।१।।
> हंसि के जे बोलेली गंगाजी, सुनु ए कोसिला रानी।
> ए कोसिला कवन सकट तोहरा परले मुकुती बनावेली हो ।।२।।
> सोनवा ए गंगाजी ढेर आटे रुपवा के पूछेला।
> मोरा रे समतलिया के साध सनतति हम चाहिले हो ।।३।।
>
> (भो० लो० गी० पृ० १११)

कौशल्या नामक स्त्री गंगा के ऊंचे और भयंकर किनारे पर चढ़ कर स्नान कर रही है। गंगा उससे पूछती है कि किस संकट के कारण वह इतनी कठिन मुक्ति-साधना कर रही है। धन-सम्पत्ति की उपेक्षा करती हुई कौशल्या उत्तर देती है कि उसे केवल सन्तान की कामना है।

मातृत्व के लिये आकुल नारी के सम्मुख सोना-चांदी का विशाल ढेर कोई महत्व नहीं रखता। गीत की अन्तिम दो पंक्तियों में नारी हृदय का सत्य मार्मिकता पूर्वक व्यंजित हो उठा है।

---

1. गंगा की नई मिट्टी।

अवधी लोकगीतों में भी गंगा का अपूर्व माहात्म्य है। यह समस्त प्राणियों को आवागमन के बन्धनों से मुक्त करने वाली पवित्र शक्ति है। एक अवधी गीत में गंगा की आरती करते हुए उसकी अद्भुत महिमा का वर्णन किया गया है—

> आरती गंगा जीव तुम्हारी।
> भरि के कमण्डलु भगीरथ आये।
> सब देवतन के सिरे चढ़ाये।
> करि असनान निर्मल भये मनुआ।
> छूटि जात आवागमन के तनुआ।
> सब तिरथना की गंगा पटरानी।
> नारद सारद वेदु बखानी॥ (अ० लो० प० पृ० ७९)

गंगा की पावन हिलोर लोक-नायिकाओं के हृदय में उतर कर भावनाओं का वेग उत्पन्न करती है और गीतों के मोती उनके सरल मानस-तट पर जगमगाने लगते हैं।

(२) तुलसी माता के गीत—

तुलसी वृक्ष की उपासना भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत देवी रूप में होती है। जन-मन की भावनाओं में तुलसी का स्थान 'माता' के समान है। हृदय की सम्पूर्ण पवित्रता एवं शुद्धता के साथ तुलसी माता की पूजा की जाती है। प्रत्येक आस्तिक हिन्दू परिवार के घर के अन्दर एक 'तुलसी चौरा' रहता है। कार्तिक मास में तुलसी-पूजा का विशेष महत्व है और बड़ी धूम-धाम से तुलसी का विवाह किया जाता है। वैसे प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करने के पश्चात् स्त्रियाँ तुलसी पर जल चढ़ाती हैं। तुलसी पूजा के द्वारा मनोवांछित फल प्राप्त होता है। आस्था एवं विश्वास और भक्ति से पूर्ण एक अवधी विवाह गीत है जिसमें तुलसी की आराधना के कारण सीता को राम के समान सुन्दर एवं योग्य वर की प्राप्ति हुई है—

> मचिया बैठी सीतल रानी सखिया सब पूछैं,
> कौना किहेव व्रतनेम रमइया वर पायेव।
> कातिक मास नहायवे, सुरज गइया लागेव,
> तुलसी दियना मैं बारेव रमइया वर पायेव।
>
> (लो० गी० की सामाजिक व्याख्या पृ० ११२)

तुलसी-वृक्ष के प्रति भारतीय परिवारों में विशेष श्रद्धा-भाव पाया जाता है। प्रत्येक घर में तुलसी के प्रति पवित्र मनोभावना रखने वाले व्यक्तियों के दर्शन होते हैं। लोक-मन में यह पवित्रता एवं श्रद्धा उत्कट रूप से प्राप्त होती है। इसी पवित्रता से अभिभूत होकर एक लोक-गायक कह उठता है—

> छोटी मोटी तुलसी गछिया लम्बी-लम्बी पतिया
> फरे फूले तुलसी सोहावन रे।

भोजपुरी लोकगीत में एक नायिका तुलसी के जन्म-स्थान और विवाह-स्थान (ससुराल) को जानना चाहती है।

कहवाँहि तुलसी के नइहर, कहवाँहि सासुर ए राम ॥१॥
कहवाँहि तुलसी जनमली, त के बरी रोवेला ए राम ॥२॥
बिरिदावने तुलसी के नइहर, गोखुला हवे सासुर ए राम ॥३॥
मथुरा मे तुलसी जनमनो, मलहोरिया[1] जरी[2] रोवेला ए राम ॥४॥

(भो० ग्रा० गी० पृ० ५५)

तुलसी का जन्म मथुरा मे हुआ, नैहर, उनका वृन्दावन मे है और ससुराल गोकुल मे है। तुलसी-वृक्ष की जड में उसका उपासक माली अभाव-ग्रस्त अवस्था में बैठा रो रहा है।

अन्यत्र एक गीत मे तुलसी की महत्ता से अभिभूत होकर कोई स्त्री कहती है कि वह स्वयं तुलसी की माला बन जायगी जिससे उसका पति भी उसे जपेगा और तुलसी की पत्ती बन कर वह प्रभु के शीश पर चढ़ेगी—

आरे होइ जाइबि तुलसी के मनिया त जपिहैं नारायन ए राम ॥५॥
आरे होइ जाइबि तुलसी के पतिया त ठाकुर सिर चढ़बि ए राम ॥६॥

(भो० ग्रा० गी० पृ० ५५)

देवोपासना के अवसर पर तुलसी-दल की अनिवार्यता सर्व-विदित है। एक अवधी लोक-गायक तुलसी की महिमा का गान करता हुआ कहता है—

तुलसी महारानी नमो नमो।
सहसदल लोहुरे रानी तुलसी,
एक दल देव हूमैं महा पटरानी।
धूप दीप मलयागिरि चन्दन,
फूलन का बरसाना।
छप्पन भोग धरा प्रभु आगे,
ना भावे बिना तुलसी।
धनि-धनि भागि तुम्हारी रानी तुलसी
मलिक गरे लपटाय रह्यो
तुलसीदास बलि आस चरन की,
हरि के चरन चित लाय रह्यो।
तुलसी महारानी नमो नमो।

(लो० रा० पृ० १६-२०)

तुलसी की महिमा अपार है। साक्षात् विष्णु उनके स्वामी हैं। हरि की पटरानी होने के कारण घर-घर में उनकी पूजा होती है। स्त्रियाँ तुलसी का पौधा बड़े उत्साह से लगाती हैं, नित्य जल से उसे सींचती हैं और रात में दीप जला कर उनके प्रति अपने हृदय की सम्पूर्ण निर्मलता समर्पित कर देती हैं।

---

1. माली
2. जड़।

के 'गीतों को कहरवा' कहा जाता है। वैवाहिक उत्सवों में नाचते समय भी ये लोग गीत गाते हैं। कहारों के नृत्य में 'हुडुक' नामक बाजा बजता है।

एक भोजपुरी कहरवा में कोई स्त्री कहार के बेटे से गीत गाने का अनुरोध करती है—

लचकति आवेला बाँस मे कहरवा रे ना।
दइया कहरन आवेले कहारा के पुतवा रे ना।
गोड तोरा लागिले कहारा क बेटवा रे ना।
दइया अपनी गजलिया मोहि सुना देहु रे ना।
जो तुहु रनिया रे सुनबू गजलिया रे ना।
रनिया मकर लड्डुवा मोहि लिया देहु रे ना।
हमरो लडुआ रे बिखिया[1] के मातल रे ना।
कहारा जे खाला से हो मारि जाला रे ना।
सहरो हि लडुआ रानी बिखिया के मातल रे ना।
तहरो बिअहुता[2] कइसे जियेला रे ना।
हमरो बियहुआ हवे बडा रे निमनिया[3] रे ना।
उनका त लडुआ नीमन ना लागेला रे ना। (भो० ग्रा० गी०) पृ० ३४१

बाँस की लचकती हुई बहिर पर बैठी हुई एक स्त्री कही जा रही है। भार से लदा हुआ कहार का बेटा कराहने लगा है। स्त्री कहार के बेटे से कोई गीत सुनाने का आग्रह करती है। इस पर कहार का बेटा बदले में लड्डू खाने की शर्त रखता है। स्त्री लड्डू नहीं देना चाहती है इसलिए उसमें विष होने का बहाना करती है। कहार का बेटा अत्यन्त चतुर है वह पूछता है कि लड्डुओं में विष है तो उसका पति उन्हें खाकर कैसे जीवित रहता है। स्त्री भी बहाने बनाने में कम चतुर नहीं है। वह उत्तर देती है कि उसके पति को लड्डू अच्छे नहीं लगते, इसलिए वह कभी खाता नहीं।

अवधी क्षेत्र में प्रचलित एक कहरवा में हरिण और हरिणी के पारस्परिक प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है—

सोचमन काहे क करी, मोरे मालिक श्री भगवान।
जहाँ खेत निस रैन बसेरा बधिक लगावत फाँस।
कूदि फादि के हरिनी निसरि गै, हरिन के परिगा फाँस।
उही पार ते हरिना पुकारें, सुनु हरिनी मोर बात।
बिधना [illegible] घर मरन लिखाले, बेंचि खात मोर मास ॥सो०॥
वही पार से हरिनी बोलें सुनु बधिका मोरी बात।
हमहू क बाँधु पिया संगा मोरे छोड न मोर अहिवात ॥सो०॥

---

1. विष।
2. पति।
3. स्वस्थ।

पतनी वचन कहि तुरत हरिनिया गई बधिकवा के पास।
पतनी वचन जब सुनें बधिकवा, अपनी धना के सुधिया—
जो आई, काटि, दिये गल फास ॥सो०॥

(क० कौ०) पृ० ७६८-६६

ईश्वर जिसकी रक्षा करता है उसका कोई अहित नहीं कर सकता। एक बार किसी स्थान पर हरिण और हरिणी बसेरा ले रहे थे कि बहेलिया ने जाल फैला दिया। हरिणी तो जाल में से निकल गई परन्तु हरिण फंस गया। जाल में फँसा हुआ हरिण मृत्यु की आशंका करता हुआ हरिणी से कहता है कि विधाता के घर म खर्च का तगी आ गई है अब वह उसका मास बेच कर खायेगा। उस उक्ति में ईश्वर के प्रति व्यंग्य का भाव छिपा है। हरिणी बहेलिया से अनुरोध करती है कि उसे भी हरिण के साथ बांध ले। स्त्री जाति अपने सुहाग को खो कर जीवित रहने की कामना नहीं कर सकती। बहेलिया हरिणी की कोमल भावनाओं और अपूर्व बलिदान को देख कर प्रभावित हो उठता है। उसे अपनी पत्नी का स्मरण हो आता है और वह हरिण को मुक्त कर देता है।

कहारों के गीत भी मुख्यतः शृंगारिक होते हैं। किन्तु वियोग की अपेक्षा संयोग-पक्ष का वर्णन इनमें अधिक रहता है।

(४) तेलियों के गीत—

तेलियों के यहाँ कोल्हू पेरते समय तथा विवाहादि शुभ अवसरों पर गीत गाए जाते हैं। ये गीत भी विशिष्ट प्रकार के होते हैं जिन पर तेलियों का जातीय भाव चिह्नित हो उठता है।

एक भोजपुरी गीत में कोई स्त्री अपने परदेशी पति के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है—

आजु के गैला भंवरा कहिया ले लौटबे कतेक दिना रे,
जोहो तोरी बटिया कतेक दिना रे।
गनत गनत मोरी अंगुरी भल खियानी चितवत रे,
मोरे नैनवां ढुरे अंसुवा कि चितवत रे।
एक बन गइलो दोसर बन गइलो तीसर बन रे।
मिलत गोरु चरवहवा तीसरे बन रे।
गोरु चरवहवा तुही मोर भइया कतहूँ देखे रे,
मोर भंवरवा परदेसिया कतहू देखे रे।

(क० कौ० पृ० ६६६)

किसी स्त्री का पति परदेश चला गया है। पता नहीं, कितने दिनों में वह लौटेगा। वियोगिनी स्त्री उंगलियों पर दिन गिनते-गिनते थक गई और उंगली भी घिस गई। राह देखते-देखते आंखों से आंसू बहने लगे, पर निष्ठुर परदेशी नहीं आया। अपने खोये हुए पति को ढूंढने के लिये वह स्त्री जगलों में भटक रही है। किसी जंगल में पहुंचने पर उसे एक चरवाहा मिलता है। दुःख और वेदना में प्रताड़ित स्त्री उसे अपना भाई मान कर उससे अपने पति का पता पूछती है।

इसी प्रकार की करुण भाव-व्यंजना एक अवधी गीत में प्राप्त होती है। तेलियों का जीवन व्यस्तता से भरा होता है। पति-पत्नी कार्य-व्यस्तता के कारण एक दूसरे से मिलने का अवकाश नहीं पाते। प्रस्तुत गीत में एक ऐसी ही स्त्री की विवशता मुखरित हुई है जो दिन-रात कार्य में व्यस्त रहती है और उसका पति भी उससे आकर मिलने का समय नहीं पाता—

> कौनी की जुनिया तेलिन पनिया अरे लगावै अरे कौनी जुनिया ना,
> कोइलरि सबद सुनावै, अरे कौनी जुनिया ना।
> आधी की रतिया तेलिन पनिया लगावै कि पिछली रतिया ना,
> कोइलरि सबद सुनावै कि पिछली रतिया ना।
> कोइलरि सबद सुनि कै जागैं साँवर गोरिया, बढ़निया लैके ना,
> सुन्दरि अगना रे बहारैं, बढ़निया लैके ना।
> अगना बहारि सुन्दरि घुरवा लै पवारिन, घइलना लैके ना,
> सुन्दरि चली सागर पनियाँ, घइलना लैके ना।
> घैला बोरि बोरि धन धरली करववा, कि जोहै लागी ना,
> परदेशी जी की बटिया कि जोहै लागी ना।
>
> (क० कौ० पृ० ६६०-६१)

इस गीत में दैनिक कार्यों की व्यस्तता के मध्य प्रियतम की प्रतीक्षा का बहुत सुन्दर चित्र अंकित हुआ है। कोई तेलिन स्त्री आधी रात तक पानी लगाती है फिर सोने जाती है। रात्रि के अन्तिम प्रहर में कोयल का शब्द सुन कर वह जाग जाती है। जागने के उपरान्त सबसे पहले वह आँगन बुहारती है, कूड़ा-करकट घूरे पर फेंकती है तत्पश्चात् घड़ा लेकर पानी भरने चल देती है। नदी के जल से घड़ा भर कर वह तट पर रख देती है और दूर से आती हुई पगडंडी की ओर आँखें उठाए अपने प्रियतम की प्रतीक्षा करने लगती है।

ग्राम-जीवन के क्रिया-कलापों और ग्रामीण स्त्रियों के सहज भाव-व्यापारों का अत्यन्त मनोहर वर्णन इस गीत में हुआ है।

(५) गड़रियों के गीत—

गड़रियों में अपने विशेष प्रकार के गीत होते हैं, जिन्हें वे प्रत्येक उत्सव में गाते हैं। रात्रि की नीरवता में, दैनिक कार्यों से अवकाश पा कर अनवरत सूप बजा कर सामूहिक गान गाते हैं। गड़रियों के गीतों में मुख्य दो गीतों का विशेष महत्व है जिनके नाम हैं—'सिउरिया' और 'पंडो की भार'।

भोजपुरी क्षेत्र में गड़रियों के गीतों की संख्या अत्यन्त न्यून है। अवधी बोली में भी गड़रियों के गीतों का अधिक प्रचलन नहीं है। जो गीत गाए जाते हैं वे सार्वजनिक होते हैं।

गड़रियों का 'सिउरिया' नामक एक गीत प्राप्त होता है जिसमें 'सिउरिया' नाम की स्त्री की कहानी है—

> बगला में सोवें सिउरिया।
> हर मेरा बगला कैसा रे छवाया, छिन-छिन,

बरसे रे मेघा अरे अब बंगला तो तड़ाया है,
बूंदा तो मेरी छाती पै गिरी मेरे बालम,
अरे मैं गिरी रे पलंग से नीचे ॥
बिन बिन रोवे रे आज महलों में सिउरिया जी
अरे वह सिउरिया बगला में रोवै रे ॥

(क० कौ० पृ० ७६८)

यह गीत बहुत लम्बा है। इस गीत की भाषा पर बिजनौर का प्रभाव है जहाँ इसका संग्रह किया गया था।

(६) धोबियों के गीत—

धोबियों के भी कुछ गीत होते हैं जिन्हें वे कपड़े धोते समय अथवा अपने उत्सवों के अवसर पर नृत्य करते हुए गाते हैं। इनके गीत प्रायः अहीरों के बिरहे के समान होते हैं केवल स्वर-लय में अन्तर होता है। इन गीतों में मनोरंजन की अपूर्व क्षमता होती है जो धोबियों के कठोर परिश्रम के क्षणों को मधुर बना देती है।

एक भोजपुरी गीत में घाट पर जाने की तय्यारी करता हुआ एक धोबी अपनी पत्नी को आदेश देता है—

मोटी-मोटी लिटिया लगैहे धोबिनिया,
कि बिहने चलै का बा घाट।
जोड़ी, बिहने चलै का बा घाट।
तीनहि चीज जनि भुलिहैं धोबिनिया,
कि टिकिया तम्बाकू थोड़ा आगि।
जोड़ी टिकिया तमाकू थोड़ा आगि रे ॥ (क० कौ० पृ०-७८२)

इस गीत में धोबियों के जीवन का वास्तविक चित्र उतरा है। धोबी और धोबिन प्रातः से सध्या तक घाट पर रहते हैं और भोजन आदि आवश्यक वस्तुएं अपने साथ ले जाते हैं। इस गीत में धोबी अपनी पत्नी को आदेश दे रहा है कि दूसरे दिन घाट पर चलने के लिये लिट्टियाँ (बिना बेली हुई मोटी रोटी जो उपले की आग में पकाई जाती है) कोयले की टिकिया, तम्बाकू और आग अवश्य ले चलें।

एक अवधी गीत में धोबी के जीवन की व्यस्तता देखते हुए चार पत्नियों की अनिर्वायता सिद्ध की गई है—

धोबी क चहिये चार मेहरिया, एक घर का एक घाट।
एक मेहरिया रोटी पकावै एक बिछावै खाट ॥
दुलहिन एक बिछावै खाट।
बिरई, एक बिछावै खाट ॥ (क० कौ० पृ० ७८२)

इसी प्रकार के अनेक मनोरंजक गीत धोबियों के समुदाय में प्रचलित हैं। एक अन्य गीत में कोई स्त्री अपने पति से धोबी को बुलाने का आग्रह करती है।

साथ ही यह धमकी भी देती है कि यदि धोबी नहीं बुलाया गया तो वह स्वयं धोबी के यहाँ चली जायगी—

> छिओ राम छिओ, छिओ राम छिओ।
> अंगिया चुनिया मैली रे हुई गई, बिन धोबी को गाव।
> कै धुबिया पिय गाव बसावो कै धुबिया के जाव।
> छिओ राम छिओ, छिओ राम छिओ॥ (क० कौ० पृ० ७८३)

इस गीत में धोबी के कार्य का महत्व दर्शाया गया है। धोबी के अभाव मे स्वच्छ वस्त्रों की प्राप्ति असम्भव है।

एक अवधी गीत मे स्वामी और सेवक (धोबी) की विशेषताओं का चौतिहा-पूर्ण वर्णन किया गया है—

> निबिया के पेड़वा जबै नीक लागै जब निबकौरी न होया।
> मालिक जब निबकौरी न होय॥
> गोहूं के रोटिया जबै नीक लागै घी मे चभोरी होय।
> मालिक घी से चभोरी होय॥
> अच्छा धोबिया जबै नीक लागै धोवै बगुला के पाख।
> मालिक धोवै बगुला के पाख।
> अच्छा मलिया जबै नीक लागै नौकर क सुख कै देय।
> मालिक, नौकर क सुख कै देय॥ (क० कौ० पृ० ७८०)

नीम का वृक्ष निबकौरी (नीम का फल) न होने पर ही अच्छा लगता है। गेहूँ की रोटी घी से चुपड़ी होने पर ही अच्छी लगती है, धोबी वही अच्छा लगता है जो बगुले के पंखों के समान उज्ज्वल वस्त्र धोता है और स्वामी वही उत्तम होता है जो अपनी उदारता एवं दानशीलता से नौकरों को प्रसन्न रखता है।

(७) चमारों के गीत—

चमारों के यहाँ विवाह आदि अवसरों पर विभिन्न प्रकार के गीत गाए जाते हैं। विवाह मे वे अपने सम्बन्धियों के साथ यजमानो के यहाँ दूल्हे की न्योछावर लेने जाते हैं। उस अवसर पर पूरा दल नाचते गाते तथा स्वांग करते हुए चलता है। प्रायः दो लड़के स्त्री पुरुष बनते हैं और तीसरा लड़का विदूषक बनता है जिसे 'लंगिया' कहते हैं, क्योंकि वह काले रंग का लम्बा कुरता धारण करता है। चमारों का मुख्य बाजा मृदंग, कटोरा और सींग है। भोजपुरी क्षेत्र मे 'डफरा' और 'पिपिहरी' का प्रयोग होता है। 'डफरा' की आकृति छोटे नगाड़े की तरह होती है, जिसे लकड़ी से पीट कर बजाया जाता है। 'पिपिहरी' मुँह से बजायी जाती है।

चमारो के गीत शृंगार, नीति और वीरता के भावों से युक्त रहते हैं। अनेक गीतों मे उच्चवर्ण के व्यक्तियों के आडम्बरपूर्ण क्रिया-कलापों की कटु आलोचना भी रहती है। चमारों के एक गीत मे ब्राह्मणो की पवित्रता पर व्यंग्य किया गया है—

> पंडित मुनि बड़ ज्ञानी, जल छानि के पीवत पानी।

वही सूत का बने जनेया, उसकर पाग बनाई।
धोती पहिन क रोटी खावै पाग मे छूत ओलिआई॥

(क० कौ पृ० ७८४)

पंडित स्वयं को बहुत ज्ञानी समझते हैं, इसीलिये जल को भी छान कर पीते हैं। एक ही सूत से जनेऊ, पगड़ी और धोती बनती है। वे धोती पहन कर तो भोजन करते हैं पर पगड़ी को छूत समझते हैं।

भोजपुरी बोली के एक गीत मे सुन्दर कृत्य करने की शिक्षा दी गई है—
काहे के लगवला बजुरिया हो, लगवता तू आम।
अमिरित करता भोजनिया हो, भजता हरि नाम॥

(क० कौ० पृ० ७८७)

बबूल लगाने से क्या लाभ ? आम का वृक्ष लगाने पर मधुर फल खाने को मिलता है। उसी प्रकार मनुष्य को मुक्ति-दायक सुन्दर कृत्य करने चाहिये। राम-नाम जपने से अमृत रूपी मुक्ति-फल प्राप्त होता है।

अवधी मे प्राप्त चमारो के एक गीत मे भी ईश्वर-प्राप्ति का महत्व निरूपित हुआ है—

राम नहि जानै तो और जाने का भा।
फूल तो वो है जो राम जो का सोहै।
नाहीं त बेला लगाए से का भा।
कपड़ा तो वो है जो राम जी का सोहै।
नाही गुलाबी रगाये से का भा।
पूत तो वो है जो पिता का सेवै।
नाहो तो पाचो के जनमे से का भा।
तिरिया तो वो है जो दुनो कुल तारे।
नाही तो माया के कांखि आये का भा।

(क० कौ० पृ० ७८५)

राम को जिसने नहीं जाना, उसके अन्य सभी ज्ञान मिथ्या हैं। फूलों का महत्व तभी है जब वे ईश्वर के चरणों मे समर्पित हो, वस्त्रो का महत्व तभी है, जब वे भगवान का परिधान बने, पुत्र का महत्व तभी है जब वह पिता का सेवक बने और स्त्री का महत्व तभी है जब वह दोनों कुलों की प्रतिष्ठा रखे।

इस गीत मे कर्तव्य-नीति की सुन्दर शिक्षा दी गई है।

(८) दुसाधों के गीत—

दुसाध भी चमारो के समान एक परिगणित जाति है जिसके गीत बहुत कुछ चमारो के गीतों के समान होते हैं। कहीं-कहीं दुसाधों मे 'पचरा' नामक गीत गाने का विशेष प्रचलन होता है। भोजपुरी क्षेत्र मे दुसाधों मे कुछ लोग 'ओझा' होते हैं जो भूत-प्रेत की बाधा झाड़ते हैं। ये लोग देवी के साधक होते हैं। 'पचरा' मे देवी सम्बन्धी गीत ही ये लोग अधिक गाते हैं। प्रेतबाधा से पीड़ित व्यक्ति को देवी का गीत गा-गा कर झाड़ा जाता है।

भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित एक 'पचरा' में एक साधक पूजा की पवित्र सामग्री का उल्लेख करते हुए देवी को प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहा है—

आरे आम के पतउआ ए देवी,
    गइया केरा घीव हो ।
आरे पारास के लकड़िया ए देवी
    करीले अहुतिया हो । (भो० ग्रा० गी० पृ० ३५६ ।

आम के पल्लव, गाय का शुद्ध घी, पलाश की लकड़ी जुटा कर देवी का कोई साधक यज्ञ करते जा रहा है । वह देवी की प्रसन्नता का इच्छुक है ।

अवधी क्षेत्र में दुसाधों के कोई विशेष गीत नहीं होते हैं ।

(६) गोड़ों के गीत—

उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में विशेष रूप से गाजीपुर एवं बलिया में गोंड नामक एक जाति निवास करती है । यह गोंड जाति मध्यप्रदेश की गोंड जाति से भिन्न है । इस जाति के गीत बहुत सुन्दर होते हैं । 'गोंडऊ' नामक लोक-नृत्य करते समय ये लोगगीत गाते हैं । यह नृत्य बहुत सुन्दर होता है तथा दूर-दूर के लोग इसे देखने आते हैं । इनके अभिनय को 'हर बोलाई' कहते हैं । अभिनय के साथ भी गीत गाये जाते हैं । गीतों के साथ 'हुड़ुका' नामक बाजा बजता है ।

गोंड जाति में प्रचलित एक भोजपुरी गीत में परदेश जाते हुए पति को पत्नी द्वारा रोकने का उपक्रम किया जा रहा है—

नरिअर के टिकवा[1] तूरेला दूनो हिकवा,
    बर[2] तू घर ही रहित ना ॥१॥
आरे भरित तुहू बखरी के पनिया,
    बर तू घर ही रहित ना ॥२॥
घर ही रहित दाल भात खइत,
    सोइत सीतल पलिया ना ॥३॥
बाल बचा से मिलि जुलि रहित
    करित सुख व विलसिया ना ॥४॥
भरित बखरी के पनिया,
    दुलहा घरहि रहित ना ॥५॥ (भो० ग्रा० गी० पृ० २४६)

नारियल का आभूषण जो भारी होने के कारण कष्ट दे रहा है, पहन कर एक स्त्री अपने पति से घर पर रहने का अनुरोध कर रही है । उसकी कामना है कि उसका पति घर में ही बैलों की नाद में पानी भरे, दाल-भात खाए और शीतल शैया सोये । वह चाहती है कि उसका पति बाल-बच्चों के साथ सुख पूर्वक आनन्द के दिन बिताये । इसीलिए उसका आग्रह है कि वह परदेश जाने का विचार त्याग दे ।

1. आभूषण
2. पति ।

इस गीत मे सुख की पावन कामना की गई है।

एक अन्य गीत में पति के बलपूर्वक परदेश चले जाने पर स्त्री द्वारा आत्म-हत्या की धमकी दी जा रही है—

फूल एक फूलि गइले, फूलेला दावानवा[1]
पिया मोर गइले विदेसवा कइ के गवनवा
बाथ तोर थाको रे पियवा, बड़िया लागो घुनवा
जाहि हाथे डलले रे मुसना[2] सिर मे सेनुरवा
फोरब मे सब चुरिया मेटबि सेनुरवा
हतवों मे आल्हर जियरा, तोहरे कारानवा,
मति फोर संब के चुरिया, मति मेटहु सेनुरवा
जनि हत आल्हर जियरा, रहबों रहबो हुजूरवा। (भो० ग्रा० गी० पृ० १४४)

इस गीत मे निम्न जाति की स्त्री की वाचालता, अधीरता, अज्ञान और असभ्यता के दर्शन होते हैं। किसी स्त्री का पति गवना कराने के पश्चात् शीघ्र ही परदेश चला जाता है। इस पर क्रुद्ध होकर वह स्त्री अपने पति को गालियाँ दे रही है। वह कामना करती है कि उसके पति के पैर मार्ग मे ही थक जायँ और जिस हाथ से उसने सिन्दूर दान किया था, उसमे घुन लग जाय। वह क्रोधाभिभूत होकर अपनी हाथ की चूड़ियाँ फोड़ने, सिन्दूर मिटा देने और आत्म-हत्या कर लेने की धमकी देती है। यह सुनकर उसका पति मार्ग से ही लौट आता है और निरन्तर उसके पास रहने का वचन देता है।

इस जाति के अन्य गीतों मे भी शृंगारिक विषयों की ही प्रधानता है। प्रायः उनमें पति-पत्नी-मिलन, पति-पत्नी-वियोग, सास-बहू का संघर्ष, ननद-भावज का द्वेष आदि भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है।

विविध गीत

गीतों की अनिश्चित संख्या को किसी निश्चित वर्ग में आबद्ध करके रखना सर्वदा संभव नहीं है। जन-जीवन में बिखरे अनेक ऐसे लोकगीत हैं जो विद्वानों द्वारा निर्धारित श्रेणियों मे समाविष्ट नहीं हो पाये हैं। इन गीतों का विवेचन श्रेणियों की सीमा से बाहर ही करना होता है। इस प्रकार के गीतों मे निम्नलिखित गीतों की गणना की जा सकती है—

(१) जांत के गीत, (२) मेले के गीत, (३) झूमर, (४) पूर्वी, (५) अलचारी, (६) खेल के गीत।

जांत के गीत—

रात्रि के अन्तिम प्रहर मे जब प्रभात का सन्देश लेकर चिड़ियाँ चहचहाने

1. विशेष पुष्प
2. गाली।

लगती हैं, अन्धकार की गहराइयों में प्रविष्ट होकर प्रकाश की किरणें अपना अस्तित्व बिखेरने लगती हैं, तब गाँव के छोटे-छोटे घरों में चक्की के घूमते हुए पाटों की ताल पर अपने स्वरों को साध कर भोली-भाली ग्राम-वधुएँ मधुर गीतों का संसार सजाती हैं।

ग्रामीण-जीवन में चक्की का विशेष महत्व है। चक्की पीसना ग्रामीण स्त्रियों के दैनिक कर्मों का एक अनिवार्य अंश होता है। मशीनों के प्रसार के फलस्वरूप अब चक्की पीसने की कला लुप्त होती जा रही है। निस्सन्देह इस व्याघात का परोक्ष प्रभाव लोकगीतों पर भी पड़ा है। चक्की पीसने की क्रिया के साथ-साथ उससे सम्बन्धित गीतों का भी लोप होता जा रहा है।

ग्रामीण स्त्रियाँ चक्की पीसते समय जिन गीतों को गाती हैं, उनमें उनके हृदय की राग-विरागमयी हर्ष अनुभूतियाँ गुम्फित रहती हैं। जीवन का सम्पूर्ण सुख-दुख, मन की समस्त आशा-निराशाएँ इन गीतों के स्वरों में साकार हो उठती हैं। प्रभात की नीरवता में भावनाओं का सम्मोहन लेकर उठते हुए गीतों के ये स्वर हृदय को मुग्ध कर देते हैं।

चक्की या जाँत के गीतों का प्रचलन भोजपुरी एवं अवधी—दोनों क्षेत्रों में है। ये गीत बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। इन गीतों में शृंगार की प्रधानता रहती है। संयोग, वियोग, ईर्ष्या-द्वेष, पारिवारिक-संघर्ष इत्यादि इन गीतों के मुख्य विषय होते हैं।

भोजपुरी बोली के एक गीत में ससुराल के कष्टों से पीड़ित किसी स्त्री का वेदनापूर्ण चित्रण है—

बेरी ही बेरी[1] तोहीं बरजो ए बाबा, आरे उतर दिया जनि ताउ।
उतर के लोग निरमोहिया एक बाबा, उलटी पुलटी दुख देई ॥१॥
रतिया पिसावे जब गेहुँआ ए बावा[2], दिनवा कतावे महीन सूत।
सुतली सेजियवा उठावे ए बाबा, आरे आँगना बटोरेला सब झुल ॥२॥
बाभवा बइठल तुहुँ ससुर हो बढ़इता, आरे नगरा नियरा की दूर।
मचिया बइठल तुहु सास हो बढ़इती, दाहावा[3] बाटे नियरा की दूर ॥३॥
पासवा खेलत तुह भसुर[4] बढ़इता, आरे सागर नियरा की दूर।
भइसल[5] पइसलि[6] तुहु गोतिनी[7] हो बढ़इती, दाहावा बाटे नियरा की दूर ॥४॥

---

1. बार-बार
2. उत्तर दिशा
3. बड़ा तालाब
4. जेठ
5. घर के भीतर
6. प्रविष्ट
7. जेठानी

भारे जेठ बइसाख केरे तपली रे भुभुरिया[1], धनिया जइहे कुम्हिलाइ।
अंगने मे कुइयां खनाइ द ए बबुआ, रेसम के डोरिया लगाइ ॥५॥
मोनिया[2] बोलाई के कोठवा उठाय द ए बबुआ,
नाहि त जइहे धनिया कुम्हिलाइ ॥६॥
(भो० लो० गी० पृ० २९१-९४)

ससुराल में प्राप्त कष्टों से दुखी होकर कोई स्त्री अपने पिता को सम्बोधित करती हुई कहती है कि उसने पहले ही उत्तर दिशा मे विवाह करने के लिये बार-बार मना किया था, पर उसकी बात नहीं सुनी गई। उत्तर दिशा के लोग निष्ठुर और कष्टदायी होते हैं। रात मे वे गेहूं पिसवाते हैं, दिन मे सूत कतवाते हैं तथा सो जाने पर शय्या से उठा देते हैं। उनके घर में दरिद्रता फैली हुई है। दुखी होकर वह स्त्री आत्महत्या करती है। वह अपने सास-ससुर और जेठ-जेठानी से समुद्र या बड़े सरोवर का पता पूछती है। संभवतः सास को अपनी बहू के मंतव्य का अनुमान हो जाता है और उसे रोकने के लिए बहाना ढूंढ़ती है। निष्ठुरता का त्याग करके सास अपने पुत्र को संदेश देती है कि जेठ-बैशाख की तीव्र धूप मे बहू को समुद्र में स्नान करने नहीं जाने दिया जाय, अन्यथा वह मार्ग में ही कुम्हला जायगी। आगन मे ही कुआं खुदवाया जाय, जिसमे रेसम की डोर लगी हो, वहीं बहू स्नान करेगी। इसके अतिरिक्त एक घर भी बनवाया जाय, जहां बहू सुख-पूर्वक रह सकेगी।

बहू के प्रति सास की यह अप्रत्याशित कोमलता एवं करुणा केवल अवसर-जन्य है अथवा चिरन्तन है, कहा नहीं जा सकता। ग्रामीण परिवारों मे कष्ट एवं वेदना के ये चित्र अत्यन्त स्वाभाविक हैं।

एक अवधी गीत मे किसी रूपवती स्त्री के प्रति उसके देवर की अनुचित आसक्ति का वर्णन किया गया है। ग्रामीण स्त्रियाँ परिवार के विभिन्न सदस्यों द्वारा समय-समय पर सताई जाती रही हैं। इस गीत मे एक सती-साध्वी आदर्श नारी का चित्रण हुआ है जो पाप के प्रतिकार मे आत्म-बलिदान कर देती है—

चारिउ कोन हरि अंतवा मझावै, धरमी भई है बड़ी जोरवा हो राम।
घुमरि घुमरि हरि महला निहारै हो, मना के करनवा जियरा जइहैं हो राम।
कबहू कं देवर मोर मुखहू न बोलै हो, आजु भउज कहि पुकारै हो राम।
अच्छा-अच्छा जेवना बनाओ भउजी, हम भैया जावै मधुबनवां हो राम।
सगरी सरीर भउजी नेतवा बोहरवां हो, सुलहा सरोखे जेवना परसै हो राम।
ललुहा देखत मोर देवर मुसकाने हो, ऐसी सुहइया भैया बिलसै हो राम।
एक बन गये दुसर बन गए हो, तिसरे बलय तलवरिया हो राम।
सबकै घोड़वा रे हुँमत-कुदत आवै हरिजी के घोड़वा मन मारे हो राम।
कहबइ बूड़ी देवरा पाँव के पनहियां हो, कहंवा डूबो तरवरिया हो राम।
कवने बन जाय हरिना देखेव हो, कोना सिकार खेलि आयेव हो राम।

1. गर्म बालू
2. मिट्टी का मकान बनाने वाला।

भितियहि बूढ़ो भौजी पाँव के पनहियाँ हो, खुनवा डूबी तरवरिया हो राम।
कवने बन नाहि हरिन का देखा हो भय्या सिकार खेलि आयेव हो राम।
कहवहि मारेव देवरा कहवहि गिरायेव हो, कहवाँ चिरहरिया मेहरानी—
हो राम।
उ चवहि मारेव भौजी निचवा गिरायेव हो, मगन चिरहरिया मेहरानी—
हो राम।
जौनेहु मधवा = मगिया भल सोहै हो तौने माथ राजा चोत मारैं हो राम।
तुहरहि छोटी देवरा आने के न होवय हो तनी यक लोथिया देखावहु—
हो राम।
यक बन गई दुसर बन गई तिसरे माँ डोलिया ठमाकी हो राम।
तुहरहि छोडो देवरा आने के न होवय हो, तनी यक बगिया लै आबो—
हो राम।
जौली देवर मोर अगिया क गये हो, अचरे से उठी है अगिनिया हो राम।
भुइयाँ पटुक दइके रोवा है देवरवा हा भौजी पपिनिया छल कीन्ह हो राम।

(लो० रा०) पृ० १४६-५०

एक रूपवती स्त्री का पति उसे बहुत चाहता है और उसके लिये घर के चारों कोनों में आना गड़वा देता है। अन्त में पत्नी के कारण ही उसे अपने प्राण भी खोने पड़ते हैं। उस स्त्री पर उसका देवर आसक्त हो उठता है। शिकार खेलने का बहाना करके वह बड़े भाई को वन में ले जाता है और वहाँ उसका वध कर देता है। वह स्त्री देखती है कि अन्य शिकारियों के घोड़े तो प्रसन्नचित वापस आ रहे हैं पर उसके स्वामी का घोड़ा उदास है। तभी उसकी दृष्टि देवर के भीगे हुए जूतों तथा रक्त में डूबी तलवार पर पड़ती है। देवर निर्भीक होकर बता देता है। जूते तो ओस से भीगे हैं और तलवार में उसने भाई का वध किया है। वह स्त्री अपने देवर की कलुषित इच्छा को समझ जाती है। धैर्य पूर्वक देवर को आत्मसमर्पण का प्रलोभन देती है और पति के मृत शरीर को एक बार दिखा देने का अनुरोध करती है। कामुक देवर प्रसन्न होकर उसे उस स्थान पर ले जाता है जहाँ उसके पति का शव पड़ा है। वह स्त्री अपने देवर से थोड़ी सी अग्नि लाने का अनुरोध करती है जैसे ही देवर अग्नि लेने को जाता है, उस सती स्त्री के अंचल से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है और वह पति के साथ ही भस्म हो जाती है। अन्त में पापी देवर पश्चात्ताप के आँसू बहाता रह जाता है।

ग्रामीण स्त्रियाँ नित्य-प्रति होने वाले अनाचार के प्रतिशोध में इस प्रकार के गीतों की रचना करती हैं और काल्पनिक धरातल पर पहुँच कर अलौकिक शक्तियों द्वारा पाप के विनाश का उपक्रम करती हैं। इन गीतों का एक-एक शब्द सदाचार और धर्म की व्याख्या करता है।

जात के गीत स्त्रियों की कोमल एवं संवेदनात्मक मनोस्थिति की उपज है। असीम करुणा, धैर्य और सहिष्णुता के सूत्र में इन गीतों का एक-एक शब्द पिरोया हुआ है। श्रम-श्रान्त शरीर का शैथिल्य और असह्य कष्टों से प्रताड़ित मन का विक्षोभ दूर करने के लिए स्त्रियाँ इन गीतों को गाती हैं।

मेले के गीत—

भारत में भिन्न-भिन्न स्थानों में अनेक प्रकार के मेले लगते हैं। मेलों का लोक-जीवन में विशेष महत्व है। प्रायः मेला का आयोजन किसी धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित होता है। धर्म-परायण ग्रामीण जनता इन मेलों में विशेष अभिरुचि रखता है। मेला देखने का उत्साह स्त्री, पुरुष एवं बच्चों में समान रूप से होता है। गाँव के लोग झुण्ड बना-बना कर अपनी मेला यात्रा आरम्भ करते हैं। पुरुष वर्ग एक हाथ में लाठी और दूसरे में गठरी या झोला लिये अथवा छोटे-छोटे बच्चों को कन्धे पर बैठाये उमंग के साथ चलता है। उनके पीछे स्त्रियाँ भी अपने अपने बच्चों को लिये गठरी अथवा डुक्का थामे गीत गाती हुई चलती है। दूर-दूर के गाँवों से स्त्रियाँ बैलगाड़ियों में बैठकर आती हैं। गीतों के सुमधुर स्वरों से वे अपने मार्ग को सरल बनाती हुई चलती हैं।

मेले के गीत भोजपुरी और अवधी क्षेत्रों में समान रूप से प्रचलित हैं। भोजपुरी क्षेत्र की स्त्रियाँ प्रायः हाजीपुर-सोनपुर का प्रसिद्ध मेला देखने जाती हैं। इसलिए उनके गीतों में पुर के मेले का उल्लेख रहता है—

> हाजीपुर के हाट में हेरायल हो,
> मोरा सोने के झुलनिया।
> सासु मोरी मारे ननद गरियावे,
> मइया मारे बाँस के कोइनिया[1] हो। मोरा सोने०।
> सासु मोर खोजे ननद खोजवावे,
> पिया ढुँढे नाक के निसनिया हो। मोरा सोने०।
> सासु मोर रोवे, ननद आँसू पोछे,
> सइयाँ भइले आजु के बिमनिया हो। मोरा सोने०।
>
> (भो० ग्रा० गी०) पृ० १६५

कोई स्त्री हाजीपुर का मेला देखने गई, जहाँ उसकी सोने की झुलनी (नाक का आभूषण) खो गई। झुलनी खो जाने पर सास ने मारा, ननद ने गालियाँ दीं और पति ने भी बाँस की पतली छड़ी से पीटा। उसके बाद सबने मिल कर झुलनी को ढूँढने की चेष्टा की, पर वह मिली नहीं। झुलनी के दुख में सास-ननद रोने लगीं और पति भी रुष्ट हो गया। ग्रामीण परिवारों में बहू को अपने अपराध पर सब लोगों की ताड़ना सहनी पड़ती है।

भोजपुरी के एक अन्य गीत में कोई स्त्री अपने पति के सौन्दर्य का मधुर उल्लेख कर रही है—

> मोर अंगनइया में फूल के बहार बा।
> बेला भी फूले चमेली भी फूले, सब फुलवरिया में राजा गुलाब बा।
> तबला भी बाजे सारंगी भी बाजे, सब बाजन में मामी सितार बा।
> जूही भी फूले चम्पा भी फूले, सब फूलों में राजा गुलाब बा।
> डिप्टी भी बइठे कलक्टर भी बइठे सबसे सुन्नर सइयाँ हमार बा।
> मोर अंगनइया में फूल के बहार बा। (भो० ग्रा० गी०) पृ० १६४

आंगन में खिले हुए फूलों को देख कर कोई स्त्री कहती है कि बेला, चमेली, जुही और चंपा आदि के मध्य गुलाब ही श्रेष्ठतम फूल है। तबला और सारंगी की तुलना में सितार ही श्रेष्ठ वाद्ययन्त्र है। इसी प्रकार उच्च पद पर प्रतिष्ठित डिप्टी और कलक्टर से भी श्रेष्ठ उसका पति है।

स्त्री के लिये पति संसार की सर्वश्रेष्ठ भावना है। एक अवधी गीत की नायिका भी अपने पति के रूप-सौन्दर्य पर विस्मय-विमुग्ध होकर गा उठी है—

मैं बेला तेरे ठाढ़ि रहिउं के जदुआ डारा।
हमरे बलम की बड़ी-बड़ी अंखिया,
सुरमा सराई ऐनक लिहे ठाढ़ि रहिउं, के जदुआ डारा।
हमरे बालम की बड़ी-बड़ी जुलफें,
तेला फुलेला कंघन लिहे ठाढ़ि रहिउं के जदुआ डारा।
हमरे बलम के झीने-झीने दतवा,
खैरा सुपारी बिरवा लिहे ठाढ़ि रहिउं के जदुआ डारा।

(क० कौ०) पृ० ७२२

बेला के नीचे खड़ी कोई स्त्री अपने पति के अंग-प्रत्यंग की शोभा निरख-निरख कर पुलकित हो रही है। उसके पति की बड़ी-बड़ी आँखें हैं। जब वह इन आँखों के लिये सुरमा, सलाई तथा दर्पण लिये खड़ी थी, उन आँखों ने उस पर जादू कर दिया। उसके पति के बड़-बड़े केश है। जब वह तेल और कंघी लेकर खड़ी थी उन केसों ने उस पर जादू कर दिया। उसके पति के नन्हें-नन्हें दांत हैं। जब वह खैर, सुपारी और पान लिए खड़ी थी, उन दांतों ने उस पर जादू का असर कर दिया। पति के सौन्दर्य से सम्मोहित स्त्री के मनोभावों का अत्यन्त मधुर चित्रण है।

मेले के अधिकांश गीत शृंगारिक भावनाओं से युक्त होते हैं। अवधी अंचल में इस अवसर पर निर्वेद-भाव प्रधान गीत भी गाये जाते हैं—

ई देहिया तरुवर की छहियाँ।
सबै कतौ कोउ नाय, जो मन भजिहि राम।
सब मंगन से राम-राम गुरुजी मे बन्दगी।
मात पिता के सेवा कै लै मनवा लगाय के॥
देई देवा नाहक पूजो चौरा बधाय के।
दुनियाँ माँ ने की कै ले थोरे दिन के जिन्दगी॥
एक त सुखी रहे गाय का छौना।
उनहूं क दु:ख परा हरवा चले ते॥
एक तो सुखी रहे चकई औ चकवा।
उनहू का दुख परा रात भये ते॥
एक तो सुखी रहे सूरज चन्दमा।
उनहू का दुख परा गहन परे ते॥

(क० कौ० पृ० ७३५-३६)

इस गीत में संसार की नश्वरता का निरूपण किया गया है। यह शरीर वृक्ष की छाया के समान-क्षण-भंगुर है। इस क्षणिक संसार में जिसने अपने हृदय में ईश्वर

का साक्षात्कार कर लिया, उसे अन्य किसी आश्रय की खोज नहीं करनी है। समस्त बन्धुओं और गुरुजनों के प्रति प्रेम और श्रद्धा तथा माता-पिता के प्रति सेवा का भाव रखना चाहिए। देवी-देवताओं की पूजा का ढोंग व्यर्थ है। मन में परोपकार की भावना रख कर जीवन के अल्प दिवसों को व्यतीत कर देना चाहिए। इस नश्वर-संसार में पशु-पक्षी, सूर्य-चन्द्र सभी कष्टों से घिरे हैं। केवल ईश्वर की शरण में ही समस्त कष्टों से त्राण संभव है।

झूमर—

झूमर उन गीतों को कहते हैं जिन्हें अनेक स्त्रियाँ झूम-झूम कर गाती हैं। ये गीत किसी निदिष्ट अवसर के नहीं होते हैं बल्कि हर समय और हर उत्सव पर गाये जा सकते हैं। झूमर के गीतों में संयोग शृंगार की सरस धारा प्रवाहित होती रहती है। आनन्द, उल्लास और उमंगों की तरंगों से आलोडित इन गीतों का एक-एक शब्द हृदय पर सीधा प्रभाव डालता है, कोमल और मधुर भावों के अनुकूल भाषा की मृदुता इन गीतों की मुख्य विशेषता है। भाव की यह कोमलता और भाषा की मृदुता जब मोहक स्वरों में लय-बद्ध होकर गुंजित होती है, तब श्रोताओं का मन-मयूर थिरक उठता है। दूसरे शब्दों में, गायक एवं श्रोता दोनों को ही झूम उठने के लिये विवश कर देना झूमर के गीतों की विशेषता है।

एक भोजपुरी गीत की नायिका अपने पति की लम्बी-लम्बी बाहों पर मुग्ध होकर गा उठी है—

> मोरे हरि जी के लामी-लामी बहियाँ, धेनुहिया नइ-नइ जाय।
> नइ-नइ जाय हो नइ-नइ जाय, धेनुहिया नइ-नइ जाय।
> मोरे हरिजी के लामी-लामी बहियाँ धेनुहिया नइ-नइ जाय॥
> सोने की थारी में जेवना परोसले, जेवना न जेवे कि नइ नइ जाय।
> मोरे हरि जी० ॥
>
> झझरे गडुअवे गंगा-जल पानी पनिया न पीये कि झुकि-झुकि-
> जाय। मोरे हरि जी० ॥
>
> चुनि चुनि कलिया में सेजिया डसवनी, सेजिया न सोये कि चुभि-
> चुभि जाय।मोरे हरि जी०॥
>
> पनवा के खिलि खिलि बिरवा लगवती, बिरवा के चाभे कि गडि-
> गडि जाय।मोरे हरि जी०॥

(भो० ग्रा० गी०) पृ० १४८-४९

किसी स्त्री के पति की भुजाएं इतनी लम्बी और कोमल हैं कि धनुष की भांति झुक-झुक जाती हैं। जब वह स्त्री अपने पति के लिये सोने की थाली में भोजन परोस कर लाती है तो वह खाता नहीं है, क्योंकि उसकी कोमल बाहें भोजन का ग्रास उठाते ही झुक-झुक जाती हैं। इसी प्रकार वह जल भी नहीं पीता है, क्योंकि जल पात्र का भार भी उसकी बाहें सम्हाल नहीं पातीं। फूलों की शय्या पर भी वह नहीं सोता है, क्योंकि उसके कोमल शरीर में फूल चुभ जाने का भय है। वह स्त्री पुलकित

होकर पान के बीड़े तय्यार करती है, किन्तु वह उन्हें भी नहीं खाता है, क्योंकि उसके मुख में पान के बीड़े गड़ जाते हैं।

इस गीत में पति की कोमलता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हृदय को अनुरंजित कर देता है।

इसी प्रकार की भाव-भूमि पर आधारित एक अन्य भोजपुरी गीत है, जिसमें किसी वयस्का स्त्री के बालक पति का वर्णन हुआ है—

बनवारी हो लोटवा में डोरिया ना समाई।
सबका के दिहलू सासु लाले-लाले बेटवा
बनवारी हो हमरा क लरिका भतार ॥१॥
लरिका भतार लेकर सूतली ओसारवा।
बनवारी हो जरि गइले एँड़ी से कापार ॥२॥
एक थपरा मरलों दोसर थपरा मरलों
बनवारी हो रोवे लागल लरिका भतार ॥३॥
घर में से निकलेली सासु बड़इतिनि,
बनवारी हो, के मारल लरिका हमार ॥४॥
मारे के त मरली सासु आपन भतार
बनवारी हो, आहू में कछु लागत बा तोहार ॥५॥
छिपवा बाजे त सासु बबुआ हो तोहार
बनवारी हो ढोल बाजे मइया हमार ॥६॥
तुहू बिअइलू सासू टटिया लगाई
बनवारी हो, हम तिहली ढोलकी बाजाई ॥७॥ (भो० ग्रा० गी०) पृ० १५६

हिन्दू समाज में व्याप्त बेमेल विवाह का अभिशाप इस गीत में एक मनोरंजक रूप लेकर व्यक्त हुआ है। एक युवा स्त्री अपनी सास से शिकायत करती हुई कहती है कि उसने सबको (देवरानियों और जेठानियों) की हृष्ट-पुष्ट पति दिये पर उसे (स्त्री को) बालक पति दिया जब अपने पति के साथ वह शयन के लिये गई तो क्षोभ-वश उसे मार बैठी। मार खाकर वह बालक पति रोने लगा। क्रन्दन का स्वर सुन कर सास ने बहू से अपने पुत्र के रोने का कारण पूछा। बहू ने सास के इस प्रश्न को अनाधिकार चेष्टा के अन्तर्गत घोषित करते हुये बिगड़कर कहा कि उसने अपने पति को मारा है। माता का पुत्र पर उतना अधिकार नहीं है जितना पत्नी का पति पर। माता अपने पुत्र को थाली बजाकर प्राप्त करती है। जबकि पत्नी ढोलक बजा कर प्राप्त करती है। माता अपने पुत्र को समाज से छिप कर जन्म देती है, जबकि पत्नी अपने पति को हजारों लोगों के सामने ग्रहण करती है। इस प्रकार पुरुष पर माता की अपेक्षा पत्नी का अधिकार अधिक बड़ा है। इस गीत में सास के प्रति बहू के अकाट्य तर्क, और बालक पति की निरीह अवस्था का चित्रण श्रोताओं के मन में हास्य का फुहारें बिखेर देता है।

अवधी क्षेत्र में झूमर के गीतों का प्रचार मिलता है, पर भोजपुरी प्रदेश में झूमर के गीत जितनी बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं, अवधी प्रदेश में नहीं होते। वैसे

कहत विश्वनाथ धनि हवे तोर भगिया
से छम छम बाजे ना, द्वार खोलत पयजनिया ॥५॥
मे छम छम बाजे ना ॥

(भो० ग्रा० गी० पृ० ३६४–६५)

किसी स्त्री का पति पूर्व दिशा मे व्यापार करने गया था, जब वह वापस आया तो अपनी पत्नी के लिये सुन्दर टिकुली (बिन्दी) उपहार-स्वरूप लाया। टिकुली को लगा कर जब वह स्त्री अटारी पर बैठी तो उस टिकुली की ज्योति से सम्पूर्ण वातावरण शोभित हो उठा। इसी समय दूर मार्ग मे उसका पति राजकुमार की भाँति घोड़े पर आता दिखाई दिया। दीर्घ वियोग के पश्चात् पति के साक्षात्कार की मधुर कल्पना मे उसका हृदय धड़कने लगा। अटारी के द्वार पर खड़ा पति केवाड़ खोलने के लिए पुकारता है और वह सौभाग्यशालिनी स्त्री नूपुर-ध्वनि बिखेरती हुई केवाड़ खोल रही है।

इस गीत मे संयोग का अत्यन्त सात्त्विक चित्र खीचा गया है। 'बजर केवरिया' में विशेष अर्थ ध्वनित होता है। सच्चरित्र स्त्री के द्वार केवल स्वामी के स्वागत के लिये ही खुलते है। दीर्घ वियोग की अवधि मे जो द्वार वज्र की दृढ़ता लेकर बन्द रहे, वही सयोग वेला के शुभागमन मे सरलता से खुल जाते हैं।

अलचारी—

अलचारी शब्द 'लाचारी' से बना है जिसका अर्थ होता है विवशता। स्त्रियो के विवशता-प्रधान मनोभावो की अभिव्यक्ति जिन गीतो मे होती है उन्हे 'अलचारी' कहा गया है। प्राय. ग्रामीण स्त्रियो के पति बहुत मना करने पर भी, बार बार रोकने पर भी, परदेश चले जाते हैं। विवश स्त्रियाँ अपने हृदय की विकलता को गीतों के स्वरो मे ढाल कर ही सन्तोष करती हैं। अलचारी के गीतो मे, परदेश-गमन के लिये उद्यत, हठीले पति के प्रति स्त्री-हृदय का नम्र-निवेदन प्रकट होता है।

ये गीत भोजपुरी क्षेत्र मे अधिक सख्या मे प्राप्त होते हैं। अवधी गीतो मे भी इस प्रकार के मनोभावों का निरूपण उपलब्ध होता है।

एक भोजपुरी गीत मे किसी स्त्री द्वारा पति को परदेश-गमन से रोकने की चेष्टा की जा रही है—

बारहिबार तोहि बरजो मोर सामी,
से उतरी बनिजिया मति जइह मोर सामी।
उतरी बनिजिया के उतरी बगालिन,
से रखिहे करेजवा लगाइ मोर सामी।
बारहिबार तोहि बरजो मोर सामी,
से उनका सेजरिया मति जइह मोर सामी।
उनका सेजरिया जब जइह तू हूँ सामी,
से उतरि जइहे तोहरा मुखवा के पानी।
हमरा सेजरिया जब अइब मोर सामी,
से तू हूँ होइब रजवा हमहूँ पटरानी॥ (भो० लो० क० र० पृ० ३४४-४८)

ओहि मधुवनवा से ऊधो बाबा अइले
कि लेके अइले ना एक जोगवा के पतिया ॥३॥
कि लइके अइले ना ।
पतिया बाचत मोर छतिया कड़कली
कि फसि हो गइले ना । ओहि कूबरी सगवा ॥४॥
कि फसि हो गइले ना ॥

(भो० ग्रा० गी०) पृ० १६२-६३

इस गीत में कृष्ण के मथुरा-गमन एवं गोपी-प्रबोध के लिये उद्धव के व्रज-आगमन की पौराणिक कथा का संकेत दिया गया है। मथुरा' के स्थान पर मधुवन का उल्लेख करना लोक मानस की अल्पज्ञता और भावुकता का सहज परिणाम है। भावातिरेक में आकर लोक-गायक का लक्ष्य तथ्यान्वेषण न होकर हार्दिक भावों का अभिव्यंजन होता है।

कृष्ण गोपियों को छोड़कर मधुवन चले गये हैं। प्रेम के मधुर संसार में आत्म-विस्मृता गोपियाँ, मधुवन में बजती हुई बाँसुरी के स्वरों को सुनने की क्षमता रखती हैं। बाँसुरी के स्वर सुन कर उनकी विकलता बढ़ जाती है और वे कृष्ण के दर्शन के लिए लालायित हो उठती हैं। इसी समय उद्धव कृष्ण का पत्र, जिसमें योग का सन्देश है, लेकर आते हैं। पत्र पढ़ते ही प्रेमाकुल व्रज वनिताओं का कोमल हृदय विदीर्ण हो उठता है और वे समझ लेती हैं कि कृष्ण कुब्जा के मोह-पाश में उलझ कर उनसे विरक्त हो गये हैं।

इस गीत में एक सामान्य ग्राम्य नारी के मनोभावों का अत्यधिक सजीव चित्रण हुआ है। प्रायः ग्रामीण पुरुष नगरों में धनार्जन के लिये आते हैं और किसी नागरी स्त्री के आकर्षण में फँस कर विवाहित पत्नी की उपेक्षा करते हैं।

भोजपुरी बोली में एक अन्य पूर्वी गीत में परदेश से आगत पति के द्वारा, अपनी पत्नी को उपहार देने का उल्लेख है—

सइयाँ मोरे गइले रामा पूरबी बनिजिया।
से लेइ हो अइले ना, रस बेंदुली टिकुलिया ॥१॥
से लेइ हो अइले ना।
टिकुली में साटि रामा बइठलो अटरिया
से चमके लगले ना, मोर बेंदुली टिकुलिया ॥२॥
से चमके लगले ना।
घोड़वा चढ़न आवे राजा के छोकड़वा
से धड़कन लागे ना, मोर कोमल रे करेजवा ॥३॥
से धड़कन लागे ना।
खोलु खोलु धनिया आरे बजर केवरिया
से आजु तोरा ना, अइले सइयां परदेसिया ॥४॥
से आजु तोरा ना।

कहत विश्वनाथ धनि हुवे तोर भगिया
से छम छम बाजे ना, द्वार खोलत पयजनिया ॥५॥
से छम छम बाजे ना ॥

(भो० ग्रा० गी० पृ० ३६४–६५)

किसी स्त्री का पति पूर्व दिशा मे व्यापार करने गया था, जब वह वापस आया तो अपनी पत्नी के लिये सुन्दर टिकुली (बिन्दी) उपहार-स्वरूप लाया। टिकुली को लगा कर जब वह स्त्री अटारी पर बैठी तो उस टिकुली की ज्योति से सम्पूर्ण वातावरण शोभित हो उठा। इसी समय दूर मार्ग मे उसका पति राजकुमार की भाँति घोड़े पर आता दिखाई दिया। दीर्घ वियोग के पश्चात् पति के साक्षात्कार की मधुर कल्पना मे उसका हृदय धड़कने लगा। अटारी के द्वार पर खड़ा पति केवाड़ खोलने के लिए पुकारता है और वह सौभाग्यशालिनी स्त्री नूपुर-ध्वनि बिखेरती हुई केवाड़ खोल रही है।

इस गीत मे संयोग का अत्यन्त मार्मिक चित्र खींचा गया है। 'बजर केवरिया' में विशेष अर्थ ध्वनित होता है। सच्चरित्र स्त्री के द्वार केवल स्वामी के स्वागत के लिये ही खुलते है। दीर्घ वियोग की अवधि मे जो द्वार वज्र की दृढ़ता लेकर बन्द रहे, वही संयोग वेला के शुभागमन मे सरलता से खुल जाते है।

अलचारी—

अलचारी शब्द 'लाचारी' से बना है जिसका अर्थ होता है विवशता। स्त्रियो के विवशता-प्रधान मनोभावो की अभिव्यक्ति जिन गीतो मे होती है उन्हे 'अलचारी' कहा गया है। प्राय: ग्रामीण स्त्रियो के पति बहुत मना करने पर भी, बार बार रोकने पर भी, परदेश चले जाते हैं। विवश स्त्रियाँ अपने हृदय की विकलता को गीतो के स्वरो मे ढाल कर ही सन्तोष करती हैं। अलचारी के गीतो मे, परदेश-गमन के लिये उद्यत, हठीले पति के प्रति स्त्री-हृदय का नम्र-निवेदन प्रकट होता है।

ये गीत भोजपुरी क्षेत्र मे अधिक संख्या मे प्राप्त होते हैं। अवधी गीतों मे भी इस प्रकार के मनोभावों का निरूपण उपलब्ध होता है।

एक भोजपुरी गीत मे किसी स्त्री द्वारा पति को परदेश-गमन से रोकने की चेष्टा की जा रही है—

बारहिंबार तोहि बरजो मोर सामी,
से उतरी बनिजिया मति जइह मोर सामी।
उतरी बनिजिया के उतरी बगालिन,
से रखिहे करेजवा लगाइ मोर सामी।
बारहिंबार तोहि बरजो मोर सामी,
से उनका सेजरिया मति जइह मोर सामी।
उनका सेजरिया जब जइह तू हूँ सामी,
से उतरि जइहे तोहरा मुखवा के पानी।
हमरा सेजरिया जब अइब मोर सामी,
से [illegible] हूँ होइब रजवा हमहूँ पटरानी ॥ (भो० लो० क० र० पृ० ३४४-४५)

किसी सरल-हृदय ग्रामीण नारी को भय है कि उसका पति उत्तर दिशा में व्यापार करने के लिए जायगा तो अवश्य ही किसी बंगालिन स्त्री के मोह-जाल में फंस जायगा। बंगाल की स्त्रियाँ मायाविनी होती हैं और पर-पुरुषों को अपने प्रेम में आबद्ध कर लेती हैं। अपने पति के समक्ष निवेदन करती हुई वह उस पर-दिशा में न जाने का सत्परामर्श देती है। संयोग का वास्तविक सुख विवाहिता पत्नी के साहचर्य में ही उपलब्ध हो सकता है।

भोजपुरी प्रदेश के पुरुष प्रायः धनोपार्जन के लिये कलकत्ता जाते हैं। बंगाल के जादू से आतंकित ग्रामीण स्त्रियाँ कलकत्ता-नगर को भय और आशंका से देखती हैं। अपने पति को कलकत्ता जाते देख कर उन्हें सबसे बड़ा भय यही होता है कि वह किसी बंगालिन के माया-चक्र में फँस जायगा।

भोजपुरी बोली के एक अन्य गीत में, स्त्री के द्वारा अपने पति को मोरंग-बिहार के लिए रोकने का असफल प्रयास किया जा रहा है—

> बारहिबारि तोहि बरजो मोर सामी,
> से झंझरी नैया जनि चढ़िह मोर सामी।
> झंझरी नैया जब चढ़ला मोर सामी,
> से तर भइली नैया ऊपर भइली पानी।
> जब तर भइल नैया ऊपर भइले पानी,
> त मारि के डुबुकिया रउरा पार होइ जाईं।
> मारि डुबुकिया रउरा पार होइ जाईं,
> त केस रउरा झलके सेवारवा के नाईं।
> केस रउरा झलके सेवारवा की नाईं,
> त दांत रउरा चमके बिजुलिया के नाईं।
> दांत रउरा चमके बिजुलिया के नाईं,
> त बोलरउरा बोलीला मयनवा के नाईं,
> त बोल रउरा बोलीला मयनवा के नाईं,
> त चाल रउरा चलीला फिरंगिया के नाईं।

(भो० ग्रा० गी० र० पृ० ३४५)

स्त्री के द्वारा बार-बार रोकने पर भी पति छिद्र युक्त नाव में बैठ जाता है। कुछ ही देर में नाव में जल भर आता है और वह डूबने लगती है। स्त्री अपने पति को तैर कर बाहर आने का परामर्श देती है। तैरते समय पति के केश सेवार के समान लगते हैं, दांत बिजली के समान चमकते हैं, बोली मैना के कंठ-स्वर के समान मधुर प्रतीत होती है और उसकी चाल फिरंगियों की चाल के समान प्रभावपूर्ण दिखाई देती है।

संभवतः इस गीत की रचना अंग्रेजों के शासन-काल में हुई है, जब समस्त गुणों के आदर्श रूप में उनकी प्रतिष्ठा थी।

अवधी क्षेत्र से प्राप्त एक गीत में उपर्युक्त दोनों गीतों की भावनाओं का

साम्य लक्षित होता है। यद्यपि इस गीत को 'अलचारी' गीतो की श्रेणी मे आबद्ध नही किया गया है परन्तु मूलभूत भावनाओं मे कोई अन्तर नही है—

घर के अंगनवा में जनि जाहु स्वामी रे
अरे केई देतो पिढवा अउर जलपान।
अपने अंगनवा मे आहो मोरे स्वामी रे
हम देवो पिढ़वा अउर जलपान।
पर के सेजिया पै जनि जाहु स्वामी रे
उतरि जैतो मुंहवा के आब।
अपने सेजिया पै आहो मोर स्वामी रे
रहि जैतो मुहवा के पान।
अरे केसिया तोरे के लागे हम भौरवा के नाहिन।
अरे आखिया तोरे के लागे हम मछलिया के नाहिन।
अरे दतिया तोरे के लागे हम बिजुलिया के नाहिन।
अरे बोलिया तोरे लागे हम कोइलिया के नाहिन।
अरे चलिया तोरे के लागे हम मोगलवा के नाहिन। (क० कौ० पृ० ७३१)

पर-स्त्री के आकर्षण मे उलझे अपने पति से कोई पत्नी आग्रह करती है कि वह पराये घर मे न जाए, क्योकि वहां कोई भी समुचित आसन और आहार नही देगा। परायी-शय्या पर सोने म मुख की कान्ति नष्ट हो जायगी। पति को प्रसन्न करने के लिये उसके सौन्दर्य की उत्कृष्टता सिद्ध करती हुई वह कहती है कि उसकी लटें भंवरो के समान काली है। नत्र मछलियो के समान बडे और तिरछे हैं, दात बिजली के समान चमकीले हैं। वाणी कोयल के स्वर के समान मधुर है और चाल मुगलो की चाल के समान सुन्दर है।

भोजपुरी गीत की नायिका पति के केशो को सेवार के रूप मे देखती है, जबकि अवधी गीत की नायिका उनम भ्रमरो की श्यामलता निरूपित करती है। इसी प्रकार एक को अपने प्रियतम की वाणी मे मैना के कठ का माधुर्य लक्षित होता है और दूसरी उसमे कोयल की सुरीली कूक का आभास पाती है।

खेल के गीत—

अनेक गीत ऐसे होते हैं, जिन्हें छोटे बच्चे खेलते समय गाया करते हैं। इन्हे खेल के गीत कहा जाता है। इस प्रकार के गीत भोजपुरी और अवधी दोनो क्षेत्रो मे उपलब्ध होते हैं। बालको की यह प्रवृत्ति होती है कि वे खेलते समय कुछ न कुछ बोलते-चिल्लाते रहते हैं। कभी-कभी उनके मनोगत भावात्मक अभिव्यक्ति का रूप लेकर गीतों का सृजन कर उठते हैं। छोटे बच्चो का चिन्तन अस्पष्ट और अमूर्त होता है, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी अस्पष्ट और उलझी रहती है। मन मे उत्पन्न भाव के अनुरूप शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास की क्षमता भी बालको मे नहीं होती। अतएव उनकी उक्तिया प्रायः टूटी-फूटी भाषा म लिपटी होती हैं। अनेक निरर्थक शब्दो का प्रयोग भी वे अपनी भावाभिव्यक्ति के प्रसंग मे करते हैं। बच्चों के खेल के गीत इन समस्त विशेषताओं के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

भोजपुरी और अवधी क्षेत्र मे प्रचलित अनेक खेल ऐसे हैं जिनमे गीत गाए जाते हैं। इनमे कुछ खेलो के निश्चित नाम हैं पर कुछ खेल ऐसे भी हैं जिनका कोई विशेष नाम निर्धारित नही है। इसके अतिरिक्त नन्हे नन्हे बालको के समुदाय मे नवीन खेलो की उद्भावना होती रहती है।

ग्रामीण बाल-समुदाय मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव लोकप्रिय खेल कबड्डी ही है। इस खेल मे बच्चे दो दलो मे विभक्त हो जाते हैं और एक मध्य रेखा खीच कर पृथक्-पृथक् खडे हो जाते है। एक दल का व्यक्ति दौडता हुआ दूसरे दल मे जाता है और किसी को छूकर अपने दल मे सुरक्षित लौट आने की चेष्टा करता है। दूसरे दल मे जाते समय उसे एक ही साँस मे कुछ बोलते रहना पडता है, साँस टूटने के पहले ही उसका अपनी सीमा मे लौट आना आवश्यक है बहुत से बच्चे इस अवसर पर केवल 'कबड्डी-कबड्डी' बोलते रहते है और बहुत से बच्चे गीत गाना पसन्द करते है। कबड्डी के अनेक गीत प्रचलित है। भोजपुरी क्षेत्र मे गाया जाने वाला कबड्डी का एक गीत इस प्रकार है—

ले कबडडी जाईला, तबला बजाई ला।
तबला के पइसा लाल बगइचा ।। (सगृहीत)

खेलने वाला बालक गीत को गाता हुआ और अन्तिम चरण 'लाल बगइचा' को दुहराता हुआ सास टूटने तक दूसरे दल की सीमा मे चक्कर लगाता रहता है।

दूसरा गीत इस प्रकार है—
कबड्डी मे लबडी, पाताल हाहाराई।
चील्ह कौआ हाक पारे, बाघ तरिआई ॥

(भो० लो० सा० का० अ० पृ० २३१)

इस गीत का कोई अर्थ नही है। विभिन्न शब्दो को जोड कर तुक मिलाई गई है।

एक अन्य गीत भी प्राप्त होता है—

ए कबड्डी रेता, भगत मोरा बेटा।
भगताइन मोगी जोरी, खेलब हम होरी ॥ (वही)

इस गीत मे भी विशेष अर्थ की योजना नही है। चतुर बच्चे ऐसे गीत को गाना पसन्द करते है जो एक साँस म सरलता से गाया जा सके। जैसे—

'आम छू आम छू कउडी भनक छु'।

(भो० लो० सा० का० अ० पृ० २३२)

कबड्डी खेलते समय यदि एक पक्ष के व्यक्ति दूसरे पक्ष का दाव आने पर उसे खेलने का अवसर नही देते तो उन्हे इस प्रकार चिढाया जाता है—

हमार दउवा ना खेलावे ओकर माई गुजरी।
मा खे गिरगिटवा, बियाले मूसरी ॥ (वही)

इसी प्रकार के अनेक गीत अवधी क्षेत्र में भी गाये जाते हैं। एक दल का व्यक्ति दूसरे दल के व्यक्तियों को परास्त करना चाहता है—

बोल कबड्डी पाला।
मुलतान बेटा मारा ॥ (संगृहीत)

इस गीत मे विपक्षी का मारने (पराजित करने) का भाव प्रकट हो रहा है।

एक अन्य गीत इस प्रकार है—

कबड्डी कबड्डी भुजायो चना।
चीख्यो चाख्यो गजब्बे बना ॥ (संगृहीत)

बालकों का खाने-पीने की वस्तुओं के प्रति सहज आकर्षण होता है। गांव के बच्चे भुंजे हुए चना मे ही अपूर्व स्वाद पाते हैं।

कहीं-कहीं निम्नलिखित गीत भी उपलब्ध होता है।
चल कबड्डी आम की।
पानी पिये ताल की।
मदन गोपाल की ॥ (संगृहीत)

इन गीतों मे किसी गंभीर अर्थ की योजना नहीं होती।

आंख-मिचौली का खेल भी बाल-समुदाय मे बहुत लोकप्रिय है। भोजपुरी मे इस खेल को 'आंख मुदौवल' भी कहते हैं। यह कई प्रकार से खेला जाता है। छूआ-छून के खेल मे एक लड़का चोर बन कर खड़ा रहता है; दूसरे सब लड़के [illegible] रहते हैं। जैसे कोई लड़का खड़ा होता है, 'चोर' लड़का उसे छूने की चेष्टा करता है। छू जाने पर दूसरा लड़का चोर बन जाता है। बैठे हुए लड़के 'चोर' को चिढ़ाते हुए कहते हैं—

एक बेर के छुअले का भइले।
किरवा बिनि बिनि खा गइले ॥

(भो० लो० सा० का० अध्ययन पृ० २३७)

अर्थात् एक बार छू जाने वाला लड़का कीड़े बीन-बीन कर खाता है। इस उक्ति से चिढ़ कर खड़ा होने वाला लड़का अन्य किसी लड़के को छूने की सम्पूर्ण चेष्टा करता है।

भोजपुरी क्षेत्र मे एक मौन व्रत धारण करने वाला खेल खेला जाता है जिसे 'चुप्पी' कहते हैं। इसमे एक लड़का निम्नांकित गीत गाता है—

ओका बोका तीन तड़ोका।
लउवा लाठी चन्दन काठी।
बाग में बगउवा डोले।
सावन में करइला फूले।
बो करइला के नांव का।

हुअइल बिहइल पानआ फूलवा।
फूलवा पिचक॥ (वही पृ० २३३)

इस गीत की समाप्ति के साथ ही सभी बच्चे मौन हो जाते हैं। जो पहले बोल देता है वह सभी बच्चों द्वारा चिढ़ाया जाता है।

अवधी क्षेत्र में इस प्रकार के गीत एक अन्य खेल में गाया जाता है। सभी बच्चे गोलाकार बैठ जाते हैं और अपने-अपने हाथ उलटे करके रखते हैं। एक बालक एक-एक बार सबके हाथ छूता हुआ गाता है—

अक्को बक्को तीन तिलक्को।
लउवा लाठी बन की टाटी।
बाग फूले बगुलिया फूले।
सावन मास करौंदा फूले।
बाबा जी गये दिल्ली।
हूँवन तें लाये सात कटोरा।
एक कटोरा छी मो। (संगृहीत)

इस गीत में 'अक्को बक्को' 'तिलक्को' आदि शब्द निरर्थक हैं।

भोजपुरी क्षेत्र में एक खेल 'घोघो रानी' खेला जाता है। इसमें अनेक बालक एक दूसरे का हाथ पकड़ कर एक गोल घेरा बनाते हैं। और बीच में एक बालक अथवा बालिका को खड़ा कर देते हैं। सभी बच्चे मिल कर लयात्मक स्वर में पूछते हैं।

"घोघो रानी कतना पानी ?"

बीच में खड़ा बालक अपने पाँव छूता हुआ उत्तर देता है—

"अतना पानी।"

इसी प्रकार बच्चे बार-बार प्रश्न करते हैं और बीच का बालक क्रमशः अपने हाथों को ऊंचा करता हुआ उत्तर देता जाता है। अन्त में जब सिर के ऊपर तक हाथों का संकेत पहुँच जाता है तब वह किसी भी स्थान पर हाथों का घेरा तोड़ कर भाग जाता है और शेष सभी बच्चे उसे छूते हैं। जो उसे छू लेता है वह फिर बीच में खड़ा होता है।

यह खेल अवधी क्षेत्र में भी प्रचलित है, किन्तु यहाँ बालकों की प्रश्नोत्तर प्रणाली में किंचित् अन्तर है। बच्चे प्रश्न करते हैं—

'हरा समुन्दर गोपी चन्दर,
बोल मेरी मछली कितना पानी ?'

बीच में खड़ा बालक पूर्व कथित ढंग से उत्तर देता है—

'इतना पानी।'

किसी भी खेल को खेलते समय 'चोर' का निर्णय करने के लिये गीत।

त्मक प्रणाली अपनाई जाती है। गीत का एक-एक शब्द एक-एक व्यक्ति पर बोला जाता है और अन्तिम शब्द जिस व्यक्ति पड़ता है वह निकल जाता है। इस प्रक्रिया के अन्त में जो एक व्यक्ति रह जाता है, वही 'चोर' मान लिया जाता है—

भोजपुरी क्षेत्र में इस अवसर पर यह गीत गाया जाता है—

कागज कागज कलम दवात,
ईंटा माटी सोने के टाट,
टाट गिरे द पूरे अठ।

अवधी क्षेत्र में बालक इस अवसर पर निम्नलिखित गीत गाते हैं—

अक्कड़ बक्कड़ बम्बे बो,
अस्सी नब्बे पूरे सौ।
सौ में लागा तागा,
चोर निकल के भागा।
राजा की बेटी सोती थी
कुड़म पुड़म नगाड़ा।
अलू फिसला पाव घम। (संगृहीत)

इन गीतों का कोई विशेष अर्थ नहीं है। अनेक शब्दों को जोड़ कर गीतों की रचना की गई है।

भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित एक खेल में अनेक बच्चे मिल कर अपने-अपने हाथ की मुट्ठियों को एक दूसरे के ऊपर रख कर ऊंचा उठाते हैं। फिर मुट्ठियों के बने हुए उस वृक्ष को काटने का अभिनय करते हुए गाते हैं—

तार काटो तरकुल काटो रे वनखाजा।
हाथी परके घुघुआ चमकु चले राजा॥
राजा के रजइया बाबू के दोपाट्टा।
हीचि मारो घीचि मारो मसूर अइसन बेटा॥
(भो० लो० सा० का० अध्ययन पृ० २१३)

अवधी क्षेत्र में भी यह खेल खेला जाता है। हाथों से बने इस वृक्ष को आम वृक्ष मानते हुए निम्नलिखित गीत गाया जाता है—

पहला बालक—बाबा बाबा आम देव।

दूसरा बालक—आम है सरकार के।

पहला बालक—हमहूं है दरबार के।

दूसरा बालक—अच्छा एक उठाय लेव। (संगृहीत)

पहला बालक मुट्ठी हटा कर आम चूसने का अभिनय करता है। इसी प्रकार सभी बच्चे गीत के अनुसार काल्पनिक आम का मधुर रसास्वादन करते हैं।

भोजपुरी प्रदेश मे 'झक्काझूमरि' नामक खेल लड़कियां खेलती हैं। इसमे दो लड़कियां अपने हाथों को एक दूसरे से जोड़ कर नाचती हैं। इस अवसर पर वे गीत गाती है—

> कह ही भिगड़ा बड़ेरी लागे धुआँ,
> सासू पकवनी गल-गल पूआ।
> अपने खइलो घिआहवा पूआ,
> हमरा के दिहली तेलहवा पूआ।
> ना खाइबि पूआ खेलबि जूआ।
>
> (भो० लो० सा० का अध्ययन पृ० ११३-१४)

इस गीत से सास की दुष्टता का वर्णन है कि वह स्वय तो घी के पुआ खाती है पर बहू को तेल के पुआ खिलाती है। यह खेल अवधी क्षेत्र मे भी खेला जाता है पर इस अवसर पर कोई विशेष गीत नही गाया जाता।

अवधी क्षेत्र के बच्चे एक खेल खेलते हैं, जिसमे एक बच्चा पृथ्वी पर अपनी सीधी हथेली रखता है, दूसरा बच्चा ऊपर से अपनी उल्टी हथेली रखता है। तीसरा बच्चा फिर ऊपर से अपनी सीधी हथेली रखता है। इसी प्रकार से सभी बच्चे अपने-अपने हाथ रखते हैं। अंतिम बालक अपना एक ही हाथ रखता है और दूसरे हाथ से सबकी हथेलियो को पीटता हुआ गाता है—

> घपरी के घपरा फोरि खाये खपरा।
> मिया बुलाये चमकत आये।
> खेत खायो, खरियान खायो।
> पकरि बिल्ल के कान ही कान॥ (सगृहीत)

गीत की समाप्ति के साथ ही एक-एक करके सबकी हथेलियां उठती जाती है और सब एक दूसरे के कान पकड़ लेते हैं। फिर सभी बच्चे कान पकड़े-पकड़े ही झूम-झूम कर 'माऊं माऊं' गाते हैं।

अवधी क्षेत्र मे प्रचलित एक अन्य खेल मे छोटे-छोटे बच्चे पैर फैला कर बैठ जाते हैं और एक बालक सबके पैरो पर हाथ फेरता हुआ गाता है—

> घरो घरो सेर क दूध अधान क पानी।
> अपने बबुल की छिरिया चराई बुकरिया चराई।
> कोरा टूंगा पाओ तो कि नाई ?

इतना कह कर गाने वाला बालक सबके मस्तक पर हल्का-सा आघात करता है। फिर यह सभी बच्चो से धान कूटने, फटकने और तौलने का कार्य करवाता है। दोनो पांवों को चूल्हा मान कर उस पर भात बनाया जाता है।

भात तय्यार होने के पश्चात् माड निकालने के साथ यह गीत गाया जाता है—

> पंचो मांड पसांय।
> पचो पांच रोटी खांय।

आधी हार को लै जांय ।
कौआ पोटि-पोटि खांय ।
पंछी लोटि-लोटि जांय ॥ (संगृहीत)

इसके पश्चात् गाने वाला बालक नहाने जाता है और सभी बच्चे भात खा लेने का अभिनय करते हैं । नहा कर लौटने पर गाने वाले बालक तथा अन्य बालकों में भात के लिये संघर्ष होता है और हँसते-हँसते खेल समाप्त हो जाता है ।

गाय के विद्यालयों के बच्चे काठ की पाटी पर लिखते हैं, लिखा हुआ मिटाने के लिये वे उस पानी से धो देते हैं । पाटी सुखाते समय वे यह गीत गाते हैं—

सूख-सूख पट्टी,
चन्दन घोट्टी ।
राजा आए
महल लिपाये ।
महल के ऊपर,
झंडा गाड़ा ।
झंडा गया टूट,
पट्टी गई सूख । (लो० रा० पृ० १६२)

भोजपुरी प्रदेश में, बाल-समुदाय के अन्तर्गत जानवरों को चिढ़ाने के गीत भी प्रचलित हैं—

साड़ के लिए—साड़वा के पीठि-पीठि बदुरी बिआइल बाला,
हे हाहा हे हाहा हे हाहा हे ।
× × ×
हाथी के लिये—हथिया हथंग तोरा लाए के लिटम ।

(भो० लो० सा० का अध्ययन पृ० २३४)

अवधी क्षेत्र में भिन्न-भिन्न जातियों को चिढ़ाने के गीत प्राप्त होते हैं—

सुकल ब्राह्मणो के लिये—
सुकुल पिलिल्ली, मारि खाय गिल्ली ।
गिल्ली न पावैं ठाढ़े रोवैं ।
जहाँ घलैं सोहारी, तहाँ फाँदें अटारी ।
जहाँ घाले पुआ, तहाँ न्यावैं कुआ ॥

मिश्र ब्राह्मणों के लिये—
मिसिर करैं खिसिर-खिसिर,
मैवरा ते गुर्रायं ।
मैवरा मारी लात,
मिसिर चना न चबाय । (लो० रा० पृ० १६०)

भोजपुरी और अवधी क्षेत्र में बालिकाओं के एक खेल 'झँझी' का बहुत

पञ्चम अध्याय

भोजपुरी और अवधी लोकगीतों का कलात्मक पक्ष

- लोकगीतों में नायिका-भेद
- लोकगीतों में रस-व्यंजना
- लोकगीतों में अलंकार-योजना
- लोकगीतों में छन्द-विधान
- लोकगीतो में स्वाभाविकता एवं मार्मिकता

५ भोजपुरी और अवधी लोकगीतों का कलात्मक पक्ष

लोकगीतों में नायिका-भेद

काव्य एवम् नाट्य मे प्रधान पुरुष पात्र को नायक और प्रधान स्त्री पात्र को नायिका कहते हैं। संस्कृत साहित्य मे 'नायिका' के स्वरूप एवं प्रकारों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र मे नायिका की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए रूप-गुणशील, यौवन, माधुर्य, शक्ति, स्नेह प्रमत्तता आदि अनेक तत्वों का निर्देश किया है।[1]

प्रमुख रूप से नायिका के तीन भेद हैं—(१) स्वीया या स्वकीया (२) अन्या या परकीया (३) सामान्या।[2]

स्वकीया नायिका वह है जो नम्रता और सरलता आदि गुणों से युक्त गृह कर्मों मे तत्पर और पतिव्रता हुआ करती है। वयः क्रमानुसार स्वकीया नायिका के तीन प्रकारों का उल्लेख किया गया है—(क) मुग्धा (ख) मध्या (ग) प्रगल्भा।

मुग्धा नायिका वह है जो बाल्यावस्था से यौवनावस्था मे प्रथम पदार्पण कर रही हो। मुग्धा के भी दो भेद माने गये हैं—अज्ञात यौवना एव ज्ञात यौवना। जो मुग्धा अपने यौवन के आगमन को लक्षित नही कर पाती वह अज्ञात यौवना और जो लक्षित कर लेती है वह ज्ञात यौवना कहलाती है। ज्ञात यौवना के भी दो भेद निर्धारित किये गये हैं—नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढा। जिस नव विवाहिता मे लज्जा और भय अधिक होता है, वह नवोढ़ा कहलाती है और जिसमे लज्जा और भय की न्यूनता के साथ विश्वास का आरभ हो जाता है वह विश्रब्ध नवोढ़ा कहलाती है।

---

1. रूपगुणशील यौवन माधुर्य शक्ति संपन्ना।
   वि दादास्निग्धा मधुरा पेशल वचनाभिरक्त कंठी च।
   योग्या यामक्षमिता लयलाक्षा रसैस्तु संयुक्ता॥
   एवं विधगुणैर्युक्ता कर्त्तव्या नायिका तज्ज्ञैः।—नाट्यशास्त्र ३५।२-६।
2. नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति। —साहित्यदर्पण ३/५६

मध्या नायिका यौवनावस्था में निस्संकोच और न्यून लज्जा सम्पन्न होती है। मध्या नायिका के धीरा, धीराधीरा और अधीरा— ये तीन भेद होते हैं। मान के समय मध्या धीरा सहास वक्रोक्ति से धीरा धीरा आँसुओं सहित वक्रोक्ति से और मध्या धीरा क्रोधपूर्ण कटूक्तियों से अपराधी पति में दुःख उत्पन्न करती है। प्रगल्भा नायिका में यौवन का पूर्ण उभार, रति-कौशल का पूर्ण समावेश हाव-भावों का पूर्ण विकास और लज्जा की अत्यधिक न्यूनता पाई जाती है। वह रति-लीला में नायक को परास्त करने की शक्ति रखती है। प्रगल्भा में भी धीरा, धीराधीरा और अधीरा तीन भेद होते हैं। प्रगल्भा धीरा अपने क्रोध को छिपा कर बाह्य रूप से वाणी द्वारा आदर-सत्कार प्रदर्शित करती है, पर रति-क्रीड़ा में उदासीन रहती है। प्रगल्भा धीराधीरा कटु वचनों एवं व्यंग्यों से नायक को विरक्त करती है। प्रगल्भा अधीरा क्रोधावेग में नायक को तर्जना एवं ताड़ना देने के अतिरिक्त शारीरिक दण्ड भी देता है।

पति-प्रेम के न्यूनाधिक्य के विचार से स्वकीया के दो अन्य भेद होते हैं— ज्येष्ठा और कनिष्ठा।

साहित्यदर्पणकार ने स्वकीया नायिका के तेरह भेदों को स्वीकार किया है— जिनमें मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, मध्या-प्रगल्भा के ज्येष्ठा और कनिष्ठा के अनुसार दो-दो भेद तथा धीरा, धीराधीरा और अधीरा के अनुसार तीन-तीन भेद सम्मिलित है।[1] 'रसार्णव सुधाकर' में भी तेरह भेदों का वर्णन प्राप्त होता है।[2]

परकीया नायिका वह होती है जो अन्य पुरुष से सम्बन्ध रखती है। परकीया के भी दो भेद माने गए हैं—(१) ऊढ़ा (२) अनूढ़ा। ऊढ़ा नायिका विवाहित होती है और पर पुरुषों से निस्संकोच प्रेम-प्रसंग स्थापित करती है। अनूढ़ा नायिका अविवाहिता होती है।

सामान्या नायिका वह होती है जिस पर समस्त व्यक्तियों का समान अधिकार हो। इसे गणिका या वेश्या भी कहते हैं। यह रति-कला कुशल एवं संगीतादि कलाओं में पारंगत होती है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त व्यवहार एवं दशा भेद के अनुसार नायिका के आठ भेद होते हैं—(१) स्वाधीनपतिका (२) वासकसज्जा (३) विरहोत्कंठिता (४) खंडिता (५) कलहान्तरिता (६) विप्रलब्धा (७) प्रोषितपतिका (८) अभिसारिका।

स्वाधीन पतिका नायिका उसे कहते हैं जिसका पति उसके वश में होता है

---

1. मध्याप्रगल्भयोर्भेदास्तस्माद् द्वादश कीर्तिता।
   मुग्धा त्वेकैव तेन स्युः स्वीयाभेदास्त्रयोदश॥ —साहित्यदर्पण ३/६१
2. धीराधीरा द्विभेदेन मध्याप्रौढ त्रिधा त्रिधा।
   ज्येष्ठा कनिष्ठा भेदेन ताः प्रत्येकं द्विधा द्विधा॥
   मुग्धा त्वेकविधा चैव सा त्रयोदशधोदिता॥
   —शिंगभूपाल, रसार्णव सुधाकर १ विलास, १०५.

और उसे छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता तथा वह पत्नी के शृंगार आदि विलास-कार्यों में रत रहता है।

वासकसज्जा नायिका उसे कहते हैं जो वस्त्राभूषण, शृंगार आदि से सज्जित होकर प्रसन्नतापूर्वक पति के आगमन की प्रतीक्षा करती है।

विरहोत्कंठिता नायिका वह होती है जिसका पति निश्चित समय के भीतर बिना अपराध के न आ सके और जो इसलिये दुखी हो।

खंडिता नायिका वह है जो पति शरीर पर अन्य स्त्री द्वारा अंकित संभोग चिह्नों को देखकर ईर्ष्यान्वित हो उठती है।

कलहांतरिता नायिका उसे कहते हैं जो प्रणय-प्रार्थना में रत पति को रोष-पूर्वक निरादृत करती है और अन्त में पश्चात्ताप करती है।

विप्रलब्धा नायिका वह कहलाती है जिसका प्रियतम संकेत-स्थान नियत करके भी उससे मिलने नहीं आता और जो इस प्रकार अपना अपमान समझती है।

प्रोषितपतिका नायिका वह होती है जो कार्यवश प्रियतम के परदेश चले जाने के कारण वेदना से पीड़ित रहती है। काल क्रम के अनुसार यह नायिका तीन प्रकार की होती है—

प्रोषितपतिका—जिसका पति परदेश चला गया हो।
प्रवत्स्यत्पतिका—जिसका पति परदेश जाने वाला हो।
प्रवत्स्यत्पतिका—जिसका पति अभी परदेश जा रहा हो।
इनके अतिरिक्त एक अन्य भेद भी माना जाता है—
आगतपतिका—जिसका पति परदेश से लौट आया हो।

अभिसारिका नायिका वह है जो कामार्त होकर स्वयं संकेत-स्थान पर प्रियतम से मिलने के लिये जाती है।

समय-भेद के अनुसार दो प्रकार की अभिसारिकाएं होती हैं—

कृष्णाभिसारिका—जो कृष्णपक्ष की अंधकार पूर्ण रात में काले वस्त्राभूषणों से सज्जित होकर अभिसार करती हैं।

शुक्लाभिसारिका—जो शुक्ला पक्ष की ज्योत्स्नामयी रात्रि में उज्ज्वल वस्त्राभूषण धारण करके अभिसार करती हैं।

लोकगीतों में विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का अनायास उल्लेख प्राप्त होता है। लोकगीतों के निर्माण में स्त्रियों का अपेक्षाकृत अधिक योग है। स्त्रियों के जीवन का एक-एक अंश लोकगीतों के विशाल दर्पण में प्रतिबिम्बित हो उठा है। ऐसा लगता है, नारी-कंठ से उद्भूत होकर नारी-जीवन की विवृति में ही अपने को विलय कर देना लोकगीतों का अभीष्ट है। लोक-वाणी में अवतीर्ण प्रत्येक गीत नारीत्व को कोमलता, करुणा, स्नेह और ममता से सस्पर्शित है। कहीं नारी के गौरवमय उत्कर्ष की गाथा सजोए और कहीं उसके पतित क्षणों की अपकर्षानुभूति में गहन वेदना छिपाये लोकगीतों के स्वर समग्र वायु-मण्डल में गूंजते रहते हैं।

भोजपुरी और अवधी लोकगीतों में भी स्त्री-जीवन की समग्रता चित्रित हुई

है। गीत की छाया में विकसित स्त्री के विभिन्न रूप चित्रों में, साहित्य-निर्दिष्ट नायिकाओं के भेद-प्रभेद लक्षित होते हैं।

स्वकीया नायिका—

सर्वप्रथम एक भोजपुरी गीत में स्वकीया का आह्लाद युक्त स्वरूप देखिये—

आहो रामा ऊंचही मन्दिल चढ़ि,
मोर सैंया सोवे हो रामा।
हम धनि बेनिया डोलाइबि हो रामा। (भो० ग्रा० गी०) पृ० २५१

कोई विवाहिता स्त्री प्रेम और सेवा की मधुर भावनाओं के साथ सोए हुए पति पर पंखा कर रही है। यहाँ पति के प्रति पत्नी के हृदय की श्रद्धा, प्रेम, चिन्ता आदि सद्भावनाओं की सुन्दर व्यंजना हुई है।

एक अवधी गीत में भी पति-परायणा स्वकीया नायिका का मधुर स्वरूप प्राप्त होता है—

धीरे बहु नदिया में धीरे बहु
मोर पिया उतरैं दे पार। (लो० रा० पृ० ८५)

नदी के किनारे खड़ी कोई ग्रामीण वधू, प्रबल वेग से प्रवाहित होती हुई जल-धारा से धीरे बहने का निवेदन कर रही है क्योंकि उसके प्रियतम को पार, उतरना है। इन पंक्तियों में भी पति के प्रति अथाह प्रेम, सम्मान और चिन्ता का भाव प्रकट हो रहा है।

भोजपुरी गीत में अन्यत्र मुग्धा स्वकीया का स्वरूप भी उपलब्ध होता है—

छोटी पुरी रहली त बइरन घरवली
पियती बकेनवा के दूध।
हालि हालि गवना करइहे माटि लागना,
कि खिलत बा बकेनवा के दूध॥ (भो० ग्रा० गी० पृ० ३१३)

कोई विवाहिता स्त्री यौवनागमन की उमंग में भर कर अपने पति को शीघ्र गवना कराने का सन्देश भेज रही है। यहाँ ज्ञातयौवना मुग्धा नायिका का अत्यन्त आकर्षक चित्रण हुआ है।

ज्ञातयौवना मुग्धा का एक चित्र अवधी लोकगीत में भी अंकित हुआ है—

तब तो रहेउं सइया बारी लरिकवा रे।
अब भयेउ बारी वयसवा हो रामा॥ (क० कौ० पृ० ४६६)

कोई स्त्री अपने पति को अपनी वयस्कता से अवगत करा रही है।

एक अन्य भोजपुरी गीत में मध्या स्वकीया नायिका का सुन्दर रूपांकन हुआ है—

पनवा अइसन धनिया पातर, सोहगइलो अइसन सूनरि हो।
बारे मोर सूनरि, फुलवा अइसन हलुकइया चननवा अइसन
गमकइ हो।

एक हाथे लिहली सूनरि दिअरा, दूसरे हाथे गंगाजल हो।
आरे मोर सूनरि चढ़ि गइली राजा के अटरिया, जहां रे राजा
सूतले हो।
दिअरा धइली दिअरखवा गंगाजल सिरहनवा नु हो।
कुछ घरी लागे बतिअवइत कुछ फुसिलवइत नु हो।

(भो० लो० में क० र० पृ० ६५)

मधुर मिलन की कामना से पूर्ण एक सुहागिन स्त्री हाथों में दीपक और गंगाजल लिये पति की 'अटारी' पर चढ़ जाती है और सहज भाव में प्रेमालाप करती हुई उसे रति-केलि के लिये प्रोत्साहित करती है।

इसी प्रकार एक भावपूर्ण चित्रण अवधी लोकगीत में भी प्राप्त होता है—

जिरवे धनि धनि पातरि कुसुम अस सुन्दरि।
रामा चढ़ि गई पिया की अटारी सोई सुख नींदा।
गेडुआ त धरिन उससवा चुनरी पयन तरे।
धना चढ़ि गई पिया की अटरिया सोई सुख नींदा॥ (क० कौ० पृ० २४६)

इस गीत में भी किसी विवाहिता स्त्री का निस्संकोच पति-मिलन और स्वाभाविक सुख-विलास निरूपित हुआ है।

प्रगल्भा स्वकीया नायिका का एक चित्र भोजपुरी गीत के माध्यम से द्रष्टव्य है—

राजावा लागल फूलन के तोसक,
मुझको हवा खिला दो ना।
हवा खिला दो सहर घुमा दो,
राजावा बेसरि गिरे मधुबन मे
मुझको हवा खिला दो ना॥ (भो० लो० गी० पृ० ४२३)

यहां किसी स्त्री के द्वारा पति के समक्ष कामनाओं का प्रगल्भतापूर्ण प्रकाशन अंकित हुआ है। लज्जा एवं संकोच की न्यूनता के कारण पत्नी की प्रगल्भता स्पष्ट रूप से प्रकट हो उठी है।

ऐसा ही एक उदाहरण अवधी लोकगीत में भी प्राप्त होता है—

असाढ़ के महीना मा गोरी कहै
चल बजजवा के दुकान।
हमका फराय दे अच्छा सा चीर,
लाग मा गोटी पट्टी मे लकीर। (लो० रा० पृ० १११)

यहां भी किसी स्त्री के द्वारा सुन्दर वस्त्र प्राप्त करने की कामना की प्रगल्भता-पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

परकीया नायिका—

एक भोजपुरी लोकगीत में परकीया नायिका का सफल चित्रण उपलब्ध होता है—

बकसर से गोरिया अकसर चललीं,
भरि मांग मोतिया गुहाई।
कवना रसिकवा के नजर परती
मोरि मोतिया गिरेले झहराई।

(भो० लो० गी० पृ० ४६८-६९)

इन पंक्तियों में किसी विवाहिता स्त्री का वर्णन है जो बक्सर शहर में अक्सर ही सज्जित वेश भूषा में निकला करती है और रसिक पुरुषों का आकर्षित करती है। पर पुरुष की काम-दृष्टि से मांग में गुंथे हुए मोतियों का झहरा कर गिरना विवाहिता के चारित्रिक ह्रास का सूचक है। इस गीत में ऊढ़ा परकीया का स्वरूप निरूपित किया गया है।

एक अवधी गीत में भी ऊढ़ा परकीया का सुन्दर रूप दिखाई देता है—

सैंया के बोलाये से मैं ना बोलूं
यार के बोलाये से बोलूं जैसे मैना।
सैंयां के इशारे से मैं ना देखूं,
यार के इशारे से होंवे दोनों नैना। (अं० गा० पृ० ६६-६७)

यहाँ भी किसी विवाहिता स्त्री की पर पुरुष के प्रति आसक्ति प्रकट हो रही है।

अन्यत्र एक भोजपुरी गीत में अनूढ़ा परकीया नायिका का उल्लेख प्राप्त होता है—

मोर पिछुअरवा रे तलवा बड़ल बा, पुरइन पसरेले हिलार ए।
ताहि पइसि कवन दुलहा मुनना रे कोंहना कचारे ले।
पूछेली कवन सुहवा बात ए॥
केकर हव तूहूं बलरू रे दुलरू केकर हव पूतू नाति ए।
केकरा पोखरवा नहइल बर सुन्दर, कहवा हो करेल पयान ए।
बाबा के हई हम बलरू रे दुलरू, मइया के हम हई लाल ए।
ससुर पोखरवा हम नहइलो बर कामिन, सेनुरा बनौवा करबे जाइए।
लहंगा पहिरि के निकले कवन बेटी, सुनी बाबा बचन हमार ए।
देस पइठि बाबा वर एक खोजहु, जे वर, सरवर नहाइ ए॥

(भो० ग्रा० गी० पृ० ३८-३९)

कोई कुँवारी कन्या सरोवर में नहाते हुए सुन्दर युवक को देखकर अनुरक्त हो जाती है और अपने पिता से उसे 'वर' रूप में ढूंढने का अनुरोध करती है।

इसी प्रकार एक अवधी गीत में अमूढ़ा परकीया का सुन्दर वर्णन हुआ है—

घरे अरे बाबा सुघर वर हेरेउ हम बेटी तोहरी दुलारि।
तीनि लोक मा हम बड़ी सुन्दरि, हमी न करावउ मोरि॥

×　　　×　　　×　　　×

पूरब हेरेउँ पछुवाँ मैं मैं हेरेउँ हेरेउँ मैं दिल्ली गुजरात।
तुमहो जोग बर कतहुँ न पावा, अब बेटी रहहु कुँवारि॥
पूरब हेरेउ पछुवां मे हेरेउ हरेउ दिल्ली गुजरात।
चारि परग भुँइया नगर अयोधिया दुइ वर अहैं कुँवार॥

(क० कौ० पृ० ३५९)

कोई कन्या अपने पिता से सुन्दर वर के रूप मे अयोध्या के 'राम लक्ष्मण' को प्राप्त करने का आग्रह कर रही है।

स्वाधीनपतिका नायिका—

भोजपुरी गीत मे स्वाधीन पतिका नायिका का स्वरूप भी सुन्दरता से वर्णित हुआ है—

दालभात खइबू कि पूड़ी मगा दी,
मोर जीव व्याकुल कइलू पथर को।
भुइयाँ चलबू कि पलकी मंगा दी,
मोर जीव हलचल कइलू पक्षर को।　　　(भो० लो० गी० पृ० ३९६)

किसी स्त्री का पति उसके भोजन एव भ्रमण की समुचित व्यवस्था के लिए चिन्ता व्यक्त कर रहा है।

अवधी बोली के गीत मे भी स्वाधीनपतिका नायिका का स्वरूप चित्रित हुआ है—

भूँख मा भोजन खियैहों मै,
पियासे मा पानी देहौं हो।
भनिया रखबों मे हियरा लगाय,
बबैया विसरि जैहैं हो।　　　(क० कौ० पृ० ३९६)

कोई पति अपनी प्रिय पत्नी के प्रति असीम प्रेम प्रकट करता हुआ उसके सर्वांगीण सुख का आश्वासन देता है।

वासकसज्जा नायिका—

भोजपुरी लोकगीत की निम्नांकित पंक्तियो में वासक सज्जा नायिका का एक चित्र अंकित हुआ है—

जब सुनली अपना पिया के अवइया।
कसि के लिहली जुरवा बंधाई॥　　　(भो० ग्रा० गी० पृ० ३२७)

प्रवासी प्रियतम के आगमन की सूचना पाकर कोई स्त्री जूड़ा बना कर (शृंगार-सज्जित होकर) प्रतीक्षा मे रत हो जाती है।

इसी प्रकार अवधी गीत की एक वियोगिनी स्त्री असाढ़ के महीने में शृंगार-सुसज्जित होकर पति के आगमन की प्रतीक्षा करती है—

सीतल चन्दन अंग लगावति,
कामिनी करत सिंगार।
जा दिन ते मनमोहन बिछुड़े,
सुनि के मास असार॥ (क० कौ० पृ० ७०८)

यहाँ भी वासकसज्जा नायिका का मनोहर रूप व्यक्त हो उठा है।

विरहोत्कंठिता नायिका—

परदेसी प्रियतम के आने की बाट जोहती हुई विरहोत्कंठिता नायिका की व्याकुलता भोजपुरी लोकगीत में बड़ी सुन्दरता से अंकित हुई है—

मोहन ना अइले रे।
बारह बजि गइल, सोलह बजि गइल।
अब बीत गइल सारी रात।
मोहन ना अइले रे॥ (भो० ग्रा० गी० पृ० १११)

किसी स्त्री का पति निश्चित समय पर आने का वादा करके भी नहीं आ पाया। सारी रात प्रतीक्षा में ही बीत गई। निराशा के आघात से वियोगिनी का हृदय प्रपीड़ित हो उठा है।

अवधी गीत की एक नायिका भी निराशा के इस कुठाराघात से कष्ट व्याकुल हो उठी है—

चैत मास बन फूले हैं टेसू,
ऊधो लिखी घर आवन की।
अजहुँ न आइ भाई किन बेलमाए,
यहै अंदेसा लागि रहो। (लो० गा० पृ० १०८)

चैत-माह में आने की सूचना देकर भी वह प्रवासी प्रियतम आया नहीं। वियोगिनी स्त्री का हृदय आशंका और चिन्ता से भ्रमित अत्यन्त व्याकुल है।

खंडिता नायिका—

लोकगीतों में खंडिता नायिकाओं का प्रचुर वर्णन प्राप्त होता है। भोली-भाली ग्राम-वधुएँ प्रायः अपने नगर-निवासी पति के द्वारा उपेक्षित एवं त्यक्ता होती हैं। पर-स्त्री के आकर्षण में आबद्ध पति से वेदना का जो निर्मम प्रहार उन्हें प्राप्त होता रहा है, वही लोकगीतों में करुणा का संचार बन गया है।

भोजपुरी गीत की कुछ पंक्तियों में एक खंडिता स्त्री की मनोव्यथा देखिये—

हथवा में लिहले हरि जी लोटना के डोरिया।
आरे, कासि जाते लिहल ए हरि जी, परी लागल पोथिया।
तेंकरा पोछे लवल ए हरि जी, मानिनी के बिटिया॥

(भो० ग्रा० गी० पृ० २६२)

कोई स्त्री अपने पति को मालिन की कन्या के साथ स्नानार्थ जाते हुए देख कर दुःखी हो रही है।

इसी प्रकार अवधी गीत में भी एक स्त्री अपने पति को किसी अन्य स्त्री के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए देख कर व्यथित होती है—

पनिया पिआवत के झलको वतिसिया हो ना।
जोलहिन लागो न हमरे मोहनवा हो ना।
जोलहन तोहका राखब जइये पिउ गार्गरि हो ना।
अपनो महल से उनके वियहो निहारँ हो ना।
सासू तोरा पूत ओढ़रि लै आवय हो ना। (भो० रा० पृ० १६४)

किसी स्त्री का पति प्रवास से लौटते समय मार्ग में एक जुलहिन स्त्री के हाथ से पानी पीता है और उसे अपने साथ ले आता है। प्रतीक्षा में बैठी हुई पत्नी जब अपने पति को एक ओढ़री (रखेल) के साथ आते हुए देखती है तो दुःखी हो जाती है।

कलहांतरिता नायिका—

लोकगीतों में स्त्रियों के विविध रूपों की अभिव्यक्ति हुई है। कलहांतरिता नायिका का रूपांकन एक भोजपुरी गीत में देखिये—

बंगला भीतर जनि आव हो राजा।
सोने के थारी में जेनवा परोस लौं।
फरके से जेवना जेवइबीं हो राजा॥ (भो० ग्रा० गी० पृ० १२६)

कोई उग्र स्वभाव की स्त्री अपने पति को गृह-निष्कासन का दण्ड देती हुई, दूर से भोजन देने की घोषणा कर रही है।

नारी के अशांतिप्रिय रूप का चित्रण अवधी लोकगीतों में भी प्राप्त होता है—

धन्य है पुरुष तोरि भागि करकशा नारि मिली।
भास घरी दिन मोर के जागी लिहिन बढ़निया उठाय,
निहुरे निहुरे अगना बटोरै घर भर को गरिआय॥

(क० कौ० पृ० ७८६)

यहाँ कलहांतरिता नायिका का सुन्दर स्वरूप लक्षित होता है।

विप्रलब्धा नायिका—

एक भोजपुरी गीत में विप्रलब्धा नायिका का क्षोभपूर्ण चित्र प्राप्त होता है—

झूठ भइले सगुआ, झूठ विअफइया,
झूठ भइले कगवा के बोल।
झूठ भइले बाम्हना के पतरा पोथिया,
कि सइंया नाहीं अइले हो मोर। (भो० ग्रा० गी० पृ० ३२७)

कोई वियोगिनी स्त्री अपने प्रवासी पति की प्रतीक्षा में रत है। ब्राह्मण के

विचार, मायु की भविष्यवाणी बृहस्पति का व्रत और, कौआ सूचक वाणी के अनुसार निर्धारित तिथि पर भी उनका पति नहीं आता तो वह उद्विग्न हो उठती है।

अवधी गीत की एक विरहिणी नायिका भी निश्चित अवधि में प्रियतम के न आने पर अत्यधिक खिन्न हो उठी है—

तुम जो कहो हरि अइहै बिरिज मा,
अजहूँ न आये मोरे स्याम धनी।
तुम नंदलाल जनम के कपटी,
इतना कपट कियो हम से॥ (लो० रा० पृ० १०७)

उपर्युक्त पंक्तियों मे विप्रलब्ध नायिका का आन्तरिक क्षोभ, दुख एवं अपमान स्पष्ट रूप से प्रकट है।

प्रोषितपतिका नायिका—

भोजपुरी गीत के एक उदाहरण में प्रोषितपतिका नायिका का करुण स्वरूप नियोजित हुआ है—

पीयवा चलेला परदेस, भरब सुख लेले गयो।
छतिया पर बजर केवाड़ लाला कुंजी भरि के गयो।
तेल फुलेला न लगाइबि, नट छटकाइबि।
हम ऐसी धोनिया अभागिनि, अकेलो छोड़ि गयो।

(भो० लो० गी० पृ० ३१४)

पति परदेश चला गया है। स्त्री के समस्त सुख भी वह अपने साथ ले गया है। वियोग की कठिन वेदना से व्यथित स्त्री दीन हीन गुफाकिनो-सी असहाय हो उठी है।

अवधी गीत में भी एक प्रोषित-पतिका का वेदना-व्यथित स्वरूप प्राप्त होता है—

मइया नाही हमैं सास ससुर दुख,
नाही नइहर दूर बसब।
मइया हमरे सजन परदेस,
मनैं मा बैराग भरी। (लो० रा० पृ १६६)

स्त्री के लिये पति-वियोग के समकक्ष अन्य कोई दुःख नहीं है। सास ससुर का अभाव और माता-पिता का पार्थक्य भी उतना कष्टकर नहीं होता जितना प्रिय का बिछोह होता है।

प्रवत्स्यपतिका नायिका—

भोजपुरी गीतों में प्रवत्स्यपतिका नायिका के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। एक लोकगीत में आसन्न पति-वियोग से दुःखी स्त्री की चेष्टायें देखिए—

बेरी बेरी तोहि बरजों ए लोभिया।
जनि जो तूहूँ मोरग वा।
मोरग पातर पनिया, लगीहें करेजवा। (भो० लो० गी० पृ० १०३)

कोई स्त्री परदेश जाने के लिये उद्यत पति को दूषित जलवायु का भय देकर रोकने की भावपूर्ण चेष्टा कर रही है।

अवधी गीत मे भी एक रूप-गर्विता स्त्री अपने पति को जो परदेश जाने वाला है—सौन्दर्याकर्षण मे बांध कर रखना चाहती है—

गोरी-गोरी बहियाँ मखुत्र रग चुनरी।
हमैं तजि चाले हो बीदेसवा। (क० कौ० पृ० १२६)

यहाँ प्रवत्स्यत्पतिका नायिका का स्पष्ट चित्रण हुआ है।

आगतपतिका नायिका—

पति का वियोग जितना कष्ट देता है, मिलन उतना ही सुख कर और मधुर होता है। लोकगीतो मे भी मिलन-जन्य उल्लास का पूर्ण समावेश उपलब्ध होता है।

भोजपुरी गीत की निम्नांकित पंक्तियो मे एक आगतपतिका की उमंगों का उन्मुक्त प्रवाह देखिये—

सइयाँ मोर गइले रामा पूरबी बनिजिया।
से लेइ हो अइले ना, रस बेदुली टिकुलिया।
से लेइ हो अइले ना।' (भो० ग्रा० गी० पृ० ११४)

परदेश से आए हुए प्रियतम के द्वारा रसमयी 'टिकुलिया' का उपहार पा कर पत्नी कि पुलक का पारावार नही है।

अवधी गीत मे भी आगतपतिका स्त्री के हार्दिक उल्लास का मनोरम चित्रण हुआ है—

जेठ तपै मृगदहिया ऊधो,
वन के पवन हहराय।
आए पिया हिलिमिलि कै प्यारो,
जिय की अरनि बुताय। (ग्रो० रा० पृ० ११२)

पति के आगमन के साथ ही जेठ माह के भीषण ताप और वियोग के कठिन सताप का क्षण भर में शमन हो जाता है।

अभिसारिका नायिका—

अभिसारिका नायिका का एक चित्र भोजपुरी गीत की प्रस्तुत पंक्तियों मे द्रष्टव्य है—

चलिए सखि उहंवा चलीं जा मिल तहवां
जहवा बसेले ब्रजराज। (भो० ग्रा० गी० पृ० ११४)

कोई गोपी सखियों के साथ कृष्ण से अभिसार करने जा रही है।

अवधी लोकगीत मे एक अभिसारिका की उत्कंठाओं का वर्णन देखिये—

अपने पिया की पियारी, अपने पिया की प्यारी,
अपने पिया मे सिगार करी।

नौ रसों का समावेश माना है। आगे चलकर समस्त आचार्यों ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त इन नौ रसों का महत्व स्वीकार किया है। जिस शान्त रस को आचार्य भरतमुनि ने नाट्य-रस रूप में ग्रहण नहीं किया था वह विश्वनाथ कविराज एवं पंडितराज जगन्नाथ के द्वारा नाट्य-रस के रूप में स्वीकार कर लिया गया।[1] कुछ आचार्यों ने वात्सल्य को दसवां और भक्ति को ग्यारहवां रस माना है। जीवन की जटिलताओं के साथ-साथ मनःस्थितियों एवं मनोभावों का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है। फलस्वरूप रसों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी है।

काव्य की भांति लोकगीत भी मानव हृदय की राग-विरागमयी भावनाओं का मुखरित रूप है अतः रस की जो धारा काव्य में प्रवाहित होती है, वह लोकगीतों को भी आप्लावित किये रहती है। लोकगीत को रस का उन्मुक्त निर्झर कहा जा सकता है। भोजपुरी और अवधी लोकगीतों में भी रस का अविरल आप्लावन लक्षित होता है। गीत के एक-एक बोल से उठती हुई रस की वेगमयी तरंगें हृदय को अनायास ही भिगो देती हैं। लोकगीतों के पुलिनों में बंधी हुई रस-तरंगिणी का प्रभाव अक्षुण्ण है, गति शाश्वत है और अजेय है। जीवन का एक-एक क्षण इस रस सरिता का प्रबल उद्गम है। ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के द्वारा निर्मित गीतों के मधुरिम संसार में रस का जो व्यापक विस्तार और संचार है वह अन्यत्र दुर्लभ है। लोकगीतों की स्वाभाविक भाव-व्यंजना रसोद्रेक में जितनी समर्थ है, उतनी चमत्कारपूर्ण कविता की दुरूह उक्तियाँ कदापि नहीं हो सकती।

भोजपुरी और अवधी गीतों में विविध रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। समस्त रसों में शृंगार और करुण रस की धारा प्रधान है। प्रेम और वियोग के कोमल भावों से अभिभूत शृंगार, लोकगीत की भावनामयी नायिकाओं के जीवन के विभिन्न सत्यों का उद्घाटन करता हुआ दिखाई देता है और करुणा का अथाह स्रोत उन सत्यों को सजीवता का रस देकर पोषित करता रहता है।

शृंगार-रस

'रति' स्थायी भाव से अभिव्यंजित होने वाला रस 'शृंगार रस' है। समस्त रसों में शृंगार को रसराज कहा गया है। अग्निपुराण में अन्य सभी रसों का शृंगार से ही प्रादुर्भाव माना गया है।[2] भोज ने भी शृंगार को ही एक पूर्ण रस माना है, अन्य रस इसकी सम्पूर्णता की मध्यवर्ती स्थितियां हैं।[3] ध्वनिकार ने भी शृंगार को

---

1. शृंगारहास्य करुण रौद्रवीर भयानकाः।
   बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः॥ —साहित्यदर्पण ३।१८२
2. व्यभिचार्यादि सामान्याच्छृंगार इति गीयते।
   तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः॥ —अग्निपुराण, ३४१।४-५
3. शृंगार वीर करुणाद्भुतरौद्र हास्य बीभत्स वत्सल भयानक शान्तनाम्नाः।
   आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद् रसनामनामः॥
   —शृंगारप्रकाश ६।७

महत्ता स्वीकार की है।[1] साहित्यदर्पणकार ने शृंगार शब्द की व्युत्पत्ति शृंग से मानी है जिसका अभिप्राय है कामाविर्भाव और उसी कामोद्भेद से संभूत रस शृंगार है। उत्तम प्रकृति के प्रेमीजन इसके आलम्बन हुआ करते हैं।[2]

शृंगाररस के दो भेद हैं—संभोग या संयोग शृंगार एवं विप्रलम्भ शृंगार।

भोजपुरी और अवधी गीतों में शृंगार के दोनों स्वरूपों का सुन्दर समावेश प्राप्त होता है। लोकगीतों के विशाल क्षेत्र पर शृंगार रस का साम्राज्य है। जन्म और विवाह के अवसर पर मुख्यतः शृंगार प्रधान गीत गाये जाते हैं। विभिन्न क्रिया-गीत ऋतु-गीत एवं जातीय गीत संयोग की कोमल सुखद अनुभूतियों और वियोग की करुणार्द्र वेदना से ओत-प्रोत रहते हैं। झूमर, बिरहा और अलचारी गीतों में शृंगार का प्रमुख स्वर गुंजित रहता है।

संयोग शृंगार—

एक भोजपुरी गीत में संयोग शृंगार का माधुर्य, उमंग और उल्लास रंजित चित्र देखिये—

> दही बेचन चलली रामा अब सखी लेके संगवा में,
> कि आहो मोरे रामा, डहरी में हरि जी भेटइले हो राम।
> सब सखिया जे अब आगे पीछे चलली हो,
> कि आहो मोरे रामा, हमरा के बिचवा डालेली हो राम।
> पहिले आवाज रामा बंसुरी बजवले हो,
> कि आहो मोरे रामा सब सखि माह परिगइली हो राम।
> आरे मुरली के धुनि सुनि दहिना उतरली हो,
> कि आहो मोरे रामा सुने लगलीं बंसुरी के सबधिया हो राम।
> कवन डगरिया से बांसुरी सुनि अइली हो
> कि आहो मोरे रामा, कवन डगरिया अब मैं जाइबि हो राम।
>
> (भो० ग्रा० गी० पृ० ३१५)

संयोग के इस दर्शन में गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेमाकर्षण व्यक्त हुआ है। इसमें कृष्ण आलम्बन हैं और गोपियाँ आश्रय हैं। दही, सखी बांसुरी वन पथ आदि उद्दीपन विभाव है। बांसुरी का स्वर सुनना, दही उतार कर रुक जाना, मोहवश निर्दिष्ट पथ भूल जाना अनुभाव हैं। संचारी भावों के रूप में हर्ष, मोह, औत्सुक्य आदि की व्याप्ति है।

अवधी बोली के लोकगीतों में भी संयोग शृंगार का मधुर रूप लक्षित होता है। गोपी-कृष्ण की रंग-क्रीड़ा से युक्त एक गीत इस प्रकार है—

---

1. शृंगार रसो हि संसारिणां नियमेनानुभव विषय त्वात्सर्वरसेभ्य। कमनीयतया प्रधानभूतः ॥ —ध्वन्यालोकवृत्ति ३।३६
2. शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुकः। उत्तम प्रकृति प्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥ —साहित्यदर्पण, ३।१८३

ग्वालिन सिर पर धरे गगरिया।
घर अपने ते चली अकेली संग नहीं दुसर गुजरिया।
जाय पहुँची जमुना तट पर परि गै कृष्ण नजरिया।

× × ×

भरि पिचकारी मारी कान्हा टपकै रंग केसरिया।
रंग-रंग मां रंग बिराजै भीजै कुसुम चुनरिया।
सूर स्याम फागुन की होगी रोकै केसन डगरिया।
धरि बहियां मुख मलै अबीरा जोरै हाथ गुजरिया॥ (लो० रा० पृ० ९३)

होली की रंग भरी उमगों का आह्लादपूर्ण चित्रण इस गीत में प्राप्त होता है। यहा पर गोपी आलम्बन हैं और कृष्ण आश्रय हैं। दही की गगरी, गोपी का अकेलापन, यमुना-तट, फागुन का महीना उद्दीपन का कार्य कर रहे हैं। कृष्ण का दृष्टि-आक्षेप, पिचकारी मारना आदि अनुभाव हैं और हर्ष, चपलता आदि संचारी भाव हैं।

विप्रलम्भ शृंगार—

विरह लोकगीतों का प्राण-तत्त्व है। अधिकांश गीतों में वियोग विदग्धा ग्रामीण नायिकाओं की पीड़ाकुल अन्तर्भावनाओं का मार्मिक प्रकाशन उपलब्ध होता है।

भोजपुरी गीत के माध्यम से एक विरहिणी स्त्री की मनोव्यथा का कारुणिक अभिव्यंजन हुआ है—

बादल बरसे बिजुली चमके, जियरा ललचे मोर सखिया।
सइया घरे ना अइले पानी बरसन लागेला मोर सखिया॥
सब सखियन मिल धूम मचायो मोर सखिया।
हम बैठी मन मारी रंगमहल में मोर सखिया॥ (भो० लो० गी० पृ० ४२४)

सावन का मन-भावना महीना है। आकाश में काले-काले बादल बरस रहे हैं। बिजली चमक रही है, सखियाँ आनन्दपूर्ण कोलाहल कर रही हैं पर विरहिणी नायिका अपने गृह में उदास बैठी है। इस गीत में आलम्बन प्रवासी नायक और आश्रय विरहिणी नायिका है। बादल, बिजली, वर्षा, सखिया आदि उद्दीपन विभाव हैं। नायिका का हृदय ललचाना, मन मारे बैठना आदि अनुभाव हैं और विषाद, उत्कंठा आदि संचारी भाव हैं।

एक अवधी गीत में भी विरह का वेदनापूर्ण चित्र अंकित हुआ है—

सावन घन गरजं।
कोंघर की घटा ओनई, कौघर बरिसै गंभीर।
हमरा ललन परदेसिया, भीजत होइहैं कवने देस।
सावन घन गरजं॥
खम के बंगला छवौतिउं चौमुख रखतिउं दुवार।
हरि संके सोउतिउ अटरिया झोकवनि आवति बयार।
सावन घन गरजं॥

अतलम लहँगा पहिरतिउ चुनरी बरनि न जाय।
झमकि कै चढ़तिउँ अटरिया नौमुख दियना बराय॥
सावन घन गरजे॥ (क० कौ० पृ० ६२५)

इस वियोग-गीत में विरहिणी नायिका की अभिलाषाओं की विकलतापूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ आलम्बन रूप में प्रवासी पति एवं आश्रय रूप में वियोगिनी स्त्री का आविर्भाव हुआ है। सावन के बादलों का गर्जन एवं वर्षण उद्दीपन विभाव हैं। वियोगिनी स्त्री के हृदय में उत्पन्न अनेक प्रकार की अभिलाषाएँ अनुभाव हैं। संचारी भावों के रूप में विषाद, चिन्ता, उत्कंठा आदि का समावेश है।

हास्य-रस

'हास' स्थायीभाव से हास्य रस की अभिव्यक्ति होती है। इसका आविर्भाव आकार-विकृति, वाग्-विकृति, वेष-विकृति, चेष्टा-विकृति एवं अन्यान्य प्रकार की विकृतियों के वर्णन अथवा अभिनयन से होता है।[1] हास्य छह प्रकार का होता है—(१) स्मिति, (२) हसित, (३) विहसित, (४) अवहसित, (५) अपहसित, (६) अतिहसित। हास्य के दो अन्य भेद भी माने गये हैं—आत्मस्थ और परस्थ। हास्योत्पादक विकृतियों को देखकर जो हास्य उत्पन्न होता है वह आत्मस्थ हास्य है और दूसरे व्यक्ति को हँसते हुए देखकर जो हास्य उत्पन्न होता है वह परस्थ हास्य है।

लोकगीतों में हास्य का विशेष स्थान है। जन्म-विवाह आदि हर्षपूर्ण अवसरों पर अनेक प्रकार के मनोरंजक-कार्यक्रम होते हैं जिनमें हास्य उल्लास के गीत गाये जाते हैं। भोजपुरी एवं अवधी क्षेत्र में भी हास्यरस-प्रधान लोकगीतों का प्रचुर प्रचार है।

एक भोजपुरी गीत में शंकर के हास्यमय स्वरूप का वर्णन हुआ है—

बूढ़ बएल पर भइली असवार,
मुँह देने पीठि कइली पोंछि लगाम।
चीलह कौआ उड़ि तम्बू तनले,
गादुर डँनि खोलि छाता लगवअन॥
भूत पिसाच जन डाकिनि साकिनि,
रंग विरंग मुख आंखि अरु नाकी।
एहि विधि जब बरिअतिया सजली,
तब शिव चल के हुकुम दिहिली।
गावत नाचत रोवत हसलि,
लागे दुआर बरिअतिया चललि।
पीछे से देवता हुलसत चलले,
देखि-देखि रूप सिव मन मुसकइले।

---

[1] विकृताकार वाग्वेष चेष्टादेः कुहुकाद्भवेत।
हास्यो हासस्थायिभाव..................॥ —साहित्यदर्पण पृ० ३।२१४

हँसे विधि विष्णु मुख दे रुमाल,
देवता सब हँसे ठाठा मारि ॥ (भो० लो० मे क० र० पृ० २८६-८७)

इस गीत मे हास्य-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। अस्वाभाविक वेषधारी शंकर एवं विकृत रूपाकार युक्त बारातीगण आलम्बन हैं तथा देवगण आश्रय हैं। उद्दीपन विभाव के रूप मे बैल, चील्ह, कौआ, भूत-प्रेत आदि की अवतारणा हुई है। ब्रह्मा एवं विष्णु का मुस्कराना तथा देवताओं का ठट्ठा मार कर हँसना अनुभाव है। संचारी भाव के रूप मे हर्ष आलस्य, अभिहित्था आदि की योजना है।

अवधी गीतो मे भी शंकर-विवाह के मनोरंजक प्रसंगों के द्वारा हास्य रस की सद्भूति हुई है—

गौरी वियाहन आये भोला अब गौरी वियाहन आये।
बाजन-बाजन एको न देख्यो, डमरू बजाइ चले आए ॥
मालकी पालकी एको न देख्यो बसहा बरद चढ़ि आए।
गहना गुरिया एको न देख्यो रुद्र माल पहिनि आए।
जामा जोड़ा एको न देख्यो मृगछाला पहिनि आए।
मौरा को कलगी एको न देख्यो जटा जूटि धरि आए।

(लो० गी० पृ० २५)

इस गीत मे शंकर की अस्वाभाविक वेष भूषा के वर्णन द्वारा हास्य का सृजन किया गया है। अस्वाभाविक वेषधारी शंकर आलम्बन दर्शिका स्त्री आश्रय, और डमरू, बैल, रुद्रमाला, मृगछाला, जटा आदि उद्दीपन विभाव हैं। देखने की क्रिया अनुभाव है। आलस्य अभिहित्था आदि संचारी भाव हैं।

करुण-रस

'शोक' स्थायी भाव मे अभिव्यंजित होने वाला रस 'करुण' संज्ञा से अभिहित किया गया है। इष्ट-नाश एवं अनिष्ट-प्राप्ति से इसका आविर्भाव संभव है।[1] महाकवि भवभूति के 'एको रस. करुण एव' के अनुसार समस्त रसों का मूल करुण रस है।[2] करुण रस का स्वरूप निर्मल नवनीत-सा स्निग्ध, सुष्ठु सरस एवं दिव्य माना गया है। इसके द्वारा मानव-हृदय से उत्तमोत्तम सुकोमल भावों का उदय होता है। इसमे निहित शुद्धता सहृदयता और सहानुभूति के तत्त्व मानव हृदय मे अमल अलौकिकता का संचार करते हैं।[3]

लोक गीतों मे करुण रस की मार्मिक व्यंजना प्राप्त होती है। सामान्य स्त्री-पुरुष अपने दुःख की गहराइयों को स्वर और लय मे बाँध कर हृदय को हल्का कर

1. इष्ट नाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।
—साहित्यदर्पण ३/२२२
2. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्। —भवभूति उ० रा० ३/४७
3. गुलाब राय: नवरस। पृ० ४४४

लेते हैं। जीवन की असह्य वेदना गीतों में ढल कर उन्हें जीने का सहारा देती है। जिस पीड़ा के भार को वे सम्हाल नहीं सकते, वही पीड़ा स्वरों में साकार हो कर उनकी जिन्दगी को सम्हालती है।

भोजपुरी और अवधी लोकगीतों में भी करुण रस की सुन्दर अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

एक भोजपुरी गीत में शोक-प्रस्ता नायिका के करुण उद्‌गारों का मार्मिक निरूपण प्राप्त होता है—

आइके मउवनिया गइल वा निवराई,
हमरे सइयाँ के करम त गइले फूटि।
फूटि गइले करम परील मइल खटिया,
हमहू रोवेनी सिरहाल वइके पटिया।
कबहू ना छुवले बालम दूबियो के सटिया।
कबहू ना भइले हमरो बालम से संवतिया।
हमरे सइयाँ के करम त गइले फूटि,
एहि बोचे आइ के जम्मु नलिहन लूटि।

(भो० ग्रा० गी० पृ ६१०)

पति की मृत्यु से दुःखी स्त्री का करुण विलाप अत्यन्त हृदयद्रावक है। यहाँ विनष्ट पति आलम्बन, विधवा स्त्री आश्रय और पति के गुण उद्दीपन विभाव हैं। स्त्री का क्रन्दन और प्रलाप अनुभाव है। संचारी भावों के अन्तर्गत विषाद, मोह और स्मृति आदि की अवस्थिति है।

अवधी क्षेत्र में प्रचलित एक गीत में भी करुण रस का पूर्ण परिपाक लक्षित होता है—

कन्हैया वियोगिन करि गये हम को।
सभा की ओट ससुर समुझावैं, अरे बहुवर नाही तुम बिटिया हमारि।
का समुझाओ ससुर तुम हमको, अरे हरी-हरी चुरिया दुलभ भई हमको।
घूंघट ओट जेठ समुझावैं अरे भैहो नाही तुम बिटिया हमारि।
का समुझाओ जेठ तुम हमको, अरे मोतिन माँग दुलभ भई हमको।
गोदहि बैठि देवर समुझावैं, अरे भाभी नाहीं तुम माता हमारि।
का समुझावो देवर तुम हमको, अरे फूलन सेज दुलभ भई हमको।
माय औ बाबू प्रति समुझावैं, एक जनम बेटी खेलि गमाओ।
का समुझावो माय औ बाबू, अरे पिया की छाँह दुलभ भई हमको।

(क० कौ० पृ० ७४०-४१)

इस गीत में भी पति-शोक से सन्तप्त स्त्री का दुःखमय विलाप वर्णित हुआ है। यहाँ भी आलम्बन रूप में विनष्ट पति एवं आश्रय रूप में विधवा स्त्री की अवतारणा है। उद्दीपन विभाव के रूप में चूड़ी, सिन्दूर, सय्या आदि वस्तुएँ हैं। स्त्री का प्रलाप अनुभाव के अन्तर्गत आता है और विषाद व्याधि, चिन्ता आदि भाव संचारी के रूप में उपस्थित हैं।

रौद्र-रस

क्रोध' स्थायीभाव से अभिव्यंजित होने वाला रस 'रौद्र-रस' कहलाता है। इच्छा के विरुद्ध किसी कार्य के होने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। शत्रुओं के प्रति क्रोध का आविर्भाव होने पर मनुष्य अनेक प्रकार की आक्रामक चेष्टाएँ करता है। क्रोध के स्वरूप का विवेचन करते हुए भाव प्रकाशनकार ने उसके तीन रूपों—क्रोध, कोप एवं रोष का वर्णन किया है। विक्रम क्रोध का गुण है। दूसरे का मर्दन करने वाले कर्म से रौद्र-रस का उद्भव होता है।[1]

लोकगीतों में रौद्र रस के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्रत्येक युग में अत्याचार की शृंखलाओं में आबद्ध ग्राम्य जनता के विवश मनोभाव गीतों के सहारे ही अपनी शक्ति का स्रोत ढूँढ़ते रहे हैं। बाह्य समाज में सत्ताधारियों के पाँवों में उलझी हुई त्रस्त मानवता अपना प्रतिशोध या [illegible] प्रश्न गीतों के माध्यम से करती रही है। मुगल-शासनकाल एवं ब्रिटिश शासनकाल के अनेक गीतों में प्रतिशोध, रोष एवं आक्रोश के भाव प्राप्त होते हैं। अनेक गीतों में सामाजिक अन्यायों एवं अनीतियों के प्रति लोकगीतकार के प्रतिकारात्मक भावों की अभिव्यक्ति हुई है। भोजपुरी एवं अवधी लोकगीतों में भी क्रोध-भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त होती है जो रसोद्रेक का मूल हेतु है।

एक भोजपुरी गीत में रौद्र-रस की अत्यन्त सुन्दर व्यंजना हुई है—

गउरा अइसन गवानी सयानी वर बउराह।
धिया लेके डुबबी, धिया लेके बुड़बी, धिया लेके भिलबो पाताला।
एइसन तपसिया के गउरा नाहीं देबो, बलु गउरा रहिहें कुँआर।
[illegible] आगे परीछे गइली सासु मादागिनि, सरप छोड़ेले फुफकार।
ए दहवा से अइली मादागिनि ठोंकली बजर केवार।
आगे माड़ो उखारेली कलसा फोरेली, चउका देली छितराइ।

(भो० लो० गी० पृ० २३१)

इस गीत में पार्वती के विवाह के अवसर पर शंकर को पागल वर रूप में देख कर पार्वती की माता क्रोधाभिभूत हो उठती हैं। यहाँ शंकर आलम्बन हैं, आश्रय पार्वती की माता हैं और शंकर की अस्वाभाविक चेष्टायें, सर्प की फुफकार, आदि उद्दीपन हैं। पार्वती की माता का कठोर-भाषण मंडप उखाड़ना, कलश फोड़ना, चौक पूरने का आटा छितराना आदि अनुभाव हैं। उग्रता, अमर्ष आदि भाव संचारी के रूप में उपस्थित हैं।

---

1. तेजसो जनकः क्रोधः समिवा कथ्यते बुधैः
क्रोधः कोपश्च रोषश्चेत्येष भेदस्त्रिधा मतः॥
कृतं कौर्यं तेन सर्वत्र पश्यतीत्यस्य निर्वहः।
कम्पते क्रोधयन्नेव क्रोध इत्याभिधीयते॥ —शारदातनय, भावप्रकाशन।
२. य अधिकार।

इसी प्रकार का एक उदाहरण अवधी लोकगीत में प्राप्त होता है—

इक मोरे वैरी है बीच विधाता दुसरे धिया कै भार।
तिसरे बैरि मोरे नारद बाह्मन, जिन ऐसे लाए दमाद।
गौरी लै ऊवब गौरी लै डूबब गौरी लै पइठब पतार।
ऐसन बौरहा वर से गौरी नाहि ब्याहब मोरि गौरि रहिहै कुवार।
लोटा धोती पोथी पत्रा सब कुछ लेबै छिनवाय।
जो कुछ बोलिहै नारद बाह्मन, दाढ़ी दै खिसियाय।
बमहा बरद कै नाक नंध्वाउब डमरू देबै फोरवाय।
रुद्र की माला समुद्र बहाउब नगर से देबै निकार॥ (लो० गी० पृ० ३८)

यहाँ क्रोध के आलम्बन शंकर और नारद हैं। आश्रय पार्वती की माता है। उद्दीपन विभाव के रूप में शंकर का अस्वाभाविक रूप, बैल, डमरू, रुद्र माला आदि हैं। पार्वती की माता का कठोर भाषण, लोटा, धोती, पोथी-पत्रा आदि छीनने और बैल, डमरू, रुद्र माला आदि को नष्ट करने की इच्छा अनुभाव के अन्तर्गत हैं। उग्रता, आवेग, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं

वीर-रस

'उत्साह' रूप स्थायीभाव का आस्वाद वीर रस है।[1] प्राचीन आचार्यों ने चार प्रकार के वीरों का उल्लेख किया है—(१) दानवीर, (२) धर्मवीर, (३) युद्धवीर और (४) दयावीर।[2]

कतिपय आचार्यों ने वीर रस के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। दशरूपककार ने दया, युद्ध एवं दान के सम्बन्ध में तीन प्रकार का वीर रस माना है।[3] काव्यानुशासनकार के अनुसार धर्मवीर, दानवीर एवं युद्धवीर ही वीर रस के भेदक्रम के रूप में सिद्ध होते हैं।[4]

लोकगीतों में वीर रस की अत्यधिक सुन्दर व्यंजना प्राप्त होती है। कहीं लोकगीतों का नायक मुगलों और फिरंगियों से अकेला लड़कर माँ और बहन की लाज रखता है, कहीं कोई भारतीय बालिका मुगल के हाथों पड़ कर अपनी पवित्रता की रक्षा करने के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर देती है, कहीं कोई कुलवधू जेठ एवं

---

1. उत्साह स्थायिभावकः। — साहित्य दर्पण ३/२३२
2. स च दान धर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्। वही, ३/२३४
3. उत्साहभूः स च दयारण दान योगात् त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः।
   —धनंजय हिन्दी साहित्य दर्पण व्याख्याकार डा० सत्यव्रतसिंह पृ० २५९ से उद्धृत
4. नयादि विभावः स्थैर्याद्यनुभावो धृत्यादि व्यभिचार्युत्साहो धर्म-दान युद्धभेदो वीरः —हेमचन्द्र, वही,

ससुर की अनुचित दृष्टि से अपमानित होकर अग्नि की भीषण लपटों में अपने शरीर को सौंप देती है।

भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित एक गीत में वीर रस का परिपाक द्रष्टव्य है—

कपड़ा के पजवा में माई हो परल बाटी,
        चलु आज होकि आजु माई क होराई जा।
विपति के मारल माई पड़लि बा बेहोस होइ,
        माई दुरवे खातिर चलु गरदन कटाई जा।
राज लिहले पाट लिहले धरम के नास कइले,
        चलु अब फिरंगिया से दुश्मन बनाई जा।
तीस कोटि आदमी के देवता जेहल गइले,
        दल [illegible] के चलु ओहर मथवा नवाई जा।

(भो० लो० गी० क० र० पृ० ४१)

राष्ट्रीय आन्दोलन के जोश से पूर्ण इस गीत में परतन्त्र भारतमाता के वीर पुत्रों में शत्रुओं का पराभव करने की कामना जाग उठी है। यहाँ फिरंगी आलम्बन है और आश्रय है भारतीय युवक। भारत की पराधीन स्थिति और महात्मा गांधी का कारावास उद्दीपन का कार्य कर रहे हैं। [illegible] शत्रु को पराजित करने एवं भारतमाता को मुक्त करने की पुकार उठाना अनुभाव है। उग्रता, आवेग एवं गर्व आदि संचारी भाव हैं।

अवधी गीतों में भी वीर रस के प्रभावशाली उदाहरण प्राप्त होते हैं—

भइया थरिया दिहेन सरकाय बलैया लेउँ बीरन,
बिरना मैं लिहे ढाल तलवारि बलैया लेउँ बीरन।
बिरना मुगल की ओरि मन साठि बलैया लेउँ बीरन।
मोर भइया अकेलवइ ठाढ़ बलैया लेउँ बीरन।
बिरना भौजी कौन बिध बोल बलैया लेउँ बीरन।
ननदी हमरा किहिउ अँधियार बलैया लेउँ बीरन।
बिरना जूझि मरे मुगुल पठान बलैया लेउँ बीरन।
मोर भइया अमर जीत ठाढ़ बलैया लेउँ बीरन।
बिरना मइया के बहे दूधधार बलैया लेउँ बीरन।
बिरना भउजी के हिरदा हुलास बलैया लेउँ बीरन।

(क० कौ० पृ० १०५)

इस गीत में एक बहन द्वारा उत्प्रेरित भाई साठ मुगलों का सामना करके विजय प्राप्त करता है। यहाँ मुगल शत्रु आलम्बन हैं और भाई आश्रय है। मुगलों की कुदृष्टि उद्दीपन विभाव है। उत्साह के वेग में भाई का थाली सरकाना और ढाल-तलवार उठाना अनुभाव हैं। संचारी भावों के रूप में श्रम, उग्रता आवेग आदि भावों की अवस्थिति है।

भयानक रस

'भय' स्थायी भाव से अभिव्यंजित होने वाला रस 'भयानक रस' है। भाव-प्रकाशनकार शारदातनय ने भयानक रस के स्वरूप का समुचित विवेचन किया है।[1] काव्य कोविदों ने नीच प्रकृति के व्यक्तियों को इसका आश्रय माना है।

लोकगीतों में मानव-हृदय के भाव अपने सहज-स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त होते हैं। ग्राम्य-स्त्रियाँ सरल एवं सौम्य स्वभाव से युक्त होती हैं और अपने स्वभावानुकूल उत्पन्न मनोभावों को गीतों के एक-एक शब्द में सजो कर रख देती हैं। नारी का सुकोमल हृदय भयाघात की तीव्रता को सहन नहीं कर पाता। बादल की कड़क और बिजली की चमक भी उनके हृदय को भय-कम्पित कर देती है। लोकगीतों की विरहिणी नायिका के समक्ष सावन-भादों की अंधेरी रात भय की भीषणता लेकर आती है। एकान्त-वास ग्रसित मन सिहर-सिहर उठता है।

भोजपुरी और अवधी लोकगीतों में भयानक रस का समुचित संचार लक्षित होता है। भावनाओं की सहजता और अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता हृदय को प्रभावित कर लेती है।

एक भोजपुरी गीत में भय का रसात्मक निरूपण उपलब्ध होता है—

बसहा चढ़ल सिव के अइली बरिअतिया राम।
डेराला जियरा अगवा लपेटले बाड़े साँप ॥
अंग में विभूति सोभे, गले मुंडमाला राम।
डेराला जियरा बरवा छोड़ेले फुफकार ॥
मन में विचारे मैना गउरी अति सुन्दर राम।
डेराला जियरा बरवा मिलेले बउराह ॥ (भो० ग्रा० गी० पृ० ३९९)

इस गीत में शंकर के भयावने स्वरूप का वर्णन किया गया है। पार्वती की माता मैनावती अपनी कन्या के लिए इस प्रकार के भयंकर वेषधारी वर को देखकर भयभीत हो जाती है। यहाँ भय के उत्पादक शंकर आलम्बन हैं, आश्रय मैनावती है। साँप, विभूति, मुंडमाला आदि उद्दीपन हैं। हृदय का भयभीत होना अनुभाव है और त्रास, शंका, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं।

अवधी बोली के एक गीत में भी भयानक रस का सुन्दर संचार लक्षित हो रहा है—

---

1. [illegible]

चाल्यते च यतस्तस्माद् भयं तु चलनात्मकम्।
मधेनाक्रोशतो जन्तोर्जायते स भयानकः ॥

—शारदा तनय, भावप्रकाशन, २ य अधिकार।

एक त गोरिया अगवा क पातरि दूसरे पिया परदेस ।
तिसरे मेह झमाझम बरसै सावन अधिक अदेस ॥
भादों रैनि भयावनि ऊंची गरजें अरु घहराय ।
लउका लउके बदरा गरजें छतिया दरद उठि जाय ॥ (लो० सा० पृ० १११)

कोई वियोगिनी नायिका सावन-भादों की मूसलाधार वर्षा, अंधेरी रात गरजते हुए बादल और कौंधती हुई बिजली से भयभीत हो उठी है। उसका हृदय भय और पीड़ा से विदीर्ण हो रहा है। यहाँ सावन-भादों की अंधकारपूर्ण रात आलम्बन है, वियोगिनी स्त्री आश्रय है और बादल, बिजली वर्षा आदि उद्दीपन हैं। हृदय मे दर्द उठना अनुभाव है और त्रास, चिन्ता, विषाद आदि संचारी भाव हैं।

बीभत्स-रस

'जुगुप्सा' स्थायीभाव का आस्वादन 'बीभत्स-रस' है।[1] घृणोत्पादक वस्तुएं और कार्यों को देख कर मन मे जुगुप्सा का भाव उत्पन्न होता है, जो बीभत्स रस का उद्रेक करता है। घृणित एवं गर्हित वस्तुओं का वर्णन साहित्य मे घृणोत्पादक न रह कर आनन्दानुभूति दायक बन जाता है। बीभत्स का वर्णन गर्हणीय एवं निन्दनीय के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न कर उसके विपरीत उत्तम एवं ग्रहणीय के प्रति आर्कर्षण का कारण बनता है और आनन्द का सृजन करता है। बीभत्स के अन्तर्गत समस्त कुत्सित, गर्हित एवं निन्दनीय पदार्थ एवं कार्यों की गणना होती है।[2]

लोकगीत मे यत्र-तत्र मानव हृदय की जुगुप्सा उमड़ी हुई दिखाई देती है समाज की अरुचिकर नीतियों के प्रति, परिवार के अप्रिय सम्बन्धों के प्रति और व्यक्तियों की अपरिष्कृत वृत्तियों के प्रति लोकगीतों मे सर्वत्र एक घृणात्मक अभिव्यक्ति का आभास मिलता है। मन मे उत्पन्न यह घृणा और वितृष्णा व्यावहारिक जगत की परिस्थितियों का प्रतिरोध पा कर गीतों के मसार मे सम्मुख प्रकाशन पाती है।

भोजपुरी और अवधी लोकगीतों मे बीभत्स रस का सुन्दर संचार दिख देता है।

एक भोजपुरी लोकगीत मे समाज-प्रचलित अनुचित विवाह-प्रणाली के प्रति मे बीभत्स रस का प्रभावपूर्ण चित्रण किया गया है—

सिकुरल चाम जइसे सूखल चूलेला आम महुवा,
फटलका लेदरा हूटे बाबू जी।
आँख से सूझत कम हरदम घीचत दम
माथवा के बारवा चवरवा हूले बाबू जी।

---

1. जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः।

—साहित्य दर्पण, ३-२३९

2. गर्हणीयश्च निन्द्यश्च कुत्सनीयश्चयो भवेत।
स भावः कथ्यते सद्भिर्बीभत्स इति संज्ञया ॥

—हिन्दी साहित्य दर्पण, व्याख्याकार सत्यव्रतसिंह, पृ० २

मुँहवा मे दाँत नाही गाले मुँहे लार चुए,
बोलनी पर भीतर सडल बदबू बाबू जी।
पति कर देखि गति, मापल भइल मति,
रोइ-रोइ कटीला बिहान भोर बाबू जी। (भो० लो० मे क० रस पृ० ४८०)

कोई नवविवाहिता स्त्री अरुचिकर पति के घृणित स्वरूप का वर्णन करती हुई अपनी भाग्यहीनता का प्रदर्शन कर रही है। यहाँ पति का अरुचिकर रूप आलम्बन है और पत्नी आश्रय है। सिकुड़ा चमड़ा, फटे वस्त्र, मन्द-ज्योति नेत्र, दन्तहीन मुख एवं दुर्गंध उद्दीपन विभाव है और विषाद, व्याधि, अपस्मार आदि संचारीभाव है।

बीभत्स रस का एक उदाहरण अवधी लोकगीत मे भी प्राप्त होता है—

सिलियहि बूड़ी भौजी गांव के पनहिया हो,
खुनवां डूबी तरवरिया हो राम।
कवने बन नाहि हरिन का देखा हो,
भइया सिकार खेलि आयव हो राम।
कंहवहि मारेव देवरा कहंवा गिरायेव,
कहंवा चिल्हरिया मेड़रानी हो राम।
ऊंचवहि मारेव भउजी बिचवा गिरायेव हो,
मरग चिल्हरिया मेड़रानी हो राम।
जौनेहे भयवा कलंगिया मत मोहै हो,
भौने भाय कांगा चोंच मारे हा राम।
तुहरहि छोडि देवरा आने कै न होवय हो
तनि मक लोथिया देखावहु हो राम। (भो० रा० पृ० १५०)

इस गीत में किसी कामुक व्यक्ति द्वारा, भाभी को प्राप्त करने के लिए, अपने सगे भाई की हत्या का उल्लेख किया गया है। कामेच्छा-तृप्ति के लिये भाई की निर्मम हत्या करना वीभत्सतापूर्ण कार्य है। यहाँ देवर का कुकृत्य आलम्बन और भाभी आश्रय है। उद्दीपन विभाव के रूप मे रक्तडूबी तलवार, चील-कौआ लोथ आदि का वर्णन है। मृत पति को देखने की कामना अनुभाव और मोह, विषाद व्याधि आदि संचारी भाव हैं।

अद्भुत-रस

'विस्मय' स्थायीभाव से निष्पन्न होने वाला रस 'अद्भुत-रस' कहलाता है।[1] प्रत्येक रस मे 'लोकोत्तर चमत्कार' की मूल स्थिति होती है, जहाँ सामाजिक का चित्त का विस्तार पाता है। अलौकिक काव्यार्थ के परिशीलन से सहृदय सामाजिक के अन्त:करण मे एक ऐसी ज्ञान-धारा प्रवाहित होने लगती है जिसमे हृदय की विशालता साकार हो उठती है। हृदय की यह विशालता 'चमत्कार' अथवा 'विस्मयाविष्टता' कहलाती है। यह चमत्कार अथवा विस्मयावेश अद्भुत रस का स्वरूप है। प्रत्येक रसानुभाव मे 'विस्मयावेश' सन्निहित रहता है। इसलिए कवि पं० नारायण के अनु

1. अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो। —साहित्य दर्पण ३।२४

सार समस्त शृंगारादि रसों की 'प्रकृति' अद्भुत रस ही है।[1] सभी रसों के आस्वाद में विस्मय के इस अनुप्राणन के कारण ही अद्भुतरस को समस्त रसों का अन्तर्नियामक सार तत्व माना गया है। प्रमुख आलंकारिक भानुदत्त ने भी शृंगारादि रसों के आनन्द चमत्कार में 'चित्त विस्मृति' अथवा 'विस्मय' को ही अगरूप से स्वीकार किया है।[2]

[illegible] ...व लक्षित होता है। [illegible] है। अस्वाभाविक और [illegible] विस्मयोत्पादक तथ्यों का संचयन करता है। यही विस्मय-तत्व जब उसकी वाणी में बँध कर अभिव्यक्त होता है, तब अद्भुत सौन्दर्य की सृष्टि होती है।

भोजपुरी और अवधी लोकगीतों में अद्भुत रस की अपूर्व छटा विकीर्ण है। स्त्रियों के भोले हृदय से निकले हुए विस्मयोद्गार समग्र अन्तःकरण को रसाभिभूत कर देते हैं।

भोजपुरी गीत के अन्तर्गत अद्भुत रस की अभिव्यंजना देखिये—

जो हम होईं सामी सत के तिरियवा रे ना,
रामा अगिन होइहु जूड़ पनिया रे ना।
जैसे चन्दा डलली करहिया में हथवा रे ना
रामा तसही अगनी भइली पनिया रे ना।
मुंहवा में रुमलिया देके रोवें ओकर समिया रे ना,
रामा मोर सती चलती नइहरवा रे ना।
रामा मुंहवा रुमलिया देइ हँसे सातों भइया रे ना
रामा बहिनी जीये डड़िया फनावहु रे ना॥

(भो० लो० में क० र० पृ० ४४१)

पति के द्वारा कलंकिता एक स्त्री अपने सतीत्व की परीक्षा देने के लिये खौलते हुए तेल की कड़ाही में हाथ डालती है तभी आश्चर्यजनक रूप से जलती हुई आग पानी बन जाती है और सती स्त्री की पवित्रता प्रमाणित हो उठती है। इस गीत में अग्नि का पानी बन जाना आलम्बन है, स्त्री के पति एवं भाई आश्रय हैं। कड़ाही, आग आदि उद्दीपन हैं। विस्मयोत्पादक दृश्य देखकर स्वामी का रोना और भाइयों का हँसना अनुभाव हैं। संचारी भावों के रूप में शंका, हर्ष, तर्क, औत्सुक्य आदि भावों का निरूपण है।

---

1. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
   तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतोरसः॥
   हिन्दी साहित्य दर्पण व्याख्याकार सत्यव्रतसिंह, पृ० १०६ से उद्धृत
2. शृंगारादौ चमत्कारदर्शनाद यत्र मनोविस्मृतिरंगतया भासते तत्र
   शृंगारादयो रसाः। प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्भुत एव रसः॥
   —भानुदत्त, रस तरंगिणी १ म

अद्भुत रस का एक सुन्दर उदाहरण अवधी लोकगीत मे भी उपलब्ध है—

एक बन गयउं दुसरे बन गइउ
तिसरे मा बोलिया ठमाकी हो राम।
तुहंहि छाँडी देवरा आने के न होबइ हो
तनी एक अगिया लै आवो हो राम।
जौनी देवर मोर अगिया क गये हो
अंचरे से उठी है अगिनिया हो राम।
मुंहवा पटुक दइकै रोवा है देवरवा हो,
भौजी पपिनिया छन कीन्ह हो राम॥ (लो० रा० पृ० १५०-५१)

इस गीत में एक साध्वी स्त्री कामुक देवर से त्राण पाने के लिये अपने अंचल से अग्नि उत्पन्न करके भस्म हो जाती है। यहाँ आंचल से अग्नि का उत्पन्न होना आलम्बन है और आश्रय के रूप मे देवर का उल्लेख है। घोर जंगल, अंचल और अग्नि उद्दीपन विभाव हैं। देवर का रुदन करना और भाभी को छलनामयी समझना अनुभाव है। ग्लानि, मोह आदि सचारी भाव है।

शान्त रस

'शम' स्थायी भाव का आस्वादन शान्त-रस है। इस रस का उद्रेक उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों मे होता है।[1] कतिपय आचार्यों ने शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद माना है। आचार्य मम्मट के अनुसार तत्व ज्ञानज निर्वेद शान्त रस का स्थायी-भाव है।[2] आचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'निर्वेद' स्थायीभाव को ही स्वीकार किया है।[3] इसमे सन्देह नहीं कि आचार्य अभिनव गुप्त की मान्यता पर ही आचार्य मम्मट की धारणा आधारित है। इसके विपरीत विश्वनाथ कविराज ने 'शम' की महत्ता निर्धारित की है। इस महत्व निर्धारण के पक्ष मे दशरूपककार का शान्त-विमर्श है जिसमें शान्त के स्थायीभाव के रूप मे 'शम' का निरूपण किया गया है।[4] आचार्य आनन्दवर्द्धन ने शान्त के स्थायी भाव के रूप मे 'तृष्णाक्षयसुख' का उल्लेख किया है[5] जो निर्वेद का ही नामान्तर है। आचार्य अभिनव गुप्त ने निर्वेद, तृष्णाक्षयसुख और शम का समीकरण स्थापित करते हुए सिद्ध किया है कि इनमे मूलभूत कोई तात्विक भेद नही है केवल शब्द-भेद है। शम और निर्वेद दोनों आत्मस्वभाव रूप हैं।[6]

---

1. शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः। — साहित्य दर्पण ३-२०५
2. निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।— काव्य प्रकाश, ४ थं उल्लास
3. तत्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी। —अभिनव भारतीय, पृ० २६९-७०
4. शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदिता देस्तदात्मता। —दशरूपक, पृ० ४-४५
5. शान्तश्च तृष्णाक्षय सुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रस प्रतीयत एव।
—ध्वन्यलोक, उद्योत ३
6. हिन्दी साहित्य दर्पण, —व्याख्याकार सत्यव्रतसिंह पृ० ३२

लोकगीत में शान्त-रस की प्रबल धारा प्रवाहित होती है। जीवन और जगत के कठिन सतापो से संत्रस्त होकर सामान्य जन का मन अलक्षित सत्ता के प्रति आकृष्ट हो उठता है। संसार की असारता और क्षणभंगुरता से निर्लिप्त होकर वह विराग के गोद की ओर बढ़ता हुआ ऊर्ध्वमुखी होता जाता है। मन की यह विरागमयी स्थिति लोकगीतों में स्थान स्थान पर मुखरित हो उठी है।

भोजपुरी और अवधी लोकगीतों में शान्त रस के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। आत्मकथात्मक भोजपुरी और अवधी जनता के हृदयोद्गार अपनी सम्पूर्ण पवित्रता एवं सहजता के साथ गीतों में अभिव्यक्त हुए हैं।

एक भोजपुरी गीत में शान्त रस की समुचित अभिव्यंजना हुई है—

का देखि मन भइले हो दीवाना का देखि के।
मानुस देह देखि जन भूल, एक दिन माटी होइ जाना। का देखि।
आरे ई देहिया कागद की पुड़िया बून पड़त मिहिलाना। का देखि।
एहि देहिया के मलि मलि धोवलो चोवा चन्दन लगाई।
ओहि देहिया पर कागा भिनके, देखत लोग घिनाई। का देखि।

(भो० लो० गी० पृ० ४५७-५८)

यहाँ मानव-शरीर की नश्वरता का निरूपण किया गया है और अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के प्रति प्रेम का उपदेश दिया गया है। क्षणभंगुर मानव-शरीर आलम्बन है और ज्ञानी व्यक्ति आश्रय है। कागज की पुड़िया का जल की बूंद द्वारा नष्ट होना, मृत शरीर पर कौआ भिनकना आदि उद्दीपन हैं। दुर्गति-प्राप्त शरीर को देख कर घृणा उत्पन्न होना अनुभाव है। निर्वेद, हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

अवधी लोकगीतों में भी शान्त रस प्रधान मनोभाव की अभिव्यक्ति हुई है—

ई देहियाँ तरुवर की छहियाँ,
भजै कतौ कोउ नाय जो मन भंखहि राम।
सब संगन मे राम राय गुरु जी मे बन्दगी,
मात पिता के सेवा करि ले मनवा लगाय के।
देई-देवा नाहक पूजै चौरा बधाय के
दुनिया मा नेकी कैसे थोरे दिन कै जिन्दगी॥ (क० कौ० पृ० ७३५)

इस गीत में भी जीवन की क्षणिकता का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ भी आलम्बन रूप में क्षणभंगुर शरीर और आश्रय रूप में ज्ञानी व्यक्ति का वर्णन है। वृक्ष की छाँह मृत्यु की भावना आदि उद्दीपन है। देवी-देवताओं से विरक्ति, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा और परोपकार की भावना अनुभाव है। संचारी भावों के रूप में निर्वेद, हर्ष आदि की योजना है।

इन नौ रसों के अतिरिक्त वात्सल्य एवं भक्ति रस का भी परिपाक लोकगीतों में प्राप्त होता है।

वात्सल्य-रस

वात्सल्य रस को पहले संतान-विषयक रति से उत्पन्न एक मात्र भाव माना जाता था। परन्तु आगे चल कर राजा भोज एवं विश्वनाथ ने इसे रस रूप में स्वीकार किया।

लोकगीतों में वात्सल्य रस का व्यापक प्रसार है। जन्म संस्कार सम्बन्धी गीतों में वात्सल्य की अपूर्व शोभा दिखाई देती है। समस्त लोकगीतों की तुलना में शिशु-जन्म के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों की संख्या बहुत अधिक है, जो वात्सल्य की व्यापकता को प्रमाणित करती है।

भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित एक सोहर में वात्सल्य रस का सरस प्रवाह अवलोकनीय है—

> आवहु मोर परोसिनि, गोद देयादिनि हो।
> ललना, होरिला जनमवा के सोहर गाइ सुनावहु हो।
> होरिला मनोहर गोदिया में किलकेला सुख होला हो।
> ललना देखि-देखि उमड़त मनवा मनावहु हो ।। (भो० ग्रा० गी० पृ० ७)

इस गीत में कोई स्त्री पुत्र जन्म के अवसर पर पुलकित होकर समस्त स्त्रियों को मंगल-गान के लिये आमंत्रित कर रही है। अपने सुन्दर लाल को देख-देख कर उसका हृदय आनन्द से आलोड़ित हो उठता है। यहाँ पुत्र का जन्म आलम्बन है और आश्रय के रूप में पुत्र की माता का चित्रण हुआ है। पुत्र का मनोहर रूप और उसका गोदी में किलकिलाना उद्दीपन विभाव हैं। पुत्र की माता का अन्य स्त्रियों को मंगल-गान हेतु बुलाना और पुत्र को देखकर उसके मन में आनन्द उमड़ना अनुभाव हैं। संचारी भावों के रूप में हर्ष, उत्कंठा आदि भावों की योजना है।

वात्सल्य रस का एक प्रभावपूर्ण उदाहरण अवधी लोकगीतों में प्राप्त होता है—

> चैतइ की तिथि नउमी कि नौबत बाजइ।
> राजा राम लिहिन अउतार अयोधिया के ठाकुर।
> × × ×
> राम के मथवा भउरिया बहुत निक लागै अधिक छवि लगइ।
> मानो कमल कर फूल भंवर सिर लुन करैं।
> राम के पाय पंजनिया बहुत निक लागै अधिक छवि लागइ।
> × × ×
> ऐसी मूरत जौ पउतिउं हृदय बसउतिउं।
> पीत पिताम्बर ओढ़उतिउ ललन कहि बोलउतिउं। (क० कौ० पृ० ३०१)

इस गीत में राम जन्म के अवसर पर उत्साह एवं आह्लाद से उद्वेलित किसी अयोध्यावासिनी स्त्री की मधुर कामनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। यहाँ राम का जन्म आलम्बन है और अयोध्यावासिनी स्त्री आश्रय है। राम के माथे पर शोभित सुन्दर केश-राशि, राम के पाँवों बंधे हुए नूपुर और उनकी मंजुल ध्वनि उद्दीपन का कार्य कर रही है। राम के सौन्दर्य को देख कर उसे हृदय में बसाने की इच्छा तथा राम को

पीताम्बर पहनाने और 'लाल' कह कर बुलाने की अभिलाषा अनुभाव है। हर्ष, मोह, उत्कंठा आदि संचारीभाव है।

भक्ति-रस

प्राचीन आचार्यों ने भक्ति रस को भी देव-विषयक रति-भाव माना था। किन्तु परवर्ती विचारकों ने भक्ति को स्वतन्त्र रस की संज्ञा प्रदान की जिस ब्रह्मानन्द के आदर्श पर प्रत्येक रस की सत्ता अवलम्बित है उसका मूल तत्व भक्ति ही है। भक्ति की उत्कृष्टता एवं प्रगाढ़ता पर विचार करते हुए उसे रस की कोटि में रखना सर्वथा उपयुक्त है।

लोक-जीवन से भक्ति का विशेष महत्त्व है। सामान्य जनता पूर्ण रूप से आस्तिक होती है। लोकगीतों में विभिन्न देवी-देवताओं के प्रति भक्तिमयी भावनाओं का प्रकाशन प्राप्त होता है।

एक भोजपुरी लोकगीत में भक्ति-रस का पूर्ण समावेश लक्षित हो रहा है—

चारु ओरिया जल थल बोचवा गम्भीरवा ए देवी हो।
ताहि बीच मदिलवा सोहार, दुःखवा हर देवी हो।
ऊंच रे मदिलवा के नीचो रे दुवरिया हो,
मइया मोती जड़ल बा केवार।
सासु मारे हुहुका ननदिया पारे गारी हो मइया,
गोतिनी बझिनिया धइली नाव।
मोर गोद भरतो मइया, गोतिनी बझिनिया धइली नावं।

(भो० लो० गो० पृ० १४७)

कोई ग्रामीण स्त्री अपने अपुत्रत्व से दुखी होकर भगवती शीतला माता से दुःख-निवारण की प्रार्थना कर रही है। इस गीत में देवी शीतला आलम्बन है और भक्तिन स्त्री आश्रय है। चारों ओर अथाह जल में घिरा मंदिर, द्वार, और रत्न-जटित केवाड़ उद्दीपन हैं। स्त्री के द्वारा दुःख-त्राण के लिये की जाने वाली प्रार्थना अनुभाव हैं। चिन्ता विषाद औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं।

अवधी क्षेत्र में प्रचलित एक लोकगीत में भी भक्ति-रस का प्रबल संचार उपलब्ध होता है—

मैया के दुआरे एक हरिअर पीपर
हहर हहर हहराये हो माय।
मेरो मन लोचें तेरे दरसन को॥
मैया के दुआरे एक गंगा बहत है,
लहर लहर लहराये हो माय।
मेरो मन लोचें तेरे दरसन को॥ (संस्कार गीत पृ० १८-१९)

इस गीत में भक्ति-भावना से पूर्ण स्त्री-हृदय की व्याकुलता प्रकट हो रही है। यहाँ भी देवी आलम्बन रूप में हैं और भक्तिन स्त्री आश्रय है। उद्दीपन के रूप में

देवी के द्वार पर हहराता हुआ पीपल वृक्ष एवं लहराती हुई गंगा की योजना है। स्त्री के मन मे उत्पन्न दर्शन की उत्कट अभिलाषा अनुभाव है। सचारी भावों के रूप मे हर्ष, औत्सुक्य मोह आदि की स्थिति है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोकगीतो में रस की अनन्त धारा उद्दीपन वेग से प्रवाहित हो रही है। गीतो का प्रत्येक शब्द रस की प्रबल लहर बन कर सहृदय-जनो को आनन्द मग्न कर देती है।

लोकगीतों में अलंकार योजना

अलकारों का महत्व जितना काव्य के क्षेत्र में है, उतना लोक गीतों के क्षेत्र में नही है। कविता मे शब्द और अर्थ की रमणीयता उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण श्रेय अलकारो को प्राप्त है। सस्कृत-साहित्य के प्राचीन आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट एवं रुद्रट ने अलंकार को काव्य की आत्मा सिद्ध करने की चेष्टा की है। आचार्य भामह ने कहा है कि जैसे सुन्दर मुख वाली स्त्री आभूषणो के बिना शोभा नही पाती, वैसे ही सुन्दर कविता अलंकारों के बिना मनोहर नही लगती।[1] आचार्य दण्डी ने काव्य के शोभादायक धर्मों को अलकार माना है।[2] चन्द्रालोककार जयदेव ने अलकार को काव्य के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार करते हुए कहा है कि जिस प्रकार उष्णता के अभाव मे अग्नि का अस्तित्व असंभव है उसी प्रकार अलंकार के अभाव मे काव्य की कल्पना नही की जा सकती।[3] अलकारवादी आचार्यों के विरोध में अनेक आचार्यों ने काव्य मे अलंकार की अप्रधानता निर्दिष्ट करते हुए अपने-अपने मतो का प्रतिपादन किया है। रीतिवादी विचारक वामन ने काव्य में अलंकार की अपेक्षा गुण का प्राधान्य माना। उनका मत है कि जैसे लावण्य आदि गुणों से विशिष्ट रमणी का रूप कटक-कुण्डल आदि अलकारो की सुन्दर योजना से और चमक उठता है वैसे ही माधुर्य आदि गुणों से युक्त कविता का स्वरूप अनुप्रास उपमा आदि अलंकारो की समुचित योजना से मनोरम बन जाता है।

कविता के माधुर्य आदि गुण तो रमणी के लावण्य आदि गुणों की भांति है जिनके अभाव मे अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार वैसे ही श्री हीन प्रतीत होते हैं जैसे लावण्य आदि के अभाव मे रमणी के कटक-कुण्डल आदि अलकार हृतप्रभ लगा करते हैं।[4] ध्वनिवादी विचारको ने भी अलंकारों के अप्राधान्य की पुष्टि करते हुए उन्हें

---

1. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामनम्। —भामह, काव्यालंकार, १/१३
2. काव्या शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। —दण्डी, काव्यादर्श
3. अंगी करोति य: काव्यं शब्दार्थावनलकृति।
   असो न मन्यते कस्माद् नुष्णाम न लकृती॥ —जयदेव, चन्द्रालोक। १/८
4. युवतेरिव रूपमंगाव्य स्वदते शुद्ध गुणं तदप्यतीव।
   विहित प्रणयं निरन्तराभि: मदलंकार विकल्पकल्पनाभि:॥
   यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवन वन्ध्यमंगनाया:।
   अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥
   —वामन, काव्यालंकार, ३. १. २.

काव्य के अस्थायी धर्म के रूप में स्वीकार किया है। ध्वन्यालोककार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि रस रूप अंगी की दृष्टि से ही अलंकारों का ग्रहण-परित्याग, निर्वाह-अनिर्वाह आदि संभव है। अलंकारों का ग्रहण-परित्याग इस बात का प्रमाण है कि वे काव्य के अस्थिर धर्म अथवा आगमापायी वैशिष्ट्य है।[1] काव्य में अलंकारों की उपयोगिता काव्य के वाच्य-वाचक रूप अंगों की शोभावर्धकता के ही कारण है।[2] आचार्य मम्मट ने भी उपर्युक्त तथ्य के पक्ष में अपना विचार निरूपित किया है।[3] रसवादी आचार्यों ने अलंकारों का रसाभिव्यक्ति के सहायक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु, काव्य के अनिवार्य एवं स्थायी धर्म के रूप में उनकी कोई महत्ता नहीं है। साहित्यदर्पणकार ने अलंकार को अस्थायी धर्म के रूप में स्वीकार किया है जो अंगद बाजूबन्द) आदि अलंकारों की भांति (काव्य के शरीर) मूल शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाया करते हैं। और (काव्य के आत्मभूत) इस भाव के अभिव्यंजन में सहायक हुआ करते हैं।[4]

समस्त मत मतान्तरों पर दृष्टिपात करते हुए निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि अलंकारों द्वारा कविता के मूल सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है और रसोद्रेक में सहायता मिलती है।

कविता की भांति ही लोकगीतों भी मानव-हृदय की कोमल भावनाओं की अभिव्यंजना रहती है। कविता में हृदयगत भावनाओं की एक विशिष्ट नियम-निदिष्ट अभिव्यक्ति-प्रणाली होती है, परन्तु लोकगीत में हृदय के उद्‌गार सर्वथा मुक्त रूप में विचरण करते हैं। कविता की सरिता नियमों के कृत्रिम बांध के सहारे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवाहित होती है परन्तु लोकगीत पहाड़ी झरने की भांति स्वच्छन्द वेग और उन्मुक्त तरंगों में मचलते हुए सारे संसार को अपने स्वरों में बांध लेता है। इसलिये कविता में जो बाह्य और आन्तर नियम-निर्वाह लक्षित होता है, वह लोकगीतों में नहीं। कविता में अलंकारों की प्रयासपूर्ण समुचित योजना उपलब्ध होती है, परन्तु लोकगीतों में उसका नितान्त अभाव रहता है। लोकगीतकार गीत निर्माण के समय केवल भाव-प्रेरणा से उद्वेलित होता है भाषा, छन्द अलंकार पर उसका किंचित्

---

1. विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन।
   काले च ग्रहण त्यागौ न तिनिर्वहणैषिता॥
   निर्व्यूढावपि चांगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
   रूपकादेरलंकार वर्गस्यांगत्व साधनम्॥ —ध्वन्यालोक। २/१८-१९

2. वाच्य वाचक लक्षणान्यंगानि ये पुन (अवलम्बन्ते) तदाश्रितास्तेऽलंकाराः मन्तव्या, कटकादिवत्।

   —ध्वन्यालोक लोचन २/६

3. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्ग द्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —मम्मट काव्य प्रकाश। ८/१२

4. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
   रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते ऽङ्गदादिवत्॥

   —विश्वनाथ, साहित्यदर्पण। १०/१

भी ध्यान नहीं रहता, जबकि इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। यद्यपि लोकगीतकार एक कवि की भाँति अपने निर्माण के प्रति सजग नहीं होता, तथापि उसकी कृति किसी कवि की कविता से कम मूल्य नहीं रखती। अनुभूति पक्ष की तुलना में वह कविता के समकक्ष गहराई और व्यापकता से युक्त होती है और कलात्मक पक्ष की दृष्टि से भी वह समस्त आवश्यक तत्वों से परिपूर्ण होती है। यही कारण है कि लोक गीतों में अनेक प्रकार के अलकारों की अप्रयासित योजना उपलब्ध होती है।

अब हम लोकगीतों में प्राप्त होने वाले अलकारों का विवेचन करेंगे। लोकगीतों में शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकार के उदाहरण अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं। प्रायः रूपक और उपमा का बाहुल्य दिखाई देता है।

अनुप्रास अलकार—

एक भोजपुरी गीत में वर्णों की स्वरूपगत एवं क्रमिक आवृत्ति से उत्पन्न छेकानुप्रास की छटा द्रष्टव्य है—

मरिच के झारे झुरे धिया मरि जइली,
छूटि जइले नरेकुआ सन्ताप है। (भो० ग्रा० गी० पृ० २७)

अवधी गीत में भी छेकानुप्रास का उदाहरण प्राप्त होता है—

आई बरात दुआरे मां बाजी बाजनन भई झंकार रे।
सब कोऊ निहारे बरतिया बरतिया श्रीवर सन्व ओनाय।
(अ० लो० प० पृ० २००)

अन्यत्र एक भोजपुरी गीत में वर्णों की पुनः-पुनः आवृत्ति के कारण, वृत्यनुप्रास की सुन्दर योजना हुई है—

बंसिया बजाई बस कइले कन्हैया जी। (भो० ग्रा० गी० पृ० ३११)

इसी प्रकार का सौन्दर्य अवधी गीत की इस पंक्ति में प्राप्त होता है—

"बाहर बाजे बधइया, भीतर उठै सोहर।" (क० कौ० पृ० २६४)

अन्त्यानुप्रास का सुन्दर प्रयोग एक भोजपुरी गीत में हुआ है—

झिनमिन बहेला बयार, पवन मतडोलि रही।
डोलै नवसगिया क डार, कोइलिया कुहुकि रही। (क० कौ० पृ० १०२)

अवधी गीत में भी अन्त्यानुप्रास का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है—

अमवा महुलिया घन पेड़, तेही रे बीच राह परी।
रामा तेहि बीच ठाढ़ी एक तिरिया मनै मां बैराग भरी॥
(क० कौ० पृ० १०३)

भोजपुरी गीत की इन पंक्तियों में श्रुत्यनुप्रास की मधुरता मुखरित हो उठी है—

काहे द बंसिया बनवत कन्हैया जी,
छेड़ कइत तु दुइ चार। (भो० ग्रा० गी० पृ० ३१२)

यहाँ बालक शब्द के सहयोग से सामान्य कथन को विशेष कथन के द्वारा पुष्टि की गई है। जैसे गोरसी की आग धीरे-धीरे सुलगती रहती है, वैसे ही संतान-हीन स्त्री का हृदय अभाव की पीड़ा में जलता रहता है।

अवधी गीत में भी उदाहरण अलकार की सुन्दर-योजना प्राप्त होती है—

जैसे कुम्हार क आँवा त भवकि-भवकि रहै।
बेटा बेगइ माई क करेजवा त धधकि-धधकि रहै। (क० कौ० पृ० २५२)

पुत्र के लिये माता के हृदय में चिन्ता की अग्नि उसी प्रकार धधकती रहती है, जैसे कुम्हार का आवा निरन्तर धधकता रहता है।

रूपक अलकार—

रूपक अलकार का प्रयोग भी लोकगीतों में अत्यधिक मात्रा में प्राप्त होता है। सागरूपक का लोकगीतो मे नितान्त अभाव है। सर्वत्र निरंग रूपक ही प्राप्त होते है।

एक भोजपुरी गीत में अपूर्ण आरोप के कारण अपूर्ण सांगरूपक उपलब्ध होता है—

सत सुकीरित के गइलवा परेम केरा लेजुर हो।
ललना पनिया भरऊ झकझोरि माँगि भरि सेनुर हो।

(भो० लो० सा० का अध्ययन पृ० २२७)

यहाँ कुएँ से पानी भरने का रूपक बाधा गया है। सत्य और सुकीर्ति रूपी घडा है, प्रेम रूपी डोर है, स्त्री रूपी पनिहारिन है परन्तु कुआ और जल की स्पष्ट व्याख्या नहीं है। सभवत लोकगीतकार का आशय ससार रूपी कूप से मोक्ष रूपी जल प्राप्त करना है। सम्पूर्ण अवयवो का वर्णन न होने से यह सागरूपक नहीं है।

इसी प्रकार का उदाहरण एक अवधी गीत में भी प्राप्त होता है—

धरमें कइ मोरी नइया रे, सत कइ लगी कड़वारि।
सैंया मोरा नइया खेवइया रे, हम धन उतरब पार॥ (क० कौ० पृ० १६२)

यहाँ नदी से पार उतरने का रूपक बाधा गया है। धर्म रूपी नाव है, सत्य रूपी पतवार है, प्रभु रूपी नाविक है, स्त्री (आत्मा) रूपी यात्री है परन्तु नदी और जल का कोई उल्लेख नहीं किया गया है अत. इसे भी सागरूपक की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

भोजपुरी गीत की एक अन्य पंक्ति में रघुकुल रूपी कमल को प्रस्फुटित करने वाले राम रूपी सूर्य का उल्लेख हुआ है—

'रघुकुल कमल दिनेस उदय लेले हो।' (सगृहीत)

अवधी गीत की निम्नांकित पक्तियो मे अत्यन्त सुन्दर रूपक की अवतारणा हुई है—

ननदी तो ए मइया वन को कोइलिया,
आजु उड़ँ कां तो काल्हि रे।
जेठानी तो ए मइया कारी बदरिया,
छिन बरसे छिन घाम रे॥ (क० कौ० पृ० १५०)

यहाँ वाचक लुप्तोपमा अलकार का आभास होता है। पर वास्तव में यह रूपक है। उपमान के धर्म की प्रधानता होने से रूपक अलंकार होता है। ननद रूपी कोयल एक स्थान पर स्थायी निवास नहीं करती है। उसे एक दिन उड़ जाना होता है। इसी प्रकार जेठानी रूपी बदली कभी बरसती है और कभी शान्त हो जाती है। रूपक के माध्यम से ननद का ससुराल जाना और जेठानी का कभी-कभी क्रुद्ध होना बड़ी सुन्दरता से व्यक्त हुआ है।

विभावना अलकार—

भोजपुरी के एक गीत मे विभावना अलकार का प्रयोग प्राप्त होता है—

असाढ मास बड़ बरसत मेह, परते फफोरा सगरे देह।
विरह तन जरने लगले लूक, बरखा के फुहिया देते तन फूक॥
(भो० लो० क० र० पृ० ३२२)

यहाँ विपरीत कारण द्वारा कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है। अत. पंचम विभावना है। वियोगिनी नायिका के शरीर पर वर्षा की बूँदें गिर कर फफोले उत्पन्न कर देती हैं।

अवधी गीत की एक पंक्ति मे प्रथम विभावना का स्वरूप प्रकट हुआ है—

'छोटी मोटी दुहनी दुधं के. बिना रे अगिनि वाफ लेइ।'
(क० कौ० पृ० ८८)

कारण के अभाव मे कार्य सिद्ध होने का वर्णन किया गया है। दूध के पात्र में से अग्नि के बिना वाष्प निकल रही है।

अवधी के एक अन्य गीत मे रूपक एवं विभावना का एक साथ प्रयोग उपलब्ध होता है—

मन तोरा अदहन तन तोर चाउर, नयना मूंग कै दाल।
अपने बलम के जेवना जेवतिउ, बिनु लकड़ी बिनु आग॥
(क० कौ० पृ० २०)

प्रथम पंक्ति मे खिचड़ी का रूपक बाधा गया है एव द्वितीय पंक्ति मे प्रथम विभावना अलकार है। मन रूपी अदहन मे तन रूपी चावल और नेत्र रूपी दाल की खिचड़ी स्वतः तय्यार हो जाती है अग्नि एवं ईंधन की आवश्यकता नहीं है।

विशेषोक्ति अलंकार—

भोजपुरी गीत की प्रस्तुत पंक्तियों मे विशेषोक्ति अलकार का सुन्दर स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है—

एक कोसे गइले दोसर कोसे आंखर
रिमझिम बरसले मेघ महादेव।
महादेव के भीजले जटा से गोरी
गदरा सिरे बूंदे ना पड़े महादेव।

('आज' साप्ताहिक, १० सितम्बर, ६१)

वर्षा होने पर प्रत्येक वस्तु का भीगना कारणानुकूल कार्य है। परन्तु यहाँ वर्षा होने पर भी पार्वती का न भीगना कारण की उपस्थिति में कार्य की असिद्धि है।

अवधी गीत में भी विशेषोक्ति अलंकार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

चारि मंदिल चारि दीप बरें, हमरा अकेल बरइ
रामा मोरे लेखे जग अंधियार, राम मोर बन गये। (क० कौ० पृ० ६८)

दीपक के जलने पर भी अन्धकार दूर न होने में विशेषोक्ति अलंकार है।

सन्देह अलंकार—

एक भोजपुरी गीत में सन्देह अलकार की सुन्दर योजना हुई है—

ककरी के बतिया ए बेटी देवत मुहावन,
ना जानो तीतकि मीठ ए। (भो० लो० गीत पृ० ५८)

अनिश्चियात्मक अनुमान के कारण ककड़ी के मधुर अथवा तिक्त गुण के प्रति संशय का भाव है।

अवधी गीत में भी इस प्रकार का संशय-भाव प्राप्त होता है—

काहे रे अमवा हरियर, ना जानो कौने गुना।
ललना, ना जानों मलिया के सींचे,
त ना जानों खेत गुना। (क० कौ० पृ० १५७)

आम के हरे-भरे वृक्ष को देखकर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वह माली के द्वारा निरन्तर सिंचित होने के कारण हरा-भरा है अथवा भूमि के प्रभाव के कारण। इन पंक्तियों में सन्देह की सुन्दर व्यंजना हुई है।

भ्रान्तिमान अलंकार—

लोकगीतों में भ्रान्तिमान अलंकार अधिक संख्या में नहीं प्राप्त होते। एक भोजपुरी गीत की निम्नांकित पंक्तियों में भ्रान्ति की सुन्दर योजना हुई है—

पिया-पिया कहत पियरि भइली देहिया,
लोगवा कहेला पिंड रोग। (भो० लो० गी० पृ० ४४७)

प्रियतम के वियोग में कोई ग्रामीण नायिका पीली पड़ गई है परन्तु गांव के लोग समझते हैं कि उसे पांडु रोग हो गया है।

एक अवधी गीत में भी इस प्रकार का वर्णन मिलता है—

अंखिया नु तोरी घना आम की फकिया,
देखि लुभाइ रह्यो नक मुगना। (संगृहीत)

किसी स्त्री की आँखों को आम की फांक समझ कर नाक रूपी तोता लोभित होकर बैठा हुआ है। नेत्रों के पास नाक की स्थिति का भ्रान्तियुक्त कारण निर्दिष्ट किया गया है।

अतिशयोक्ति अलंकार—

ग्रामीण जनता दैवी घटनाओं एवं विषयों में विश्वास रखती है। इसलिये उसकी उक्तियों में भी यदाकदा अप्राकृतिकता एवं ऊहात्मकता समाविष्ट हो उठती है। भोजपुरी गीत की एक पंक्ति में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है—

ए जाहु हम जनती ए माई, कवन बड़वा कइहें रे,
बालू के खेत जोतइलों मोतिया उपजइलों रे। (भो० लो० गीत पृ० १७४)

यहाँ पर बालू के खेतों से मोती उत्पन्न करने के वर्णन में सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है। बालू के खेत में मोती उपजाना असम्बन्ध में सम्बन्ध अथवा अयोग्य में योग्यता का निरूपण है।

सम्बन्धातिशयोक्ति का एक उदाहरण अवधी गीत में भी प्राप्त होता है—

गउवा गोड़इवा नयहीं न पायों
दुब्बा झरन लागी मोती हरे राजा बीरन। (क० कौ० पृ० २८०)

यहाँ दूब से मोती झरना भी असम्बन्ध में सम्बन्ध की योजना है।

उत्प्रेक्षा अलंकार—

एक अवधी लोकगीत में उत्प्रेक्षा अलंकार का सुन्दर प्रयोग उपलब्ध होता है—

राम के मथवा झलरिया बहुत निक लागै,
अधिक छवि लागइ।
मानो कमल कर फूल भंवर सिर सुन करै। (क० कौ० पृ० ३०१)

यहाँ राम के माथे पर लटकते हुए घुंघराले बालों को भ्रमर के समान और राम के मुख का कमल के समान मान लिया गया है, अतः वस्तूत्प्रेक्षा है।

व्याजोक्ति अलकार—

अन्यत्र एक अवधी लोकगीत में व्याजोक्ति अलकार का अत्यन्त सुन्दर निरूपण हुआ है—

मैं तोसे पूछौं मैंना ननदिया,
मुहँवा कवन गुन पियरा हो राम।
हरदी पिसत भयूं मैया की महलिया,
वही के लगे से मुंह पियरा हो राम। (क० कौ० पृ० ५१९)

इस गीत में एक भाभी अपनी ननद से उसके पीले मुख का कारण पूछती है। ननद वास्तविक कारण को छिपा कर बहाना बना कर भाभी को आश्वस्त करती है। वास्तव में उसके मुख के पीलेपन का कारण उसका गर्भवती होना था।

अन्योक्ति अलंकार—

भोजपुरी गीत में उपलब्ध अन्योक्ति अलंकार का एक उदाहरण बहुत सुन्दर है—

सूतल सुगवा जगावेली कोइलिया,
चल सुगवा मोरे गाव ।
तोहरा देसवा न आम के अडिलिया ।
हमरा देसवा लखराव । (भो० ग्रा० गी० पृ० ३२६)

यहाँ 'सुगवा' शब्द में पति का एवं कोयल शब्द से सौत का अभिप्राय निहित है। कोई स्त्री अपनी सौत के द्वारा पति को प्रलुब्ध किये जाने का वर्णन कर रही है। यहां अन्योक्ति की योजना है।

यद्यपि लोकगीतों के अज्ञात रचयिताओं में अलंकार-विषयक ज्ञान का पूर्णतः अभाव था, फिर भी उनकी सहज उक्तियां अनायास ही आलंकारिक सौन्दर्य से अभिभूत हो उठी हैं।

लोकगीतों में छन्द विधान

सामान्यतः अभिव्यक्ति के दो रूप हैं, गद्यात्मक एवं पद्यात्मक। गद्य सर्वदा वर्ण—मात्रा, यति और गति के नियमों से मुक्त होता है, जबकि पद्य में प्रत्येक शब्द-योजना निर्दिष्ट नियमों के अनुसार होती है। यही नियमित शब्द-योजना छन्द कहलाती है।

सम्पूर्ण सृष्टि छन्दोमयी है। प्रकृति का प्रत्येक कण एक नियमित गति में बँधा हुआ है। समस्त नक्षत्र-मण्डल, दिवा-निशा एवं ऋतुओं का व्यापार एक सुनिश्चित लय में समाविष्ट है जो समय में ताल पर यति लेती हुई निरन्तर गतिशील रहता है। विश्व की समस्त कलायें इसी नियम व्यवस्था और तात्विक सामंजस्य पर आधारित हैं।

सृष्टि के रस छन्द-स्पन्दन युक्त आवेग की प्रथम मानवाभिव्यक्ति कविता और संगीत के रूप में ही हुई होगी। कविता और संगीत के मूल स्वरूप का विश्लेषण करने पर दोनों की एकात्म स्थिति का आभास मिलता है। मनुष्य के मुख से निस्सृत प्रथम लयात्मक वाणी में कविता और संगीत का उत्स सन्निहित है। कालान्तर में जीवन का क्षेत्र ज्यों-ज्यों जटिल होता गया, दोनों कलायें अपने पृथक् पृथक् रूपों में पृथक्-पृथक् मार्गों पर पृथक्-पृथक् नियमानुमानों में नियंत्रित होकर विकसित होती रहीं।

कविता के क्षेत्र में छन्दयोजना अत्यन्त प्राचीन है। युग एवं प्रवृत्तियों के अनुसार छन्दों का उत्थान-पतन होता है। नये छन्दों का आविर्भाव और प्राचीन छन्दों का तिरोभाव कवि की रुचि एवं सामर्थ्य पर निर्भर रहता है। भावनायें अपने अनुकूल प्रवाह एवं यति खोजती हैं। उग्र भावों की अभिव्यक्ति प्रवाहपूर्ण तथा बलशाली छन्दों में और दीन तथा करुण भावों की अभिव्यक्ति मन्दगामी छन्दों में सुन्दर होती है। छन्दों के माध्यम से कवि की मनोदशा व्यंजित होती है। छन्दों का चयन कवि-कुशलता का परिचायक होता है।

छन्द का एक अर्थ है—आह्लादन। जो आह्लादित करे वह छन्द है।[1] काव्य में आह्लादमयी सम्मोहिनी शक्ति का उद्‌भावक छन्द है। छन्दों के अभाव में काव्य रस-माधुर्य हीन हो जाता है। नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरतमुनि के अनुसार सम्पूर्ण वाङ्‌मय छन्द युक्त है।[2] छान्दोग्य उपनिषद् में छन्द शब्द के अर्थ प्रयोजना, सामर्थ्य एवं महत्व का सूचक एक प्रसंग है जिसमें मृत्यु से भयभीत देवताओं के द्वारा त्रयी विद्या (वेद) में प्रविष्ट होकर स्वयं को छन्दों से आच्छादित कर लेने का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] आच्छादन में सक्षम होने के कारण छन्दों को 'छन्द' कहा गया। इसी प्रकार ऋग्वेद के भाष्य में सायण ने छन्दों की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि कलाकार और कृति को छन्द अपमृत्यु से बचा लेते हैं।[4] छन्दों में काव्य का अमरत्व निहित रहता है। कविता की मुख्य विशेषता है, स्मरणीयता जिसकी रक्षा का सहायक तत्व छन्द है।[5] कविता का पूर्ण सौन्दर्य छन्द के लयात्मक पाठ में है। नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता छन्द-शक्ति पर ही निर्भर है। 'जिस प्रकार पतंग डोर के लघु-गुरु संकेतों की सहायता से और भी ऊंची उड़ती जाती है उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इंगितों के द्रुत तथा प्रवाहित होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनन्त की ओर अग्रसर हो जाता है।[6] जिस प्रकार एक सरिता को सुनिश्चित एवं सुव्यवस्थित प्रवाह के लिये पुलिनों का बन्धन आवश्यक है, उसी प्रकार कविता की कोमलता, सरसता एवं सजीवता की रक्षा हेतु छन्दों का नियंत्रण अनिवार्य है। छन्द बद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौह चूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र (Magnetic Field) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता, उनमें राग की विद्युत धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।[7]

विद्वान विचारकों का एक समुदाय जहाँ कविता और छन्द के सम्बन्ध की अनिवार्यता पर विश्वास करता है वहाँ दूसरा समुदाय उसे भ्रमपूर्ण एवं मिथ्या मान कर उसका खंडन करता है।

---

1. डा० हरिशंकर शर्मा, 'छन्द विज्ञान की व्यापकता' पृ० २
2. 'छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्द वर्जितम्।'

—नाट्यशास्त्र १४/४५

3. 'देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयी विद्यां प्राविशंस्ते (प्राविशन् ते)
छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयं छस्तच्छदसां छन्दस्त्वम्।

—छान्दोग्य उपनिषद १/४/२

4. सरस्वती-संवाद (काव्यशास्त्र अंक, जुलाई १९६०) में प्रो० ओंकार प्रसाद माहेश्वरी के काव्य में छन्द का प्रयोग' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत।
5. डा० भगीरथ मिश्र हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ४१२
6. सुमित्रानन्दन पंत गद्यपथ (पल्लव की भूमिका) पृ ३०
7. वही, पृ० २८

पद्य के परम्परागत नियम स्वतन्त्र भावाभिव्यक्ति के लिये अनावश्यक बेड़ियों के समान माने गये जो कवि-हृदय को जकड़ कर उसे स्वाभाविक भाव-पथ पर जाने से रोकती है।[1] प्रगतिशील चिन्तकों ने युग-युग की छन्द बाधित कविता के उद्धार की चेष्टा करते हुए कहा—"मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है।[2]

यह सत्य है कि कभी-कभी अनुरूप छन्दों के अभाव में भावनाओं का वेग निर्बन्ध होकर निर्धारित सीमा का अतिक्रमण कर देता है और छन्द मुक्त काव्य की सृष्टि होती है। भाव-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से छन्दों की अनिवार्यता का विरोध अपेक्षित-सा है। यही कारण है कि लोकगीतों में, जहां भाव एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता ही प्रधान है, छन्दों का कोई अनिवार्य बन्धन नहीं रहता। हृदय की सहज भाव-धारा वाणी के स्वाभाविक पथ पर मुक्त रूप से विचरण करती है। उसका स्वच्छन्द प्रवाह नियमों के बाध में बँधकर नहीं चलता। इसीलिए कविता में छन्दों का जो शासन दिखाई देता है वह लोकगीतों में नहीं। कविता का फूल कृत्रिम उद्यान की क्यारियों में प्रकाश एवं वायु का आवश्यकतानुकूल नियमित खाद्य देकर खिलाया जाता है, जबकि लोकगीत वन्य कुसुम की भांति वर्षा के विपुल जल, सूर्य के अपरिमित प्रकाश और समीर के स्वच्छन्द झकोरों के मध्य खिलता है।

लोकगीतों में छन्दों के निश्चित विधान का अभाव है। कहीं-कहीं छन्दों का समावेश लक्षित भी होता है तो वहां नियमों की शिथिलता रहती है। लोकगीतों में कुछ ऐसे छन्दों का प्रयोग प्राप्त होता है जो वर्णिक एवं मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत नहीं आते। केवल लय पर आश्रित होकर चलते हैं। इस प्रकार के छन्दों में सोहर, झूमर, बिरहा, जतसार आदि की गणना की जाती है।

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत भाव-व्यंजना और छन्द में एक सामंजस्य पाया जाता है। इसीलिये प्रत्येक भाव के चित्रण में विशेष छन्द का प्रयोग प्राप्त होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक विचार करते हुए इस बात पर प्रकाश डाला है कि छन्द का प्रयोग किस भाव या रस के प्रकरण में उचित और सफल है। उदाहरणार्थ अनुष्टुप छन्द ज्ञानादि का उपदेश देने के लिए, वसन्ततिलका वीर तथा रौद्ररस के लिये, मन्दाक्रान्ता वर्षा तथा वियोग व्यथादि के लिए, शार्दूल-विक्रीडित शौर्य वर्णन के लिये विशेष उपयुक्त हैं। सरस भावों के लिये शुष्क छन्द तथा शुष्क भावों के लिए सरस छन्द अनुपयुक्त होते हैं।[3] हिन्दी साहित्य में भी विशिष्ट विषयों के लिए विशिष्ट छन्दों का उपयोग लक्षित होता है। हिन्दी में रोला, दोहा, छप्पय, कवित्त और सवैया आदि छन्दों का प्रयोग प्रत्येक काल में होता रहा है। शृंगार परक वर्णनों में कवित्त और सवैया का अधिक प्रयोग प्राप्त होता है।

---

1. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रंजन, पृ० ३८
2. निराला परिमल, भूमिका, पृ० ६
3. क्षेमेन्द्र : सुवृत्ततिलक, तीसरा विन्यास।

लोकगीतों में भी भाव व्यंजना एवं छन्दों के सामंजस्य का प्रयास दिखाई देता है। ये छन्द मुख्य रूप से ताल और लय पर आधारित होते हैं। ग्रामीण स्त्रियाँ स्वरों के आरोह-अवरोह द्वारा, विशेष प्रकार की लय का निर्माण करके इस ढंग से गीतों का गायन करती हैं कि कहीं भी गति-भंग या गति-रोध नहीं दिखाई देता।

शिशु-जन्म सम्बन्धी समस्त गीत सोहर छन्द में गाए जाते हैं। सोहर गीतों की अपनी विशेष लय होती है। किन्तु वह सर्वत्र एकसी ही नहीं रहती, परम्परा एवं प्रचलन के अनुसार वह भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है।

भोजपुरी सोहर के उदाहरण प्रस्तुत हैं, जिनमें ताल एवं लय की समानता लक्षित होती है—

कावाना नछलरे केसवा खोलली, काहाँवा नहइली नु रे।
कावाना नछलरे सेजिया डसलों, कन्हैया फलना पहली नु रे।

(भो० लो० गी० पृ० १०८)

× × ×

साभवा बइठल राजा दसरथ चेरिया अरज करे ए।
राजा रउरा घरनी बेआकुल, रउरा के चाहेले ए।

(भो० लो० गी० पृ० १०८)

इसी प्रकार अवधी के सोहर-गीतों में भी विशिष्ट लयात्मकता दिखाई देती है—

नजर कई मालल बड़इया, पलगरीआ ढीली सालइ,
पलगारी ढीली सालइ रे।
हे हो निदिया के मलत बहुरिया, ओवरिया लै विछावइ,
ओवरिया लै विछावइ रे। (क० कौ० पृ० २१२)

× × ×

कोप भवन राजा दसरथ सुरज मनाई,
आदित मनावइं हो।
आदित आजु तु भोर मति होहु त राम मोर न जागे,
त राम मोर जागें न हो। (क० कौ० पृ० २२१)

उत्साह और उल्लास से पूर्ण जीवनानुभूतियों के वर्णन में झूमर का प्रयोग पाया जाता है। उसकी प्रत्येक पंक्ति छोटी होती है और लय सुन्दर तथा सरस होती है। स्त्रियाँ इसे द्रुतगति से गाती हैं—

झारि लेली केसिया सँवारि लेली झभिया, से टोकि लेली ना।
ओहि सुन्नर सेनुरवा से टोकि लेली ना।

(भो० ग्रा० गी० पृ० १६८)

× × ×

मे झुर झुर ना फागुन बहेले बयरिया से झुर झुर ना।
अपना अटरिया प सूते वारी धनिया से झुर झुर ना,
फागुन बहेले बयरिया से झुर झुर ना।

(भो० लो० मे क० रस पृ० २३२)

इसी प्रकार जीवन के गंभीर पक्ष की अभिव्यक्ति के लिए अथवा हृदय के मार्मिक भावों की व्यंजना के लिए लम्बे-लम्बे छन्दों की आवश्यकता होती है। जतसार और निर्गुण गीतों मे इस प्रकार के करुण एवं गंभीर भावों का प्रकाशन प्राप्त होता है।

जात के गीत बहुत लम्बे होते हैं और जीवन का एक पूर्ण अंग इन गीतों का वर्ण्य-विषय बन कर आता है। इनमें करुणा का अविच्छिन्न स्रोत प्रवाहित होता है—

मोरे पीछवारावा रे सीरिसिया[1] हहर महर करे ए राम।
नोरिसि पात हहरे महरे त नीनियाँ ना आवेला ए राम।

(भो० लो० गी० पृ० २८३)

संसार के प्रति अनासक्ति एवं विराग का भाव निर्गुण छन्दों मे प्रकट होता है।

अवधी के एक निर्गुण गीत मे भी सांसारिक बन्धनों के प्रति उदासीनता व्यक्त की गई है—

जाग भीतर यक नदी बहत है, लख चौरासी धारा।
धरमी-धरमी पार उतरिगे, पापी बूड़े मझधारा।

(गो० रा० पृ० १ ८)

साहस और वीरता के उदात्त भावों के प्रकाशन के लिये वीर या आल्ह छन्द का प्रयोग होता है। इस छन्द मे प्रायः श्रुति कटु वर्णों का उपयोग किया जाता है। इस छन्द का गायन द्रुत गति से होता है।

अवधी बोली मे उपलब्ध एक बिरहा मे भी विरह की वेदना निरूपित है—

विरहा गावउँ बाघ की नाई दल बादल घहराय।
मुनि के गोरिया उचकि उठि धावै विरहा का सबद ओनाय।

(क० कौ० पृ० ७५७)

लोकगीतों मे उपलब्ध छन्दों का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। एक ही छन्द के अनेक रूप दिखाई देते हैं। यही कारण है कि लोकगीतों में छन्दों का कोई शास्त्रीय विधान नहीं माना जा सकता।

---

1. सिरीष।

लोकगीतों में स्वाभाविकता और मार्मिकता

लोकगीतों में सामान्य जन मरलतम जीवन की हर्षावसादमयी अनुभूतियों की जो स्वाभाविक एवं मार्मिक व्यंजना प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अभिव्यक्ति जितनी सीधी और स्वाभाविक होगी हृदय पर उसका प्रभाव उतना ही मार्मिक और शाश्वत होगा। अनुभूति और अभिव्यक्ति की एकरूपता लोकगीतो का प्रधान तत्व है जो प्रत्येक सवेदनशील व्यक्ति को, बिना किसी मानसिक तर्क-वितर्क मे उलझाये रसोद्बोध की चरम स्थिति तक पहुँचा देती है।

लोकवाणी से उद्भूत गीतों का एक-एक शब्द ग्रामीण जीवन की व्यापकता में डूबा हुआ, उसके विभिन्न पहलुओं का सजीव चित्रांकन करता है। नित्यप्रति के जीवन मे घटित प्रत्येक घटना, प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक भाव-व्यापार लोकगीतो के माध्यम से अपने स्वरूप का विस्तार पाता है। सत्य की निर्भीक अभिव्यक्ति के द्वारा लोकगीतों मे जिस सृजनात्मक सौन्दर्य का प्रस्फुरण होता है उसमें सम्पूर्ण लोक के प्रति सामान्य जन के मन की मंगलमयी कामना व्यक्त हुई है। पीडाओं और प्रताड़नाओं से कराहती हुई तथा अनाचार और शोषण से तड़पती हुई, मानव-भावनाएँ जहाँ एक ओर परिस्थिति और प्रारब्ध की कठोरता निर्देशित करती हैं, वही दूसरी ओर परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का स्वर उत्पन्न करती हैं। पलायनवादी प्रवृत्तियो की सर्वथा निन्दा करते हुए चिरन्तन सत्यो पर आरूढ़ रह कर सघर्षों के प्रति जागरूक रहना ही लोकगीतो मे निहित आत्म-साधना है।

भोजपुरी और अवधी लोकगीतो मे भी स्वाभाविक भाव-व्यंजना द्वारा मर्मस्पर्शी प्रभाव की उपलब्धि होती है। जीवन का सुख-दुख इन गीतो मे अपनी सम्पूर्ण सवेदना के साथ अवतीर्ण हुआ है। जहाँ भावनाओ की तीव्रता अभिव्यक्ति की सहजता के साथ अनुबद्ध होकर अपूर्व सौन्दर्य का सृजन करती है। विषाद और प्रसाद के ताने-बाने मे गुँथी हुई विरह-मिलन की अनुभूतियाँ प्रत्येक सहृदय को अपनी आकर्षक गहराइयों में समेट कर रस-निमग्न कर देती है। मानव-जीवन मे उत्पन्न सुख-दुख की लहरो में हर्ष की अपेक्षा अवसाद का स्वर अधिक तीव्र होता है। लोकगीतो मे भी वेदना के जल से भीने, तरल और कोमल भावो का स्पन्दन मन को अपरिमित करुणा से भर देता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो लोकगीत के अज्ञात रचयिताओं ने जगत के कोने-कोने मे बिखरे अवसाद का कण-कण सहेज कर अपनी वाणी का रूप संवारा है।

सतान की कामना मे व्याकुल एक वध्या स्त्री की मनोवेदना का मर्मस्पर्शी चित्रण भोजपुरी गीत की निम्नांकित पक्तियो मे द्रष्टव्य है—

> नइहरे ना बाटे बीरन भइया, ससुरे ना देवर हो
> राजा मोरे गोदिया न जनमत बलकवा, (भो० लो० में क० र० पृ० २३)

इस गीत मे अतृप्त पुत्राकाक्षा को कितनी मार्मिक व्यंजना हुई है। स्त्री जीवन का चरम उत्कर्ष मातृत्व की उपलब्धि मे निहित है। मातृत्वगौरव मे वंचिता स्त्री अपनी आकाक्षाओ की तृप्ति का कोई आधार नही पाती। छोटे भाई अथवा देवर को पुत्रवत मान कर अपनी लालसाओं को संयत किया जा सकता है। पर

जिस स्त्री का कोई भाई नहीं है, कोई देवर नहीं है और जिसकी गोद भी सूनी है, उसकी लालसाओं के परिताप का क्या आधार है। यहां 'अहक' (मनोकामना) शब्द में हृदय की सम्पूर्ण जिज्ञासा, उत्सुकता और आकुलता समाई हुई है।

बन्ध्यत्व का अभिशाप नारी-हृदय को विक्षिप्त कर देता है। वेदना और निराशा से प्रताडित कोमल भावनाएं मन का उन्माद बन कर प्रकट होने लगती हैं। अपने विफल मातृत्व को बहलाने के लिए अवधी गीत की एक नायिका काष्ठ का बालक तैयार करवाती है—

> मारे पिछुवरवा बढ़इया बेगि हो चलि आवहु हो
> बढ़ई गढ़ि देहु काठे क बलकवा मैं जियरा बुझावउं
> मन ससुझावउं हो।

(क० कौ० पृ० १७७)

नारी-हृदय में उत्पन्न संतति की प्रबल कामना का अत्यधिक करुण चित्रण है। गीत के एक-एक शब्द में आन्तरिक पीड़ा की सहज अभिव्यक्ति है।

लोकगीतकार अपने हृदय में अखिल विश्व की संवेदनाएं समेट कर चलता है। राम और कृष्ण प्रभृति देव-चरित्रों को भी वह मानवीय भावभूमि पर लाकर अपनी भावनाओं में समाहित कर लेता है। राम की जीवन-गाथा के समस्त मार्मिक स्थल लोक-गायक की वाणी में गुंथे हुए हैं। एक-एक घटना का वर्णन जिस स्वाभाविकता के साथ हुआ है वह साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

माता की ममता का कसकता हुआ स्वरूप भी लोकगीतों के रचयिताओं की दृष्टि से छूटा नहीं। स्नेह की विवशता पूर्ण चीत्कारों से आच्छादित माता कौशल्या के हृदय का अत्यन्त यथार्थ चित्रण इस गीत में हुआ है—

> जौने राम दुधवा पियायउं घिऊ सेनि अवटेउं,
> अरे मोरा मिनरा ते विहरै करेजवा, मैं कैसे बन मारउं।
> राम तो मारे करेजवा लखन मोरी पुतरिव
> अरे रामा सीता रानी हाथे क चुरिया मैं कैसे बन मारउं।

(क० कौ०) पृ० ६४-६५

प्राणाधिक प्रिय पुत्र का वियोग एक माता के लिये कठोर यन्त्रणा के समान है। जो पुत्र हृदय का रक्त देकर पाला जाता है उसे अपने अस्तित्व से पृथक् करते हुए असह्य कष्ट की अनुभूति हो रही है। राम को वनगमन की आज्ञा देते हुए कौशल्या का हृदय विदीर्ण हो रहा है। राम में उनके प्राण लक्ष्मण में आंखों की ज्योति और सीता में उनके सौभाग्य की छाया है। तीनों के वियोग से उत्पन्न दुर्भाग्य एवं विनाश की आशंका से उनका हृदय प्रकम्पित हो रहा है।

लोकगीतों में सीता का चरित्र साक्षात करुणा का रूप धारण कर अवतरित होता है। सीता के निष्कासन की पृष्ठभूमि में वेदना की जो गहनता है वह लोकगीतकार की संवेदनशीलता से स्पर्शित हो कर अत्यधिक मार्मिक हो उठी है।

भोजपुरी लोकगीतों में सीता के सतप्त मनोरम पीड़ित अहं और कुंठित मान की प्रतिक्रियात्मक स्थितियों का जो मनोवैज्ञानिक चित्रण प्राप्त होता है वह अपूर्व एवं अनुपम है। एक पति-परित्यक्ता लांछिता और अपमानिता नारी के दुःख स्वाभिमान और क्षोभ की व्यथा को लेकर न जाने कितने हृदयों की सहानुभूति स्वरबद्ध होकर साकार हो उठी है। (भो० लो० गी० में करुण रस पृ० ३४)

राम के प्रति रोष के कारण सीता अयोध्या जाना अस्वीकार कर देती है, किन्तु गुरु के आदेश की अवहेलना न हो, इसलिए वे अयोध्या की दिशा में दो कदम चलती है और पुनः लौट आती हैं। मन की समस्त भाव-स्थितियों की कितनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है।

अन्त में राम स्वयं सीता को मनाने के लिये जाने का साहस करते हैं—

अगवै कपि क मडुलिया राम नियरानेनि।
रामा छापक पेड़ कदम केर लगल सुहावन॥
तेहि तर बैठी सिलल रानी केसियन झुरवइं।
पछुवां पलटि, जब चितवइं राम जी ठाड़े॥
रानी छाड़ि देहु जियरा विरोध अजोधिया बसावउ
सीता तोरे बिन जग अंधियार त जियना अकारथ॥
सीता अंखिया में भरली वियोग एकटक देखिनि।
सीता धरती में गई समाइ कुछो नाहीं बोलिन॥ (क० कौ०) पृ० २६५

एक वृक्ष के नीचे बैठी सीता अपने केशों को सुलझा रही है कि राम उसके पीछे जाकर खड़े हो जाते हैं। जैसे ही सीता पीछे घूम कर देखती हैं, राम उनसे अयोध्या लौट चलने का कातरतापूर्ण अनुरोध करते हैं। अपराध की भावना से पीड़ित लज्जा और ग्लानि से उद्वेलित, विनय और करुणा से प्रवनत राम को—अपने स्वामी को—सम्मुख खड़ा देख कर सीता स्तब्ध सी रह जाती हैं; क्षण भर में उनका सम्पूर्ण रोष, समस्त आक्रोश मूक और कुंठित हो जाता है। वह कुछ बोल नहीं पाती, कुछ कह नहीं पाती। युग-युग की संचित वेदना, कष्ट और उपालम्भ का एक स्वर भी उनकी वाणी से नहीं निकलता। हृदय की सम्पूर्ण पीड़ा को अपनी आंखों में समेट कर वह एकटक राम को देखती रहती हैं, पूर्णतः मौन और निःशब्द होकर, और फिर धरती में समा जाती हैं।

सीता का इतना करुण, इतना प्रभावपूर्ण, इतना मार्मिक अन्त अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

पशु-पक्षी भी अपने सुख-दुख के प्रति लोकगीतों में सहृदय गायकों की सहानुभूति को प्राप्त कर लेते हैं। मानवेतर पदार्थों एवं जीवों की स्थितियों का निरूपण लोकगीतों में बड़ी सफलता से हुआ है।

एक भोजपुरी गीत में हरिण की प्राण-रक्षा के लिए हरिणी की तत्परता एवं वाग्विदग्धता का मनोरम चित्रण प्राप्त होता है—

दसरथ अंगिया लगवले, लखन आइ ढुकले हो।
पियारो रघुबर धनिया गरभ से हरिना मरवावेली हो॥

कर जोरि हरिणी अरज करे, सुनीना क मिला रानी हो।
रानी सीता के होईहैं नन्दलाल हमहि कछु दीहबि हो॥
सोनवा मढ़इबो टुनो सिंघिया भोजनवा तिल चाउर हो।
हरिनी भुगतहु अजोधेया के राज अभय बनि विचरहु हो॥

(भो० लो० में क० रस पृ० २५)

सीता के संतान होने की प्रसन्नता में राजा दशरथ मृग का शिकार करवाना [illegible] प्राप्त कर लेती है। [illegible] करने की चेष्टा में [illegible] है।

असहाय हरिणी अपने हरिण के प्राणों की रक्षा नहीं कर पाई। राम-जन्म के हर्षमय अवसर पर विषाद का उपहार देकर उसका सर्वस्व छीन लिया गया। दशरथ के राजमहल में रसोई के अन्दर हिरण का मांस पक रहा है और हरिणी कौसल्या रानी से अपने हरिण की खाल माँग लौटा देने का अनुरोध कर रही है। हरिण के अभाव में उसकी खाल देखकर ही वह अपने हृदय को आश्वस्त करने की चेष्टा करेगी। एक पशु-हृदय में शोक और संताप की कितनी गहरी संवेदना निरूपित की गई है। किन्तु वह मर्मान्तिक संवेदना रानी कौशल्या के कठोर हृदय को नहीं छू पाती है। हरिण की खाल में राम के लिए खजड़ी मढ़वाने का निश्चय करके वे उस दु:खी-व्यथित हरिणी को निराश लौटा देती है। जब वह खजड़ी बजती है, तब उसका शब्द सुनकर हरिणी पीड़ा से सिहर उठती है और ढाक के वृक्ष के नीचे खड़ी होकर अपने हरिण की स्मृति में करुण विलाप करती है। (क.गी.पृ २१७)

इस मार्मिक गीत में वैधव्य-संतप्त हरिणी के शोक की व्यंजना के लिये लोक-भाषा के जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, उसकी शक्ति लालित्य और प्रभाव की विवेचना करना अत्यन्त कठिन है। 'सबद सुनि अनकहे' और 'हरिन के बिसूरई' में वेदना और करुणा की अथाह शक्ति सन्नाहित है।

कन्या के विवाह से सम्बन्धित लोकगीतों में भी अत्यन्त स्वाभाविक एवं मार्मिक भावाभिव्यक्ति लक्षित होती है। हिन्दू समाज में कन्या का विवाह एक करुण समस्या के रूप में वर्तमान है। कठिन दहेज-प्रथा की शृंखलाओं में जकड़े माता-पिता को अपनी लाड़-दुलार में पली कन्या के लिये सुयोग्य घर और वर खोजने में अथक परिश्रम करना पड़ता है। कन्या का विवाह, परिश्रम, कष्ट और त्याग की करुणानुभूति में बंधा एक कठिन व्यापार है, जिसका यथार्थ चित्रण लोक-गीतों में उपलब्ध होता है। कन्या के विवाह में 'कन्यादान' और 'विदा' के अवसर सर्वाधिक मार्मिक स्थल हैं।

कन्यादान की करुण वेला में उत्पन्न वेदना की एक तीव्र लहर सम्पूर्ण वातावरण को किस प्रकार प्रकम्पित कर देती है, इसका हृदयद्रावक वर्णन एक भोजपुरी गीत में प्रस्तुत है—

अक्षत कांपेला चन्नन कांपेला,
कांपेला कुसवा के डाढ़ि बिटिया।

बीच महुआ बाबा मोर कापी ले,
जाक बइठबले आपन बिदिया ।। (भो० लो० में क० र०) पृ० ३७२

कन्या के दान में निहित वेदनानुभूति की जो गहनता और व्यापकता उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त हो रही है, वह अत्यन्त दुर्लभ है।

इसी प्रकार लोकगीतों में कन्या की विदा के जो भावमय चित्र प्राप्त होते हैं, उसकी समता नहीं की जा सकती। इन चित्रों में परिस्थितियों की यथार्थता अपने सहज-स्वाभाविक रूप में अंकित हुई है। कन्या के विलाप और असहाय माता-पिता के सन्ताप से युक्त आसुओं की सरिता, पीड़ा के पुलिनों को डुबोती हुई इन गीतों के शब्द-शब्द से फूट पड़ी है।

समस्त लोकगीत नारी-जीवन की सफलताओं और विफलताओं के मुखरित चित्र हैं। नारी की सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवृत्तियों, संवेदनाओं और कामनाओं के विविध रंगों से इन चित्रों का स्वरूप संवारा गया है। अनुभूतियां जितनी तीव्र हैं, भावुक कलाकार का कौशल उतना ही सफल चित्रण कर सका है।

एक पत्नी की, अपने पति के प्रति, एकनिष्ठ प्रेम और भक्ति समन्वित भावनायें व्यक्त हुई हैं। श्रद्धामयी सेवा के द्वारा पति का सामीप्य मात्र पाने की यह साध कितनी पुनीत और सात्विक है। (भो० लो० गी० में क० र० पृ० १२१)

सरोवर की मछली बन कर स्नान करते हुए पति के चरणों को छूना लेने की आकांक्षा और दासी बनकर स्वामी की शय्या संवारते रहने की अभिलाषा नारी-हृदय के प्रेममय उत्कर्ष को परिचायिका है। (वही, पृ० १२१)

एक स्त्री के लिये पति का महत्व संसार के समस्त वैभव से अधिक है। पति ही उसके प्राणों का पुलक, नेत्रों का प्रकाश और हृदय का धन है। उसकी हर उमंग में उत्साह की हर तरंग में उस प्रेम मय प्रियतम के प्रति एक मूक समर्पण का भाव विद्यमान रहता है।

एक गीत में पति-वियोग से आकुल स्त्री की मर्म-व्यथा अभिव्यंजित हो उठी है—

अंगना मोरे लेखे कुंअवन, घरवा में केकरे सियार।
सेजिया पे लोटे काली नागिन, जेहि देखि जियरा डेराय।
बिना रे सोना कस अभरन, मोती बिना कइसी सिंगार।
बिना रे मयरिया भैसन नइहर, पिया बिनु कइसी ससुरार।।

(क० कौ०) पृ० ३०६

पति के अभाव में एकाकिनी वियोगिनी के सम्मुख सर्वत्र एक कठोर रिक्तता छाई है, जो उसके हृदय में प्रविष्ट हो कर सुखद कामनाओं और सुन्दर स्वप्नों का संहार कर रही है। वियोगिनी की पीड़ा और अन्तर्वेदना का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है।

और अन्त में

भोजपुरी और अवधी में ही नहीं, अन्य भाषा-उपभाषाओं तथा बोलियों में भी मानव के भावों की अनुभूति एक-से ही रूप में अभिव्यक्त होती है। मन की कोमलता, सहजता और भावनाओं का यह चित्रण देखते ही बनता है।

व्रजभाषा के माखन-मिसरी पुट से पूर्ण खड़ी बोली के गीत भी कम आकर्षक नहीं हैं। कवि एवं गीतकार रामगोपाल परदेसी के गीतों में ऐसी ही भावाभिव्यक्ति हुई है, जो सहज में ही मन को छू लेती है; निम्न पंक्तियों में वेदना-बोझिल भावों का अत्यन्त करुण चित्रण है—

पिया परदेस गये आली
कि मेरी फूट गई तकदीर
न आये पिया तरवर के तीर
बहे आँखों से मेरे नीर अटारी देखूँ जब खाली
पिया परदेस गये आली
आज अन्तर में आकुल प्राण
नहीं मुझको अपनी पहचान
अनेकों हैं उर में अरमान उमरिया मेरी है वाली
पिया परदेस गये आली

फागुन का महीना किसके मन को नहीं रंगता ? इसी महीने में रंग पड़ता है तन पर और रँग जाता है मन भी। संयोग में यह मास कितना मन-भावन है, गीतकार परदेसी जी की भावाभिव्यक्ति इस गीत में देखिए—

सवरिया ! आई रे टोली।
बाजते ढोलक और मृदंग,
भरे पिचकारी में जब रंग,
नाचती धूम छनन टोली,
सवरिया ! आई रे होली।
गुजरिया इतराती जाये
कमरिया लचकाती जाये
चुनरिया लहराती जाये
साधना युग युग की होली,
सवरिया ! आई रे होली।

लेकिन जब प्रियतम पास नहीं है, तब वियोग की उस घड़ी में फागुन में फाग-सा कुछ लगता ही नहीं है—

कुछ भी नहीं फाग-सा लगता।
उमर थक गई गाते गाते
दूर हुए जो पास न आते
रातें लगती हैं मरघट सी हर दिन मुझे आग-सा लगता
कुछ भी नहीं फाग-सा लगता।

गाते-गाते काम करने से काम कितना हल्का हो जाता है, इसे सभी गाकर काम करने वाले जानते हैं। गाँवों में चाकी पीसने का रिवाज है। यह कार्य कम कष्टकर नहीं होता, लेकिन अपने गीत द्वारा परदेसी जी ने इसे कितना सरल कर दिया है—

चाकी, हाँ अलबेली यह चाकी।
गेहूँ डालो मक्का डालो,
कच्चा डालो पक्का डालो,
इसमें रहे न कुछ भी बाकी,
बाकी, हाँ रहे न कुछ भी बाकी,
चाकी, हाँ अलबेली यह चाकी।
घरर घरर घहराकर चाले,
कौर डाल कर बहुअरि हाले,
मन ही मन में खुश हो काकी,
काकी, हाँ खुश हो काकी,
चाकी, हाँ अलबेली यह चाकी।
गुड्डा पीसे गुड़िया पीसे
बुड्ढा पीसे बुढ़िया पीसे
यह सबकी ही साकी।
साकी, हाँ यह सबकी हो साकी,
चाकी, हाँ अलबेली यह चाकी।

परदेसी जी द्वारा प्रणीत वर्षा ऋतु के निम्न दो गीत हृदय को साकार ही कर देते हैं—

घिर घिर आये बदरा रे
नाचे छुन छनन रे तनवा
झूम झूम गाये रे मनवा
उड़ उड़ आये अँचरा रे
काली काली घिरी घटायें
जाने कैसी चली हवायें
बस में आज न जियरा रे
याद किसी की दइया दइया
सीरी सीरी सी पुरवइया
धुल धुल जाये कजरा रे

और भी—

घिर आये बदरा
मेडों पर पहरा कर
सन्नाई पुरवा
पतराये धान देख
गुनी हुई हरवा
अनबोले बोल आज बोल गया जियरा।
फसलें मुस्काई
अकुलाहट जागी
सबको ही स्वय उभर
सोलह की लागी
फहरा लो अंचरा।

निष्कर्ष यह है कि लोकगीतों की परम्परा शाश्वत और सनातन है। इनमें हमारी राष्ट्र तक धरोहर सुरक्षित है और इस दिशा में विभिन्न बोलियों—भाषा-उपभाषाओं के लोकगीतों के अध्ययन, विपुल संग्रह, विवेचन आदि की नितान्त आवश्यकता है।

ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

नाम पुस्तक	लेखक
१. अवधी शब्द कोश	रामाज्ञा द्विवेदी
२. अवधी लोकगीत और परम्परा	प्रो० इन्द्रप्रकाश पाण्डेय
३. अशोक की धर्म लिपियां (प्रधान शिलाभिलेख)	स० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, श्यामसुन्दरदास
४. उत्तर प्रदेश के लोकगीत	सूचना विभाग
५. कविता कौमुदी (भाग ३) द्वितीय संस्करण)	प० रामनरेश त्रिपाठी
६. ग्राम्या	सुमित्रानन्दन पन्त
७ छन्द विज्ञान की व्यापकता	डा० हरिशंकर शर्मा
८. छत्तीसगढ़ी लोकगीत का परिचय	श्यामचरण दुबे
९. जानकी मंगल	तुलसीदास
१०. धूल धूसरित मणियां	सीता बी० ए०, दमयन्ती, एम० ए०
११. नवरस	गुलाबराय
१२. पल्लव	सुमित्रानन्दन पंत
१३. पालि जातक का गीत	बटुकनाथ शर्मा
१४. पार्वती मंगल	तुलसीदास
१५. पृथिवी पुत्र	वासुदेवशरण अग्रवाल
१६. प्राकृत विमर्श	डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल
१७. पुरानी हिन्दी	चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
१८. बुद्ध चरित	रामचन्द्र शुक्ल स० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
१९ बोलचाल	अयोध्यासिंह उपाध्याय
२०. भाषा-विज्ञान	नलिनमोहन सान्याल
२१. भाषा-विज्ञान	भोलानाथ तिवारी
२२. भाषा और समाज	डा० रामविलास शर्मा
२३. भारतीय लोकसाहित्य	श्याम परमार
२४. भारत का भाषा सर्वेक्षण	मू० ग्रियर्सन, स० उदयनारायण तिवारी भाग १, खण्ड १, १९५९
२५. भोजपुरी लोकगीत (भाग १, द्वितीय संस्करण)	सं० कृष्णदेव उपाध्याय
२६. भोजपुरी ग्राम गीत (भाग २)	सं० कृष्णदेव उपाध्याय

२७. भोजपुरी लोकगीत में करुण रस — सं० दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह
२८. भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन — कृष्णदेव उपाध्याय
२९. भोजपुरी लोकसाहित्य एक अध्ययन — वैद्यनाथ सिंह विनोद
३०. भोजपुरी लोकगाथा — सत्यव्रत सिन्हा
३१. भोजपुरी भाषा और साहित्य — उदयनारायण तिवारी
३२. रत्नाकर कोशोत्सव स्मारक संग्रह — सं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
३३. रामचरितमानस — तुलसीदास
३४. रामलला नहछू — तुलसीदास
३५. राजस्थानी कहावत — नरोत्तम स्वामी
३६. राजस्थानी लोकगीत — सूर्यकरण पारीक
३७. लोकसाहित्य की भूमिका — कृष्णदेव उपाध्याय
३८. लोकसाहित्य की भूमिका — सत्यव्रत अवस्थी
३९. लोकरागिनी — सत्यव्रत अवस्थी
४०. लोकसाहित्य-विज्ञान — डा० सत्येंद्र
४१. लोकसाहित्य — झवेरचन्द मेघाणी
४२. लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या — श्रीकृष्णदास
४३. ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन — डा० सत्येन्द्र
४४. विनय पत्रिका — तुलसीदास
४५. सामान्य भाषा विज्ञान — बाबूराम सक्सेना
४६. सोहाग गीत — विद्यावती कोकिल
४७. हमारा ग्राम्य साहित्य (भाग १) — रामनरेश त्रिपाठी
४८. हमारे संस्कार गीत — राजरानी वर्मा
४९. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास — चतुरसेन शास्त्री
५०. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास — डा० उदयनारायण तिवारी
५१. हिन्दी भाषा — श्यामसुन्दर दास
५२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग — नामवरसिंह
५३. हिन्दी भाषा का इतिहास — धीरेन्द्र वर्मा
५४. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (भाग १६) — सं० राहुल सांकृत्यायन, कृष्णदेव उपाध्याय
५५. हिन्दी साहित्य की भूमिका (द्वितीय संस्करण) — हजारीप्रसाद द्विवेदी
५६. हिन्दी साहित्य दर्पण — डा० सत्यव्रत सिंह
५७. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास — डा० भगीरथ मिश्र
५८. हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास — शमशेर सिंह नरूला

संस्कृत

	ग्रन्थ	लेखक
१.	अथर्ववेद	
२	अग्नि पुराण	
३.	अभिनव भारती	अभिनव गुप्त
४.	आश्वलायन गृह्य सूत्र	
५.	उत्तर रामचरित	भवभूति
६.	ऋग्वेद	
७.	ऐतरेयोपनिषद्	
८	ऐतरेय ब्राह्मण	
९.	काव्यप्रकाश	मम्मट
१०.	काव्यालंकार	भामह
११	काव्यालंकार	वामन
१२.	काव्यादर्श	दण्डी
१३.	गाथा सप्तशती	अमरुक
१४.	गीता	
१५.	चन्द्रालोक	जयदेव
१६.	छान्दोग्य उपनिषद	
१७.	जैमनीय उपनिषद ब्राह्मण	
१८.	तैत्तिरीयोपनिषद	
१९.	दशरूपक	धनंजय
२०.	ध्वन्यालोक	आनन्द वर्द्धन
२१.	ध्वन्यालोक लोचन	अभिनव गुप्त
२२.	नाट्यशास्त्र	भरतमुनि
२३	नैषधीय चरित्र	श्री हर्ष
२४.	निरुक्त	
२५.	पारस्कर गृह्य सूत्र	
२६.	वाल्मीकि रामायण	
२७.	भावप्रकाशन	शारदा तनय
२८.	महाभारत	व्यास
२९.	मृच्छकटिक	शूद्रक
३०.	यजुर्वेद	
३१.	रघुवंश	कालिदस
३२.	रसतरंगिणी	भानुदत्त
३३.	रसार्णव सुधाकर	श्री सिंग भूपाल
३४.	विष्णु धर्मोत्तर	
३५.	शतपथ ब्राह्मण	
३६.	शृंगार प्रकाश	राजाभोज
३७.	श्रीमद्भागवत	
३८.	साहित्य दर्पण	विश्वनाथ
३९.	सुवृत्त तिलक	क्षेमेन्द्र

ENGLISH

Name of the book	Writer
1. A Study of orrison Folklore	K. B. Dass
2. An Introduction to Mythology	Lewis Spence
3. An Introduction to Comparative Philology	Late Dr. P. D. Gune
4. Dictionary of Folklore	Maria Leech
5. Elements of Science of Language	I. J S. Tarpriwala
6. Evelution of Awadhi	B. R. Sexena
7. English and Scottish popular Ballads	F. C. Child
8. Folk Songs of the Maical Hills	Dr Varrier Elevn
9. Folk Dictionary	Botkin
10. Folk Literature of Bengal	Dr. D. C. Sen
11. General Anthropology	M. Jacobs and B.J. Sturn
12. India as known Panini	B. S. Agarwal
13. Introduction of American Folklore	Botkin
14. Langnage	Bloome Field
15. Language	Jesperson
16. Language	J. Vendryes Translated by Paul Radin
17. Linguistic survey of India	Griarson
18. Old Ballads	Frank Sidgwick
19. Old English Ballads	F. B. Gummre
20. Psychology and Folklore	R. R. Marett
21. Scientific History of Hindi Languages	S S. Nanila
22. The Poetics of Aristotle	Longinus
23. The Story of Language	Mario Pal
24. The hand book of Folklore	Sophia Burn
25. Louguistic Speculations of the Hindus	P C. Chakravarty
26. The birth of Languages	R. A. Wilson
27. The Origine and Development of the Bengali Language	S. K. Chatterji
28. The Meterials of Folklore	Samual P. Beyard
29. The English Ballad	Dr. Murrey
30. The Golden Bough	Dr. Frazer
31. The English Ballad	R. Graves

JOURNALS

1. Buletin of the School of oriental Studies Vol. I, Part 3,
2. J. A. S B.
3. J R. A. S. Vol. 18,
4. Indian Antiquary Vol. 15, 1885
5. Sensus of Indian, Paper No 1, 1954. (Languages 1951 Sensus)